ब्रह्मविद्या के मोती

उमा शंकर पाण्डेय

ब्रह्मविद्या के मोती

थिऑसोफी के

सभी साधकों को समर्पित

उमा शंकर पाण्डेय

प्रकाशक

इण्डियन बुक शॉप
थिऑसॉफिकल सोसाइटी
कमच्छा
वाराणसी - 221010

प्रथम संस्करण 2024

मुद्रक

क्रिएशन ग्राफ़िक्स
इंदिरा नगर
लखनऊ, उ.प्र. 226016

विषय सूची

आमुख	5
प्रस्तावना	7
गुप्त विद्या (Occult Science)	9
एक जीवन, एक चेतना	29
ईश्वर और देवगण	40
मनुष्य क्या है?	72
ॐ और इसका व्यावहारिक महत्व	94
उपनिषद् के प्रकाश में आत्मा की प्रकृति में अंतर्दृष्टि	111
जीवन का अमृत	136
ध्यान – वैज्ञानिक और व्यावहारिक समझ	168
त्याग का नियम	193
स्व-निषेध से सुख, शान्ति और परिपूर्णता	212
गंध और जीव	224
चक्रों का सिद्धांत	240
धर्मों का चरित्र, उनका बंधुत्त्व तथा तुलनात्मक धर्मों का अध्ययन	264
सामाजिक सेवा – इसका आध्यात्मिक आयाम	278
हम कैसे सोयें?	289

प्रेम - अस्तित्व का आधार, सार, स्वभाव, और लक्ष्य 298

भगवद् गीता की शिक्षाओं में एक अंतर्दृष्टि 319

सात की संख्या 348

थिऑसोफी और विज्ञान 363

प्रार्थना 390

चंद्रमा 408

संदर्भ सूची 428

आमुख

मुझे बंधु उमा शंकर पाण्डेय द्वारा लिखित पुस्तक *ब्रह्मविद्या के मोती* के बारे में जानकर बहुत प्रसन्नता हुई। यह पुस्तक बंधु पाण्डेय द्वारा थिऑसोफिकल साहित्य के गहन अध्ययन और समझ के आधार पर हिंदी में लिखे गए 21 लेखों का संकलन है। यह उनके द्वारा थिऑसोफिकल विषयों पर हिंदी में लिखी दूसरी पुस्तक है, उनकी पहली हिंदी में पुस्तक *थिऑसोफी के आयाम* प्रकाशित हुई है। इसके अलावा उनकी एक अंग्रेजी में लिखी पुस्तक *Theosophical Blooms* भी पहले प्रकाशित हुई है।

हिंदी जानने वाले लोगों के बीच थिऑसोफिकल शिक्षाओं को लोकप्रिय बनाने का यह बंधु पाण्डेय का एक और अत्यंत सराहनीय प्रयास है। इस उद्देश्य को बढ़ाने के लिए पुस्तक का प्रकाशन दि थियोसोफिकल सोसाइटी के भारतीय शाखा, वाराणसी के इण्डियन बुक शॉप द्वारा किया जा रहा है।

बंधु पाण्डेय की लेखन शैली बहुत सरल है। इसे पाठक आसानी से समझ सकते हैं। फिर भी, वह अपने विषय के कवरेज में बहुत गहन सम्पूर्ण हैं। वह थिऑसोफी के बारे में भी बहुत जानकार हैं, जिसका प्रदर्शन उनके थिऑसोफिकल सोसायटी के अंतरराष्ट्रीय वक्ता बनने से होता है। इन गुणों के साथ थिऑसोफी के बारे में लिखने का उनका अपार उत्साह भी जुड़ गया है। इस तरह उन्होंने लोगों में थिऑसोफी के बारे में अधिक जागरूकता पैदा किया तथा थियोसोफी के प्रसार में बहुत बड़ा योगदान किया है। इन गुणों के साथ, इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वह थिऑसोफी पर अत्यंत उत्कृष्ट लेखक हैं।

पुस्तक में विभिन्न थिऑसोफिकल और अन्य स्रोतों से ली गई समृद्ध सामग्री शामिल है। यह थिऑसोफी की गहन शिक्षाओं के विभिन्न पहलुओं को समझने के लिए एक ठोस आधार प्रदान करती है। ये शिक्षाएं शाश्वत ज्ञान

का हिस्सा हैं, जिन्हें हमारे जीवन में लागू करने से न केवल हमारा जीवन रूपांतरित होता है बल्कि दिव्य योजना के अनुसार इस धरती पर मानवता के विकास में भी तेजी आती है।

मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक *ब्रह्मविद्या के मोती* पाठकों को गहन थियोसोफिकल शिक्षाओं को समझने और आत्मसात करने में सहायक होगी और उसी कार्य हेतु उन्हें दूसरों की सहायता करने में सक्षम बनाएगी।

वाराणसी
मई 2024

प्रदीप गोहिल
अध्यक्ष
भारतीय शाखा, थियोसोफिकल सोसायटी

प्रस्तावना

आधुनिक थिऑसोफी को पृथ्वी पर मानव के सर्वांगीण विकास और विशेष रूप से आध्यात्मिक विकास को एक आध्यात्मिक आवेग देने के लिए श्वेत संघ के महान ऋषियों द्वारा वर्ष 1875 में लाया गया। थिऑसोफी की विस्तृत गहन और मूल सही शिक्षाएं अंग्रेजी भाषा में लिखी हुई उपलब्ध हैं। इन शिक्षाओं का मानव जीवन को सही ढंग से जीने के लिए तथा उसके सर्वांगीण विकास में अत्यंत महत्व है।

इस पुस्तक *ब्रह्मविद्या के मोती* में थिऑसोफिकल शिक्षाओं से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण विषयों पर लिखे गए 21 लेख संकलित हैं। थिऑसोफिकल शिक्षाओं में प्रधानतया दो पक्ष रखे गए हैं; प्रथम यह कि कुछ प्रचलित या लोकप्रिय मत/विश्वास तथा अभ्यास कैसे और कहां गलत हैं और वे कैसी या कितनी हानि करते हैं, द्वितीय यह कि सही तथ्य और कार्य क्या और कैसे होने चाहिए, जिससे मनुष्य अपना सही विकास कर सके तथा दूसरों के सही विकास में योगदान कर सके। इस पुस्तक के कई लेखों में इन दोनों पक्षों को लाया गया है।

पुस्तक में संकलित लेख की सामग्री कई पुस्तकों/पत्रिकाओं में अंग्रेजी में छपी सामग्री का मेरे द्वारा हिंदी अनुवाद है, यह प्रयत्न करते हुए कि कोई व्यक्तिगत विचार जुड़कर मूल वर्णनों में निहित संदेश/शिक्षा को हल्का न करे तथा उसका अन्य रूपांतर न हो जाए। जिन स्रोतों से मुख्यतया सामग्री ली गई है, उनकी सूची पुस्तक के अंत में दी गई है। इसके लिए मैं उन स्रोत-साहित्य के सभी लेखकों और प्रकाशकों का कृतज्ञ हूं।

इस पुस्तक में संकलित लेखों में से कुछ लेख पहले फेडरेशन की पत्रिका 'धर्मपथ' के विभिन्न अंकों में छपे हैं, उनमें से कुछ लेखों की सामग्री में बदलाव या अतिरिक्त सामग्री जोड़कर इस पुस्तक में रखा गया है, तथा अन्य लेख नए हैं।

पुस्तक की मूल सामग्री को उचित प्रारूप देने तथा प्रूफ जांचने में बंधु राजेश गुप्ता का योगदान अत्यंत सराहनीय रहा है, इसके लिए वह धन्यवाद के पात्र हैं। टंकित सामग्री को जांचने में बहन प्रीति तिवारी का भी सहयोग सराहनीय रहा है। इस पुस्तक की छपाई के लिए क्रिएशन ग्राफिक्स, लखनऊ के श्री रंजन और उनके सहकर्मी धन्यवाद के पात्र हैं। पुस्तक को थिऑसोफिकल सोसाइटी – भारतीय शाखा के इण्डियन बुक शॉप, वाराणसी द्वारा प्रकाशित करने तथा आमुख लिखने के लिए भारतीय शाखा के अध्यक्ष बंधु प्रदीप गोहिल को धन्यवाद देता हूं।

आशा है कि यह पुस्तक हिन्दी पाठकों को थिऑसोफिकल शिक्षाओं के कुछ मूल्यवान पक्षों से परिचित कराने में, फिर उनके द्वारा दूसरों को समझाने में, तथा प्रसार करने में उपयोगी होगी।

लखनऊ — उमा शंकर पाण्डेय

मई, 2024

गुप्त विद्या (Occult Science)

गुप्त विद्या की एक प्राचीन पुस्तक में लिखा है : गुप्त विद्या एक आकर्षक समुद्र है, किन्तु तूफ़ानी और चट्टानों से भरा हुआ। असंख्य तीर्थयात्री हैं जो उस जल राशि में प्रवेश करना चाहते हैं, बहुत कम मजबूत तैराक हैं जो प्रकाश को पहुंचते हैं। वह, जो वहां पहुंचता है एक संख्या होना बंद हो जाता है, और सब संख्याएं बन गया होता है। उसे पृथक्करण के भ्रम को भूल गया होना चाहिए, और केवल सामूहिक वैयक्तिकता के सत्य को स्वीकार करना चाहिए। उसे अवश्य ही कानों से देखना, आंखों से सुनना, इंद्रधनुष की भाषा को समझना चाहिए, और अपनी छः इन्द्रियों को सातवें इन्द्रिय में केंद्रित कर दिया होना चाहिए।

गुप्त विद्या (occultism) को ऐसे भी परिभाषित किया गया है : प्रकृति में मन का अध्ययन, यहां मन का अर्थ वैश्विक मन, दिव्य मन का अध्ययन, प्रकृति में ईश्वर की कार्य प्रणाली का अध्ययन, इसलिए उन सभी ऊर्जाओं, जो आध्यात्मिक केंद्र से आकर संसार में हमारे चारो तरफ कार्य करती हैं, का अध्ययन।

इन्द्रियों के पर्दे के बिना प्रकृति सत्य की प्रकाश-शिखा (Beacon-light) है। यहां केवल तभी पहुंचा जा सकता है जब सिद्ध (adept) अपने व्यक्तिगत स्व का परम स्वामी बन गया है, अपने सभी भौतिक और भावनात्मक (psychic) इन्द्रियों को "सातवें इन्द्रिय" की सहायता से नियंत्रित करने में सक्षम हो गया है – इस सातवें इन्द्रिय द्वारा ही उसको देवों की सही प्रज्ञा – Theo-sophia (थिऑसोफी) का उपहार प्राप्त है।

सही जादू (magic), इअम्ब्लिकस के धार्मिक-जादू (theurgy),

पाइथागोरस के प्रज्ञान (gnosis), *चीजें जो हैं उनका विज्ञान*, फिलालेथेआंस के दिव्य परमानंद, "सत्य के प्रेमी" के बिलकुल समान है। परमानंद की अवस्था को भारत में समाधि कहा गया है।

ईसाई शांतचित्त (quietists), मुसलमान सूफी, सभी देशों के रोसीक्रूसिअन्स, उस अक्षय झरना – नव प्लेटोवादियों की थिऑसोफी के जल को पीते हैं। ज्ञानमार्ग इस युग के पहले का था, क्योंकि यह प्राचीन भारत की गुप्त विद्या और ब्रह्मविद्या (गुप्त ज्ञान और ब्रह्म का ज्ञान) की प्रत्यक्ष कड़ी या विस्तार था, जो मिस्र में से होकर संचारित हुआ था। हर हालत में, वह बिंदु जिससे यह अलौकिक जादू आरंभ होता है, परम दिव्यता है जो इसकी समाप्ति और लक्ष्य, मनुष्य को सजीव करने वाली दिव्य चिंगारी का जनक-लौ, जो दिव्य **सर्व** है, से मिलन।

यह समापन उन सभी थिऑसोफिस्टों, जो स्वयं को मानवता की सेवा में पूर्णतया समर्पित करते हैं, की चरम् सीमा (*ultima thule*) है। इनके आलावा, दूसरे लोग, जो प्रत्येक चीज को त्यागने के लिए अभी तक तैयार नहीं हैं, अपने को श्रेष्ठ विज्ञानों, जैसे मेस्मेरिज़्म, और सभी प्रकार के आधुनिक घटनाओं में व्यस्त कर सकते हैं। उनको ऐसा करने का अधिकार है, उस धारा के अनुसार जो थिऑसोफिकल सोसाइटी के उद्देश्यों में से एक को विशेष रूप से कहता है – "प्रकृति के अव्याख्यायित (unexplained) नियमों तथा मनुष्य में अंतर्निहित मानसिक शक्तियों का अन्वेषण करना"। प्रथम नामित अधिक संख्या में नहीं हैं – आधुनिक थिऑसोफिस्टों में भी पूर्ण परोपकारिता दुर्लभ वस्तु है। थिऑसोफिस्ट की सही थिऑसोफी है और थिऑसोफिकल सोसाइटी के सदस्यों की एक थिऑसोफी है। बाद वाले अधिक संख्या में हैं। मर्त्यों (mortals) के बहुतायत के अहं भाव, अभिमान तथा दांभिकता (self-sufficiency) अविश्वसनीय है। वे बंधुत्व और

परोपकारिता की बात करते हैं किंतु वास्तविकता में स्वयं अपनी या अपने क्षुद्र 'मैं' की ही देखभाल करते हैं। ऐसे लोग थिऑसोफिकल सोसाइटी के दीमक की तरह हैं, जो उसकी नींव को खाते हैं, और इसके लिए सतत संकट हैं। ऐसे लोग व्यावहारिक थिऑसोफी या उससे भी कम उत्तमोत्तम (transcendental) थिऑसोफी का सही विचार नहीं दे सकते। उत्तमोत्तम थिऑसोफी एक छोटे समूह के कुछ चुने लोगों के मन को ही व्यस्त रखती है। हममें से प्रत्येक के पास क्षमता है, आंतरिक इंद्रिय, जिसको अंतर्ज्ञान (intuition) या बोधि का नाम दिया जाता है, किंतु वे विरले हैं जो यह जानते हैं कि उसको कैसे विकसित किया जाए। किंतु केवल इसी क्षमता की सहायता द्वारा ही मनुष्य चीजों को उनके सच्चे रंग में देख सकता है। यह *जीवात्मा की सहज वृत्ति* (instinct of the soul) है, जो हममें उसी अनुपात में बढ़ती है जितना हम इसको काम में लगाते हैं, तथा जो हमें चीजों की वास्तविकता को, केवल अपनी इंद्रियों तथा तर्क के साधारण प्रयोग की तुलना में अति अधिक निश्चितता से समझने और अनुभव करने में सहायक होती है। जिनको सुबुद्धि (good sense) और तर्क कहा जाता है वे हमें चीजों के केवल दिखावट (appearance), जो सभी को प्रत्यक्ष है, को देखने योग्य बनाते हैं। यहां जिस सहज वृत्ति की बात की जा रही है, वह हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान-शील चेतना का ऐसा प्रक्षेपण है जो आत्मनिष्ठ से वस्तुनिष्ठ की ओर कार्य करता है, और इसके विपरीत क्रम में नहीं, कार्य करने के लिए हममें आध्यात्मिक इन्द्रियां तथा शक्ति जागृत करता है, ये इन्द्रियां स्वयं में वस्तु का अथवा कार्य का सार आत्मसात करती हैं, और जैसा वह वास्तव में है वैसा ही दर्शाती हैं, न कि जैसा वह हमारी भौतिक इंद्रियों और हमारे ठंडे तर्क को प्रतीत होता है। प्रोफेसर ए. विल्डर ने कहा था : "हम सहजवृत्ति के साथ आरम्भ करते हैं, हम सर्वज्ञता के साथ समाप्त होते हैं।" इअम्ब्लिकस ने इस क्षमता का वर्णन ऐसा किया है :

"मानवीय मन में एक क्षमता जो उन सभी चीजों, जिन्हें हमारे अन्दर डाली गईं या उत्पन्न की गई हैं, से अत्यंत श्रेष्ठ है। इसके द्वारा हम श्रेष्ठतर ज्ञानियों से एकता कर सकते हैं, अपने को इस पार्थिव जीवन की इन्द्रियों से ऊपर उठा पाते हुए, तथा उच्चतर अस्तित्व और दिव्य लोकों के निवासियों की मानवेतर शक्तियों में सहभागी बनते हैं। इस क्षमता द्वारा हम अपने को नियति (कर्म) के प्रभुत्व से अंतिम रूप से मुक्त पाते हैं, और हम ऐसा बन जाते हैं, जैसे अपने स्वयं के भाग्य के विवाचक (arbiter) हों। क्योंकि, जब हमारे अन्दर के उत्कृष्ट हिस्से स्वयं को ऊर्जा से भरपूर पाते हैं, और जब हमारा जीवात्मा, विज्ञान से उच्चतर सार की ओर उठा होता है, यह स्वयं को दैनिक जीवन की बंधनकारी परिस्थितियों से अलग कर सकता है; यह अपने साधारण अस्तित्व को दूसरे से विनिमय (exchange) करता है, यह दूसरी व्यवस्था की चीजों, जो अस्तित्व की अत्यंत उन्नत अवस्था में राज करती हैं, के प्रति स्वयं को समर्पित करने के लिए तथा उनसे मिश्रित होने के लिए अपनी पारंपरिक आदतों – जो चीजों की बाहरी व्यवस्था से संबंधित होती हैं – को त्यागता है।" कुछ थिऑसोफिस्ट इस वर्णन के सत्य को समझने के योग्य हुए हैं।

प्लेटो ने उसी विचार को इस तरह व्यक्त किया : "दिव्यता का प्रकाश और आत्मा, जीवात्मा के पंख हैं। वे इसको देवताओं के साथ समन्वय के लिए इस पृथ्वी से ऊपर उठाते हैं। .... देवताओं की तरह बनना – पवित्र, न्यायसंगत तथा बुद्धिमान बनना है। इसी अंत के लिए मनुष्य का सृजन किया गया था, और ज्ञान प्राप्ति में वही मनुष्य का उद्देश्य होना चाहिए।"

यह सच्ची थिऑसोफी, जीवात्मा की अंतरीय थिऑसोफी है। किंतु स्वार्थी उद्देश्य के साथ लगाने में थिऑसोफी अपनी प्रकृति बदलती है और दैत्य-विद्या (demonosophy) बन जाती है। जो हिन्दू योगी या ईसाई संत

जंगल या रेगिस्तान के एकांत में जाकर स्वयं को संसार से अलग करते हैं, वे अहंवादी (egoists) के अलावा कुछ अन्य नहीं होते। वे अपने लिए निर्वाण प्राप्त करने या जीवात्मा को बचाने का विचार रखते हैं – इस प्रकार वे केवल अपने बारे में ही सोचते हैं। उनका इरादा केवल व्यक्तिगत होता है; क्योंकि यदि यह मान भी लिया जाए कि उनका उदेश्य पूरा हो जाएगा, क्या वे उन डरपोक सैनिकों की तरह नहीं हैं, जो अपने को गोलियों से बचाने के लिए अपनी पलटन, जब वह काम में जा रही है, को छोड़ देते हैं? अपने को अलग करने में, न तो योगी और न ही संत केवल स्वयं के अलावा किसी एक की सहायता करते हैं, इसके प्रतिकूल दोनों अपने को मानव समाज के भाग्य के प्रति गंभीरता से उदासीन दिखाते हैं। केवल ऐसा जीवन पथ सत्य की ओर ले जाता है जो बलिदान या स्वत्याग का पथ है, जिस पर एक व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक मानवता के क्रॉस को मानवता के लिए ही ढोता है।

गौतम बुद्ध केवल उतने समय तक ही एकांत में रहे जब तक वह सत्य को प्राप्त करने योग्य हो गए, जिस सत्य को बताने के लिए, उस समय से, भिक्षुक बनकर, मानवता के लिए जीवन जीते हुए स्वयं को समर्पित किया। ईसा मसीह केवल चालीस दिनों के लिए रेगिस्तान में एकांत में रहे, और उसी मानवता के लिए मरे। टियाना के अप्पोलोनिअस, प्लाटिनस, इअम्ब्लिकस, अपूर्व संयम, लगभग संन्यास का जीवन जीते हुए, संसार में ही संसार के लिए रहे। हमारे दिनों के महानतम संन्यासी और संत वे नहीं हैं जो दुर्गम स्थानों में एकांतवासी हो जाते हैं, बल्कि वे हैं जो विभिन्न स्थानों की यात्रा करते हुए मानव समाज के प्रति अच्छा कार्य करके उसका उत्थान करने का प्रयास करते हैं।

प्रकाशस्तंभ जिस पर सभी वास्तविक थिऑसोफिस्टों के नेत्र स्थिर हैं वही है जिसकी ओर सभी युगों में मानवीय जीवात्मा ने संघर्ष किया। यह

प्रकाशस्तंभ जिसका प्रकाश पार्थिव समुद्रों पर नहीं पड़ता, किंतु जो स्वयं को अनंत आकाश के आदि जलराशि की अंधेरी गहराइयों में प्रतिबिंबित करता है, उसको हमारे द्वारा, जैसे पूर्ववर्ती थिऑसोफिस्टों द्वारा भी, "दिव्य प्रज्ञा" (Divine Wisdom) कहा जाता है। वह गुह्य सिद्धांत का अंतिम शब्द है; और पुरातन काल में प्रत्येक सभ्य देश के पास प्रज्ञा की दोहरी प्रणाली थी, जिसका एक भाग जनसमूह के लिए प्रतीकों में प्रच्छन्न था, और दूसरा भाग केवल कुछ के ही लिए, बहिरंग (exoteric) तथा गुह्य (esoteric)। यह नाम, प्रज्ञा, या, जैसा हम कभी कहते हैं "प्रज्ञा-धर्म" (Wisdom Religion) या थिऑसोफी, इतना पुराना है जितना मानवीय मन। ऋषियों की उपाधि – सत्य की इस पूजा के पुजारी – इसका प्रथम व्युत्पन्न (derivative) था। बाद में ये नाम दर्शन (*philosophy*) और *दार्शनिक* (*philosopher*) – "विज्ञान के प्रेमी" या "प्रज्ञा के प्रेमी" में रूपांतरित हुए। पाइथागोरस ने वह नाम दिया, जैसे gnosis (प्रज्ञान) का भी, "चीजें जैसी हैं का ज्ञान" या बाह्य प्रतीति (appearances) के पीछे छिपे हुए सार का ज्ञान। उस नाम, जो इतना उत्तम और अपनी परिभाषा में इतना सही है, के अन्दर, पुरातन काल के सभी महात्माओं ने मानवीय तथा दिव्य ज्ञान के समुच्चय को लक्षित (designate) किया।

अत्यंत प्राचीन धर्मो में सर्वदा उनके लघु और बृहद मर्म (mysteries) थे। कुछ प्राचीन लेखन प्रज्ञा का व्यक्तित्वीकरण (personify) किए, जिसको उन्होंने ऐन-सोफ या परब्रह्म से उद्भित होता दिखाया, और उसको व्यक्त देव का सहयोगी या साथी के रूप में बनाया। इस कारण इसका पवित्र चरित्र प्रत्येक जन में माना गया। प्रज्ञा, दिव्यता से अविभाज्य है। इस प्रकार हमारे पास वेद हिन्दू ब्रह्मा (logos) के मुख से निकले हुए हैं, बुद्ध नाम बुध, "प्रज्ञा," दिव्य बुद्धिमत्ता से आता है, बेबीलोन के नेबो, मेम्फिस के थॉट, यूनान के हर्मेस, ये सभी गुह्य प्रज्ञा के देव थे।

यूनानी एथेना, मिस्री मेतिस और निथा – सोफिआ अचमथ, सरस्वती, ज्ञानमार्गियों की स्त्री-लिंगी प्रज्ञा के नमूने हैं। ऐसे सभी वर्णन बहिरंगी (exoteric) हैं, जैसे कि सभी राष्ट्रों के व्यक्तिगत ईश्वर के सन्दर्भ में है।

अनंत (INFINITE) को हमारे तर्क, जो तर्क केवल भेद तथा परिभाषित कर सकता है, द्वारा नहीं जाना जा सकता; किंतु हम सर्वदा उसके अमूर्त विचार का ध्यान कर सकते हैं, अपने तर्क से उच्चतर क्षमता – *बुद्धि* (*intuition*), या आध्यात्मिक सहज-वृत्ति द्वारा, जिसको हम धन्यवाद दें। केवल ऐसे महान सिद्ध लोग, जिनके पास स्वयं को समाधि में ले जाने की विरली शक्ति है – जिस समाधि अवस्था को अपूर्णता से परमानंद (ecstasy) कहा जाता है – एक अवस्था जिसमें व्यक्ति संस्कारग्रस्त तथा व्यक्तिगत "मैं" होना बंद हो जाता है और वह **सर्व** (ALL) से एकाकार हो जाता है – केवल वही *अनंत* से संपर्क करने का दावा कर सकते हैं, किन्तु अन्य मर्त्य लोग उस अवस्था का शब्दों में वर्णन नहीं कर सकते।

थिऑसोफी द्वारा मानसिक परिवर्तन लाए जा रहे हैं। बहुत लोग विश्वस्त होते हैं कि थिऑसोफी भविष्य का यदि धर्म नहीं, तो दर्शन तथा नियम होगी। मानसिक विकास भौतिक विकास के साथ ही प्रगति करता है, और दोनों **एक सत्य** की ओर अग्रसर होते हैं – जो **सत्य** मानवता की प्रणाली का हृदय है, जैसे विकास रक्त है। यदि परिसंचरण (circulation) एक क्षण के लिए रुक जाता है, तो हृदय उसी समय रुक जाता है और मानवीय मशीन बंद हो जाती है।

केवल अच्छी तरह समझी हुई थिऑसोफी ही, सामाजिक तथा धार्मिक सुधार द्वारा संसार को निराशा से बचा सकती है – ऐसा कार्य इतिहास में एक बार पहले गौतम बुद्ध द्वारा संपन्न हुआ था; एक शांतिपूर्ण

सुधार, रक्त की एक बूंद बहाए बिना, प्रत्येक, अपने पुरखों के मत में रहते हुए यदि वह ऐसा चाहे, ऐसे सुधार का भागीदार बन सकता है। यह करने के लिए उसे केवल मानव निर्मित परजीवी पौधों, जो इस क्षण संसार के सभी धर्मों तथा धार्मिक संगठनों का दम घोंट रहे हैं, को त्यागना होगा। वह केवल उस सारतत्त्व को स्वीकार कर ले, जो सब में एक ही है; कहने का तात्पर्य यह है कि वह आत्मा, जो, मनुष्य को जीवन देता है, उसी में निवास करता है और उसे अमर बना देता है। प्रत्येक मनुष्य जिसमें बढ़ने की रुझान है, अपने आदर्श का पता करे – जो आदर्श उसका मार्गदर्शन करने के लिए उसके सम्मुख एक सितारा है। वह कभी भी अपने मार्ग से विचलित हुए बिना, इसका अनुसरण करे; और उसका प्रकाशस्तंभ – जीवन का प्रकाश – **सत्य** तक पहुंचना लगभग निश्चित है; इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि वह उसे खोजता है और उसे किसी पालने या कुएं की तली में पाता है।

थिऑसोफी विज्ञानों का विज्ञान है. यह संसार का अत्यंत भव्य तथा उदात्त दर्शन है। थिऑसोफी, सार्वभौमिक प्रज्ञान (GNOSIS) के महान वृक्ष का सीधा वंशज है, एक वृक्ष जिसकी शानदार शाखाएं, एक विशाल छत्र की तरह पूरी पृथ्वी पर फैलती हुई, एक युग – जिसे बाइबिल कालक्रम प्रलयपूर्व (antediluvian) कहता है – में पृथ्वी पर सभी मंदिरों को और सब राष्ट्रों को आश्रय दिया। वह प्रज्ञान, सभी विज्ञानों के समुच्चय, पृथ्वी पर पूर्व समय में अवतरित सभी देवताओं और अर्द्ध-देवताओं के संचित ज्ञान का प्रतिनिधित्व करता है।

हम अवतारों और दैवीय राजवंशों में विश्वास करते हैं, उस युग में जब वास्तव में, "पृथ्वी पर दिग्गज" थे।

थिऑसोफिस्ट का धर्म, या विश्वास तथा प्रिय अध्ययन **"सत्य"** है, सत्य इसे हम जहां भी पा सकते हैं। अम्मोनियस सैकस की तरह, हमारी

सबसे बड़ी महत्वाकांक्षा विभिन्न धार्मिक प्रणालियों में सामंजस्य स्थापित करना है, प्रत्येक को अपने धर्म में सच्चाई खोजने में, और साथ ही, उसे अपने पड़ोसी के धर्म में इस सच्चाई को पहचानने के लिए उपकृत करते हुए मदद करना है।

अम्मोनियस ने घोषणा की कि सभी नैतिक व्यावहारिक प्रज्ञा थॉथ या हर्मीस ट्रिस्मेगिस्टस की पुस्तकों में निहित थे। लेकिन थॉथ का अर्थ है "एक कॉलेज", स्कूल या सभा, और उस नाम के कार्य, दूरतम पूर्व के ऋषियों के सिद्धांतों के समान थे। पाइथागोरस ने अपना ज्ञान भारत में प्राप्त किया (जहां पुरानी पांडुलिपियों में उनको यवनाचार्य, यूनानी गुरु कह गया है)।

हर देश के अपने रक्षक या उद्धारक होते हैं। वह जो विज्ञान की मशाल की मदद से अज्ञानता के अंधेरे को दूर करता है, इस प्रकार हमारे लिए सत्य की खोज करता है, वह हमारी कृतज्ञता के प्रतीक के रूप में उस उपाधि – 'रक्षक' – का उतना ही हकदार है जितना कि वह, जो हमारे शरीर का उपचार करके हमें मृत्यु से बचाता है। ऐसा व्यक्ति हमारी सुन्न जीवात्माओं में अब तक अनुपस्थित दिव्य ज्योति प्रज्वलित करके सत्य और असत्य में अंतर करने की क्षमता जगाता है, और उसे हमारी कृतज्ञ पूजा का अधिकार है, क्योंकि वह हमारा सृजक (creator) बन गया है। अमूर्त विचार को व्यक्त करने वाले नाम या प्रतीक का क्या महत्व है, यदि वह विचार हमेशा एक जैसा हो और सत्य हो, चाहे ठोस प्रतीक कोई एक या दूसरी उपाधि धारण करता हो, चाहे जिस उद्धारकर्ता पर हम विश्वास करते हैं उसका सांसारिक नाम कृष्ण, बुद्ध, जीसस या एस्कुलेपियस हो, – जिसे "उद्धारकर्ता देव" सोटर भी कहा जाता है, – हमें केवल एक बात याद रखनी है : दिव्य सत्यों के प्रतीक का आविष्कार अज्ञानियों के मनोरंजन के लिए नहीं किया गया था; वे दार्शनिक विचार के अल्फा और ओमेगा या प्रारंभ और अंत हैं।

थिऑसोफी वह मार्ग है जो सत्य की ओर ले जाता है, हर धर्म में जैसे हर विज्ञान में, गुप्त विद्या, ऐसा कहा जा सकता है, कसौटी और सार्वभौमिक विलायक (solvent) है। यह गुरु द्वारा शिष्य को दिया एरियाडने (*Ariadne*) का धागा* है, जो शिष्य अस्तित्व के रहस्यों की भूल भुलैया में जोखिमी काम करता है; यह वह मशाल है जो शिष्य को, जीवन जो सर्वदा स्फिंक्स** की पहेली है, की खतरनाक उलझन में, प्रकाश दिखाती है। लेकिन इस मशाल के प्रकाश को केवल जागृत जीवात्मा की आंखों से – हमारी आध्यात्मिक इंद्रियों – द्वारा ही पहचाना जा सकता है; यह भौतिकवादी की आंख को वैसे ही अंधा कर देता है जैसे धूप उल्लू को अंधा कर देता है।

(*एक यूनानी मिथक में "एरियाडने का धागा" किसी ऐसी समस्या, जिसके प्रत्यक्ष रुप से कई समाधान हो सकते हैं, को सुलझाने के प्रयास का एक प्रतीक है। **एक अन्य मिथक कहानी में स्फिंक्स (Sphinx) ने ओएडिपुस से एक पहेली का अर्थ पूछा, यह कहते हुए कि यदि वह सही उत्तर देगा तो थेबेस नगर का राजा बनेगा, किंतु यदि गलत उत्तर दिया, तो स्फिंक्स उसे खा जाएगा।)

हमारे पास न तो हठधर्मिता है और न ही अनुष्ठान – ये दोनों केवल बेड़ियां हैं, पदार्थीय शरीर जीवात्मा का दम घोंट देता है। थिऑसोफिकल सोसाइटी में प्रत्येक व्यक्ति को वह अध्ययन करने की स्वतंत्रता है जो वह चाहता है, बशर्ते वह उन अज्ञात रास्तों पर न जाए जो निश्चित रूप से उसे काले जादू की ओर ले जाएंगें। गुप्त विज्ञान उस व्यक्ति के लिए खतरनाक है जो उन्हें अपूर्णता से समझता है। जो कोई भी स्वयं को उनके अभ्यास के लिए समर्पित कर देगा, उसके पागल होने का जोखिम होगा; और जो लोग उनका अध्ययन करते हैं उनके लिए तीन से सात तक के छोटे समूहों में

एकजुट होना अच्छा रहेगा। अधिक शक्ति प्राप्त करने के लिए इन समूहों की संख्या विषम होनी चाहिए; एक समूह, चाहे उसमें कितना भी कम सामंजस्य क्यों न हो, एक एकल एकजुट निकाय का निर्माण करता है, जिसमें एक साथ काम करने वालों की इंद्रियां और अनुभूतियां एक-दूसरे की पूरक होती हैं और पारस्परिक रूप से मदद करती हैं, एक सदस्य दूसरे को वह गुणवत्ता प्रदान करता है जो वह चाहता है, – ऐसा समूह अंततः एक परिपूर्ण और अजेय शरीर बन जाता है। "संगठन में शक्ति है।"

प्रकृति में सभी चीजों में सामंजस्यता होती है और वे परस्पर में अन्योन्याश्रित (interdependent) होते हैं। अपने अमूर्त भाव में थिऑसोफी श्वेत किरण है, जिसमें से सौर स्पेक्ट्रम के सात रंग निकलते हैं, प्रत्येक मनुष्य इन किरणों में से एक को अन्य छः की तुलना में अधिक हद तक आत्मसात करता है। इसका यह निष्कर्ष है कि सात व्यक्ति, जिनमें से प्रत्येक अपनी विशेष किरण से ओत-प्रोत है, परस्पर एक-दूसरे की सहायता कर सकते हैं। अपनी सेवा में सात किरणों का बंडल होने के कारण, उनके नियंत्रण में प्रकृति की सात शक्तियां होती हैं। लेकिन इससे यह भी पता चलता है कि, उस लक्ष्य तक पहुंचने के लिए, एक समूह बनाने वाले सात व्यक्तियों का चयन एक विशेषज्ञ – एक व्यक्ति जो गुप्त किरणों के विज्ञान में दीक्षित हो – पर छोड़ दिया जाना चाहिए।

थिऑसोफी में सामान्य विज्ञान के साथ यह समानता है कि यह प्रत्येक प्रत्यक्ष सत्य के विपरीत पक्ष की भी जांच करती है। यह भौतिक विज्ञान द्वारा प्रस्तुत प्रत्येक तथ्य का परीक्षण और विश्लेषण करती है, प्रत्येक ब्रह्माण्डीय या भौतिक अभिव्यक्ति, चाहे वह नैतिकता, समझ या पदार्थ के क्षेत्र में हो, में केवल सार और अंतिम तथा गुप्त संरचना की तलाश करती है। एक शब्द में, थिऑसोफी अपनी शोध वहां से शुरू करती है जहां पदार्थवादी

अपना काम पूरा करते हैं।

थिऑसोफी, या जिस गुप्त विज्ञान का यह अध्ययन करती है, वह सामान्य तत्त्वमीमांसा से कुछ अधिक है। यह अधि-तत्त्वमीमांसा (*meta*-metaphysics), मेटा-ज्यामिति, आदि, आदि, या एक सार्वभौमिक अतिमावाद (transcendentalism) है। थिऑसोफी भौतिक इंद्रियों के साक्ष्य, यदि ये साक्ष्य मानसिक और आध्यात्मिक अनुभूतियों द्वारा प्रदत्त साक्ष्य पर आधारित नहीं है, को पूरी तरह से अस्वीकार कर देती है।

थिऑसोफी, ज्ञान-विद्या और हिंदुओं की ब्रह्म-विद्या का, और हिमालय पार सिद्धों के ज्यान (Dzyan) जो सच्चे राज-योगियों का विज्ञान है, का पर्याय है। ये राजयोगी किसी की सोच से कहीं अधिक सुलभ (accessible) है। पूर्व में इस विज्ञान के कई विभाग हैं। किंतु इसकी छोटी शाखाएं और भी बहुत हैं, इनमे से प्रत्येक ने जनक तने – पुरातन प्रज्ञा – से स्वयं को इसके विभिन्न रूपों में अलग कर लिया है।

यद्यपि ये रूप हर पीढ़ी के साथ सत्य के प्रकाश से और दूर जाते हुए बदले, किंतु दीक्षा देने के सत्य का आधार सर्वदा वही रहा। इनमें एक ही विचार को व्यक्त करने वाले प्रतीक भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, परंतु अपने गुप्त अर्थ में ये सदैव एक ही विचार को व्यक्त करते हैं। अत्यंत विद्वान मेसन, रेगन ने भी यही कहा है। एक पुरोहिती भाषा, "रहस्य भाषा" मौजूद है और जब तक कोई इसे अच्छी तरह से नहीं जानता, वह गुप्त विज्ञान में बहुत दूर तक नहीं जा सकता। रेगन के अनुसार, "एक नगर बनाना या स्थापित करना" का अर्थ है "एक धर्म स्थापित करना", यह वाक्यांश ब्राह्मणों की अभिव्यक्ति, "सोम रस" वितरित करना, के समकक्ष है – जिसका अर्थ है, "एक गुह्य विभाग स्थापित करना", न कि "एक धर्म" जैसा कि रेगन दिखावा

करते हैं। किंतु यह निश्चित है कि रेगन ने रहस्य भाषा का कम से कम प्रारंभिक अध्ययन तो किया था।

रहस्य भाषा का अध्ययन करने के लिए, एक व्यक्ति सभी धर्मों का अध्ययन कर सकता है और उनकी एक दूसरे से तुलना कर सकता है। पूरी तरह से सीखने के लिए एक शिक्षक या गुरु की आवश्यकता होती है; स्वयं सफल होने के लिए प्रतिभावान होने की आवश्यकता होती है।

सभी धार्मिक प्रणालियों के रूपकों में वे सत्य समाहित हैं जिन्हें केवल वही समझ सकता है जो पुरातन रहस्यमय भाषा जानता है। न्यूयॉर्क के सबसे प्रतिष्ठित थिऑसोफिस्ट प्रोफेसर अलेक्जेंडर वाइल्डर ने कहा :

"नव-प्लेटोवादी का मूल विचार केवल एक सर्वोच्च सार का अस्तित्व था। यह आर्य राष्ट्रों का देव, या 'स्वर्ग का स्वामी' था, जो चाल्डियनों और हिब्रूओं के इआओ (Iao), समारितानों के इआबे, नॉर्वेजियन के तिउ या तुइस्तो, ब्रिटेन की प्राचीन जनजातियों के डुव, थ्रास लोगों के ज़ीउस, तथा रोमन लोगों के जूपिटर के समकक्ष था। यह अस्तित्व – (गैर-अस्तित्व), फासित (*Facit*), एक और सर्वोच्च था। इसी से उद्भव द्वारा अन्य सभी प्राणी निकले। ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक लोग इस को विकास (evolution) से प्रतिस्थापित किए हैं। शायद किसी दिन उनसे अधिक बुद्धिमान एक व्यक्ति इन प्रणालियों को एक में जोड़ देगा। विभिन्न देवताओं के नामों का आविष्कार मुख्यतः उनकी शब्दावली में प्रयुक्त अक्षरों के संख्यात्मक मूल्य से जुड़े कुछ विशेष रहस्यमय अर्थों के कारण किया गया है।"

यह संख्यात्मक तात्पर्य, रहस्यमय भाषा, या प्राचीन पुरोहिती भाषा की शाखाओं में से एक है। इसे "लघु रहस्यों" (Lesser Mysteries) में

सिखाया गया था, लेकिन भाषा केवल उच्च दीक्षितों के लिए आरक्षित थी।

यीशु द्वारा प्रयुक्त "उपमाएं" (या नीतिकथाएं) "रहस्यों की भाषा", दीक्षितों की पुरोहिती भाषा के हिस्सा थे। उन्होंने उपमाओं में कहा, "क्योंकि तुम्हें स्वर्ग के राज्य के रहस्यों को जानने के लिए दिया गया है, परन्तु उन्हें नहीं दिया गया है ... क्योंकि वे देखते हुए नहीं देखते, और सुनते हुए नहीं सुनते, और न समझते हैं।"

थिऑसोफिस्ट के रूप में, हम, न तो बहुदेववादी हैं और न ही नास्तिक, जितना कुछ ज्ञानमार्गी (Gnostics) थे उससे अधिक नहीं, जो ग्रहों, सौर और चंद्र देवताओं के अस्तित्व में विश्वास करते हुए, उनके प्रति कोई प्रार्थना नहीं करते थे और न ही कोई वेदियां समर्पित किए थे। मनुष्य, जो पॉल और अन्य दीक्षितों के अनुसार ईश्वर का मंदिर है, के बाहर किसी व्यक्तिगत ईश्वर में विश्वास न करके, हम एक अवैयक्तिक और परम तत्त्व में विश्वास करते हैं, जो मानवीय अवधारणा से इतना परे है, कि जो कोई उस महान सार्वभौमिक रहस्य को परिभाषित करने का प्रयास करता है, उसमें हम एक ईश्वर निंदक (blasphemous) और धृष्ट पागल से कम कुछ भी नहीं देखते हैं। यह शाश्वत और अद्वितीय आत्मा, न तो आत्मा है, न पदार्थ, न पदार्थ-सार, न ही विचार, बल्कि उन सभी चीजों का पात्र या कंटेनर है, परम कंटेनर है। एक शब्द में, यह बेसिलाइड्स का "ईश्वर कुछ भी नहीं" है। इस "ईश्वर कुछ भी नहीं", जिसको मुसी गुइमेट के विद्वान तथा पटु इतिहास लेखकों ने भी इतना कम समझा, जो इस शब्द को कुछ व्यंग से परिभाषित करते हैं "ईश्वर कुछ नहीं, जिसने प्रत्येक चीज को आज्ञा दिया और पहले से देखा है, यद्यपि उसके पास न तो तर्क है और न ही इच्छाशक्ति।"

वास्तव में, यह "ईश्वर कुछ भी नहीं" वेदान्तियों के परब्रह्म के समान है – भव्यतम और साथ ही अत्यंत दार्शनिक अवधारणाएं – यहूदी

कबालिस्टों के ऐन-सॉफ के भी समान हैं। यह बाद वाला भी "वह ईश्वर जो नहीं है," "ऐन" *गैर-अस्तित्व* या परम, *कुछ नहीं* या बेसिलिड्स के *वुडेन एन* को दर्शाता है; कहने का तात्पर्य यह है कि, मानव समझ इस भौतिक स्तर पर सीमित होने के कारण ऐसी किसी भी चीज़ की कल्पना नहीं कर सकती है, जो है, जो किसी भी रूप के अस्तित्व में नहीं है। *होना* का विचार किसी ऐसी चीज़ तक सीमित है जो अस्तित्व में है, या तो पदार्थ सत्व में – वास्तविक या संभावित – या चीजों की प्रकृति में, या केवल हमारे विचारों में; वह जो इंद्रियों द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता, या हमारी समझ – जो प्रत्येक चीज को संस्कारग्रस्त करती है (conditions) – द्वारा कल्पना नहीं की जा सकती है, हमारे लिए अस्तित्व में नहीं होती है।

एक राजा ने एक श्रद्धेय बुद्धिस्ट संन्यासी से अच्छे नियम के बारे में पूछते हुए यह पूछा कि, "हे महान अर्हत, आप निर्वाण का स्थान कहां पाते है?"

"कहीं नहीं" – उत्तर था।

"तब, निर्वाण, अस्तित्व में नहीं है?" राजा ने कहा।

"निर्वाण है, लेकिन इसका अस्तित्व नहीं है," संन्यासी ने उत्तर दिया।

ईश्वर "जो नहीं है" के बारे में भी यही सच है, एक दोषपूर्ण शाब्दिक अनुवाद जिसे गुह्य रूप से पढ़ा जाना चाहिए, "*ईश्वर जो अस्तित्व में नहीं है लेकिन जो है*।" क्योंकि ओडेन (*ouden*) का मूल ओडिस (*oudis*) है और इसका अर्थ है "और कोई नहीं", जिसका तात्पर्य है कि जिसके बारे में बात की जाती है वह कोई व्यक्ति या *कोई चीज* नहीं है, बल्कि दोनों का निषेधात्मक है।

यहूदियों के धार्मिक तत्त्वमीमांसा में, परम एक अमूर्तता है, 'बिना रूप या अस्तित्व के,' 'बिना किसी और चीज़ से समानता के है'। "इसलिए ईश्वर "कुछ नहीं" है, नाम-रहित और गुणों से रहित है; इसीलिए इसे AIN-SOPH कहा जाता है, क्योंकि AIN का अर्थ – कुछ नहीं है।"

इस अपरिवर्तनीय और परम तत्त्व, जो केवल स्थिति में है, से देवता या व्यक्त विश्व के सक्रिय तत्त्व उद्भित नहीं होते हैं। परम का संस्कारग्रस्त से कोई संबंध नहीं है, न ही हो सकता है। जिससे उद्भव होता है वह बेसिलिड्स का "ईश्वर जो बोलता है", यानी लोगोस (Logos), जिसे फिलो "द्वितीय ईश्वर", और रूपों के निर्माता कहते हैं। "दूसरा ईश्वर, ईश्वर **एक** (God ONE) की प्रज्ञा (Wisdom) है।" "किंतु क्या यह लोगोस, "प्रज्ञा" सर्वदा एक उद्भव है? ऐसा प्रश्न उठेगा, "क्योंकि 'कुछ चीज नहीं' (NOTHING) से *कुछ चीज* उद्भव होना एक विसंगति है।" बिल्कुल नहीं। प्रथमतः, यह "कुछ नहीं", *कुछ भी नहीं* है, क्योंकि यह परम है, और परिणामस्वरूप संपूर्ण (WHOLE) है। द्वितीया, यह "दूसरा ईश्वर" उस छाया से अधिक उदभव नहीं है जो छाया हमारा शरीर एक सफेद दीवार पर डालता है। किसी भी स्थिति में यह ईश्वर किसी ऐसे कारण या कार्य, जो तर्कसंगत या सचेत और सविचार इच्छा है, का परिणाम नहीं है। यह एक शाश्वत और अपरिवर्तनीय नियम, जो समय और स्थान से स्वतंत्र है, और ईश्वर (Logos) या रचनात्मक समझ जिसकी *छाया* या *प्रतिबिंब* है, का आवधिक प्रभाव है।

परम वास्तविकता के दृष्टिकोण से, विश्व अपने सभी चैतन्य और समझ वाले निवासियों के साथ, केवल एक तुच्छ छायाचित्र है, इस प्रकार यह वास्तविकता की छाया है, इस पदार्थ के स्तर पर, जो समझ और गुणों से संपन्न है; जबकि परम सभी संस्कारग्रस्त गुणों से रहित है, *इस तथ्य के ही कारण कि वह परम* है।

केवल मुट्ठी भर लोगों को छोड़कर, मनुष्य, अपनी जीवात्मा की उपस्थिति में एक क्षण भी जीवित रहे बिना मर जाता है – क्योंकि वह अहंकारी और सांसारिक मामलों के चक्रवात में बह जाता है।

यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति जो थिऑसोफिकल सोसाइटी में प्रवेश करता है, वह तत्त्वमीमांसा के अलावा, यद्यपि वहां अपनी रुचि के अनुसार एक विज्ञान और एक व्यवसाय पा सकता है। एक खगोलशास्त्री पुरानी संस्कृत पुस्तकों में प्रत्येक तारे* से संबंधित रूपकों और प्रतीकों का अध्ययन करके अधिक वैज्ञानिक खोजें कर सकता है, जितनी वह केवल अकादमियों की सहायता से नहीं कर सका। एक डॉक्टर जिसके पास अंतर्ज्ञान (intuition) है वह शरीर विज्ञान पर आधुनिक कार्यों की तुलना में चरक के कार्यों से अधिक सीखेगा।

(* 333,000,000 में से प्रत्येक देवता या देवी, जो हिंदू देव समूह बनाते हैं, एक तारे द्वारा दर्शाया गया। चूंकि खगोलविदों को ज्ञात तारों और नक्षत्रों की संख्या शायद ही उस आंकड़े तक पहुंचती है, किसी को संदेह हो सकता है कि आधुनिक लोगों की तुलना में प्राचीन हिंदू अधिक सितारों को जानते थे)

ईसाई धर्म, यहूदी कबालीवादियों आदि की धार्मिक प्रणालियों में कई विरोधाभासी शिक्षाएं हैं। इसलिए हम चाल्डियन कबाला, "संख्याओं की पुस्तक" (the Book of Numbers) को ही पसंद करते हैं।

बाइबिल की तरह, कबालीवादी पुस्तकों में उनके मृत अक्षर, बाह्य अर्थ और उनके सच्चे या गुह्य अर्थ होते हैं। सच्चे प्रतीकवाद की कुंजी, जो कि हिंदू प्रणालियों की भी है, आज हिमालय की विशाल चोटियों से परे छिपी हुई है। दिव्य प्रज्ञा के आदिकालीन व्याख्याकारों द्वारा जमा किए गए और

हजारों वर्ष पहले गाड़े हुए वे बौद्धिक खजाने उन तहखानों में छिपे हुए हैं, जिन्हें कोई अन्य कुंजी नहीं खोल सकती है। लेकिन महान चक्र, कलियुग का प्रथम, अपने अंत पर है (लेख 1889 में लिखा गया था, तब से कलियुग के पहले 5000 वर्ष समाप्त हो चुके हैं।) इन सभी मृतकों के पुनरुत्थान का दिन दूर नहीं हो सकता। महान स्वीडिश द्रष्टा, एमानुएल स्वीडनबोर्ग ने कहा : "खोए हुए शब्द की तलाश महान टरटरी और तिब्बत के आचार्यों के बीच करें।"

थिऑसोफी उतनी पुरानी है जितनी दुनिया। हमारी थिऑसोफिकल सोसाइटी बंधुत्व का वृक्ष है जो दान और न्याय के देव द्वारा दुनिया में उस दिन बोए गए बीज से उत्पन्न हुआ है, जिस दिन पहले कैन ने पहले एबेल को मार डाला था। महिलाओं की गुलामी और गरीबों की दुर्दशा की लंबी शताब्दियों के दौरान, कमजोरों और उत्पीड़ितों द्वारा बहाए गए सभी कड़वे आंसुओं से इस बीज को सींचा गया था। धन्य हाथों ने इस बीज को पृथ्वी के एक कोने में और दूसरे कोने में, और अलग-अलग समय में, और दूर-दूर के युगों में फिर बोया है। कन्फ्यूशियस ने अपने शिष्यों को कहा : "दूसरे के प्रति वह चीज मत करो, जो चीज तुम नहीं चाहते कि वह तुम्हारे साथ करे।" भगवान बुद्ध ने अपने अर्हतों को शिक्षा दिया : "एक दूसरे से प्रेम करो, और प्रत्येक जीवित प्राणी से प्रेम करो।" यही शिक्षा यथातथ्य प्रतिध्वनि की तरह जेरूसलम की सड़कों पर दोहरायी गई।

थिऑसोफिस्ट लोग मनुष्य द्वारा मनुष्य और सामान्य रूप से अन्य लोगों के विरुद्ध की जा रही क्रूरता को रोकने में असमर्थ हैं। किंतु यह उनका कार्य है कि जितना संभव हो सके उतना अधिक बचे लोगों की रक्षा करें। सच्चे बंधुत्व का प्राणि-केन्द्र या नाभिक (nucleus), यह उन पर निर्भर करता है कि वे अपनी सोसाइटी को एक ऐसा पुल बनाएं जिसके द्वारा निकट

भविष्य में नए चक्र की मानवता को निराशाजनक पदार्थवाद की बाढ़ के गंदले पानी से परे ले जाना नियत हो। यह बाढ़ का पानी लगातार उठ रहा है, और इस क्षण सभी सभ्य देशों को जलप्लावित कर रहा है। क्या हम बुरे लोगों के साथ अच्छे लोगों को नष्ट होने के लिए छोड देंगे? क्या हम उनको एक दूसरे के बाद नष्ट होता हुआ देखते रहेंगे – इस अवसाद में, कि एक व्यक्ति सूर्य, जो प्रत्येक के लिए चमकता है, की एक किरण प्राप्त करने में असमर्थ है – उसके सामने सुरक्षा का पटरा फैलाए बिना? – कभी नहीं।

यह सुंदर काल्पनिक आदर्श (Utopia) हो सकता है, परोपकारी का स्वप्न जो थिऑसोफिकल सोसाइटी की त्रिगुण इच्छा की पूर्ति को एक दृश्य जैसा देखता है, बहुत दूर हो सकता है। सभी को अंतश्चेतना की पूर्ण और संपूर्ण स्वतंत्रता की अनुमति, अमीर और गरीब के बीच राज कर रहा भाईचारा, अभिजात वर्ग और जनसाधारण के बीच सिद्धांत और व्यवहार में मान्य समानता – ये सब अभी भी हवा में बहुत सारे महल जैसे हैं और एक अच्छे कारण के लिए। यह सब स्वाभाविक रूप से और स्वेच्छा से दोनों तरफ से आना चाहिए, लेकिन शेर और मेमने के एक साथ लेटने का समय अभी तक नहीं आया है। महान सुधार बिना किसी सामाजिक झटके के, बिना रक्त की एक बूंद बहाए होना चाहिए; जो कि प्राच्य दर्शन के स्वयंसिद्ध सत्य की मान्यता के अलावा किसी अन्य तरीके से नहीं हो सकता है, जो हमें सिखाता है कि भाग्य, सामाजिक पद और समझ की महान विविधता, प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तिगत कर्म के कारण है। हम वही फसल काटते हैं जो हमने बोया है। यदि प्रत्येक भौतिक मनुष्य का *व्यक्तित्व* (personality) हर दूसरे से भिन्न होता है, तो उसमें अमर *वैयक्तित्व* (individuality), या अभौतिक अस्तित्व, उसी दिव्य सार से उद्भव होता है, जिससे कि उसके पड़ोसियों का होता है। वह, जो इस दार्शनिक सत्य, कि प्रत्येक जीवात्मा अविभाज्य संपूर्ण (WHOLE) होने से आरम्भ और समाप्त होता है, से पूरी

तरह प्रभावित है, वह अपने पड़ोसी से प्रेम, स्वयं से प्रेम की अपेक्षा, कम नहीं कर सकता। लेकिन जब तक यह धार्मिक सत्य नहीं बन जाता, तब तक ऐसा कोई सुधार नहीं हो सकता। सुंदर प्राचीन कहावत; "गरीब आदमी अमीर का बेटा है", और इससे भी अधिक जो हमें बताता है, "पहले उसे खाने के लिए दो जो भूखा हो, और जो बचे उसे अपने लिए लो' का अनुकरण सभी को व्यवहार में करना चाहिए।

हमें, दिव्य सत्य को छिपाने वाले पर्दे का एक कोना उठाकर, दुनिया में पीड़ित लोगों के दिलों में थोड़ी शांति लाने का प्रयत्न करना चाहिए। जो लोग सबसे सबल हैं, उन्हें निर्बल लोगों को रास्ता दिखाकर उन्हें जीवन की खड़ी पहाड़ी पर चढ़ने में सहायता करने दें; तथा उन्हें थिऑसोफिकल विज्ञान के रहस्यमय और अज्ञात समुद्र से परे बेथलेहम के एक नए सितारे की तरह क्षितिज पर चमकने वाले प्रकाश-स्तम्भ पर अपनी आंखें केंद्रित करने के लिए सिखाने दें – और जीवन से वंचित लोगों को पुनः आशा प्राप्त करने दें।

जब एक मनुष्य वास्तविक गुप्त विद्याविद (occultist) बनता है तब वह संसार में अच्छाई के लिए केवल एक बल बन जाता है।

(टिप्पणी: हेलेना पेत्रोव्ना ब्लावत्स्की के "Le PHARE DE L'INCONNU", शीर्षक लेख, जो जुलाई, अगस्त, सितम्बर,अक्टूबर 1889 के "दि थिऑसोफिस्ट" में छपा था और पुस्तक "*H.P.B., She being Dead yet speaketh and other twelve articles*" में पुनः छपा, की सामग्री पर आधारित)

एक जीवन, एक चेतना

पूरा विश्व और इसके सभी भाग 'आदि' स्तर से नीचे 'भौतिक' स्तर तक एक-दूसरे में गुंथे हुए होकर एक पूर्ण बनाते हैं – एक शरीर, एक जीव, एक जीवन, एक चेतना। विश्व के सभी अंग आकाश और व्यक्त के स्तर पर अलग भासित होते हैं किन्तु वास्तव में, आपस में सामंजस्यपूर्ण संबंध में क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए होते हैं। आकाश में दिखने वाला सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जिसमें बारह राशियां समाहित होते हैं और इनके सभी सौरमण्डल अपने सूर्यों और ग्रहों और उनके सभी साम्राज्य, प्रकृति के सभी स्तर, उनके तत्त्व और उनके रंग, किरणें, सुर, जीव और समझ की व्यवस्थाएं – ये सभी एक समन्वित पूर्ण है। क्योंकि सभी भाग एक-दूसरे से सम्बद्ध और सामंजस्य, गुह्य गूंज, और आपसी क्रिया-प्रतिक्रिया में रहते हैं, "एक महान पूर्ण के ही सभी हिस्से हैं।"

केवल एक ही शक्ति, जीवन और नियम है। पूर्णतया अवैयक्तिक दिव्य तत्त्व है। और यदि इसको कोई नाम देना चाहते हो तो इसको केवल एक 'जीवन' या 'नियम' या 'जीवन-नियम' ही कहना चाहिए। शाश्वत् उस नियम के तहत समय में व्यक्त होकर पूरा ब्रह्माण्ड हो जाता है। तब ईश्वर, नियम है।

बुद्धि की चेतना पर हम अपने चारो तरफ चेतना का समुद्र खुलते हुए पाते हैं और जानते हैं कि हम इसके हिस्से हैं, और साथ ही यह भी कि इसमें अन्य दूसरे भी हैं जो हमारे साथ इसमें सहभागी हैं। और वर्तमान में इस भावना के अतिरिक्त हम यह भी समझते हैं कि यह सब एक चेतना है, जो हमारे अन्दर और दूसरों के अन्दर प्रवेश करती हुई है, जिसको हम ईश्वर कहते हैं। यह समझ हमें अत्यंत सुरक्षा और आत्मविश्वास की भावना और अत्यंत विशाल आवेग और प्रोत्साहन, जितना हम सोच सकते हैं, उतना हमें

देती है।

दि सिक्रेट डॉक्टरीन में गुरु शिष्य से पूछते हैं कि वह क्या देखता है। शिष्य का उत्तर आता है कि वह अनगिनत चिंगारियां देखता है जो यद्यपि पृथक होते हुए प्रतीत होती हैं और अज्ञानी लोग उनको अलग-अलग समझते हैं किन्तु बुद्धिमान लोग उनको एक लौ की तरह देखते हैं। ऐसा एक खण्ड एक चेतना का केंद्र होता है और बिना माप का एक बिंदु होता है। यह अलग नहीं हो सकता। ऐसे सभी केंद्र मूलतः एक हैं क्योंकि एक ही परम् गोला है, एक ही विश्व है। लेकिन अस्तित्व की एकता का रहस्य निर्वाण स्तर के नीचे नहीं समझा जा सकता, इसको निम्न संसारों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। इसके लिए संकेत बनाने के सभी प्रयत्न अपूर्ण होते हैं।

जीवन उनके लिए एक रहस्य होता है जो लोग इसको एक 'पूर्ण' के रूप में नहीं देखते और हममें से कोई भी इसको पूरी तरह नहीं देख सकता जब तक कि वह इस प्रणाली के ईश्वर के साथ एक नहीं हो जाता जिस ईश्वर की अभिव्यक्ति यह सभी जीवन है। हम लोग जो इस महान चेतना के छोटे हिस्से हैं, उसके साथ कम या अधिक समता का अनुभव कर सकते हैं और जिस अनुपात में हम यह कर पाएंगे उसी अर्थ में हम इसको जान पायेंगे। हममें से प्रत्येक जो जीवन का संगीत सुनने का प्रयत्न कर रहा है वह इन अलग-अलग टुकड़ों को एक साथ देखने की कोशिश कर रहा है।

गुह्य दर्शन के अनुसार देव के बारे में सही विचार है कि, "केवल एक परम्, सीमाविहीन, अपरिवर्तनीय, अनंत जीवन है जिसका सीमित अस्तित्व से कोई संबंध नहीं है और यह सीमित अस्तित्व के पूर्व का है तथा जिसका चिंतन, मानवीय विचार जो सीमित है, नहीं कर सकता। यह अज्ञात, अज्ञेय कारणविहीन कारण है, उन सभी जो कभी थे, हैं, या कभी होंगे उनका जड़विहीन जड़ है। उस नामविहीन में, क्रमिक व्यक्त और अव्यक्त के चक्रों

में, द्वैत के संसार उठते हैं, विकसित होते है, घुल जाते हैं और गायब हो जाते हैं उसमें अंतर्निहित कर्म और चक्रीय नियम के तहत – जैसे महासागर में ज्वार और भाटा। देव और नियम एक हैं।"

दो 'एक' हैं – अज्ञेय परम् तत्त्व और विश्व की आत्मा जो उससे बारंबारता से विकिरित होता है और स्वयं को व्यक्त संसार के रूप में विस्तारित करता है। इस बाद वाले के लिए हम "ईश्वर"" शब्द का प्रयोग कर सकते हैं, पूर्व वाले जिससे यह विकिरित होता है, उसके लिए नहीं। यह व्यक्त देव यद्यपि अपने द्वैत अभिव्यक्ति अथवा अपने आत्मा और पदार्थ या विषय या वस्तु के रूप में अनेक प्रतीत होता है किन्तु गुह्य दर्शन के अनुसार वास्तविकता में यह एक और अविभाज्य है, और यह परम् एक का व्यक्त प्रतीक है। यह सर्वव्याप्त सार्वभौमिक एक जीवन, चेतना और समझ – तीन में एक और एक में तीन – सभी में प्रवेश करते हुए, प्रत्येक परमाणु में सुषुप्त संभावना के रूप में विद्यमान है। सम्पूर्ण वैश्विक विकास इस एक जीवन की प्रवृत्ति है जिसके द्वारा स्वचैतन्यता रूपों के माध्यम से चढ़ते हुए चक्रीय ढंग से विकसित होती है – प्रारम्भिक जीव, खनिज, वनस्पति, जन्तुरूप और अंत में कई भौतिक विकास के शीर्ष पर उस एक जीवन का वैयक्तिकरण 'मन' या जीवात्मा के रूप में होता है या सोचने वाला वास्तविक मनुष्य; पूर्व वाला बाद वाले की उपाधि होता है और यदि वह स्थायी रूप से संबंध बनाने मे सफल होता है, तो इसके साथ एक हो जाता है – एक ईश्वर या ईश्वर।

यह एक जीवन, शाश्वत, अनादि और अनंत है। फिर भी बारंबारता से यह अपने नियमित अभिव्यक्तियों जिनकी अवधियों के बीच में एक अनस्तित्व का गहरा रहस्य रहता है, अचेतन फिर भी परम् चैतन्य, न समझने योग्य फिर भी एक स्व अस्तित्व की वास्तविकता; इन्द्रियों के लिए एक अव्यवस्था किन्तु विवेक के लिए एक व्यवस्थित ब्रह्माण्ड है।

परब्रह्म (एक परम वास्तविकता) परम चेतना का क्षेत्र है, जो सीमित अस्तित्व के साथ सभी संबंधों से बाहर है और चैतन्य अस्तित्व जिसका एक सीमित प्रतीक है। किन्तु एक बार हम इस परम निषेध से जाते हैं तो आत्मा (या चेतना) और पदार्थ; विषय और वस्तु के प्रतिरोधी द्वैत प्रभावी हो जाते हैं। संसार में केवल एक अविभाज्य और परम् सर्वज्ञता और समझ है। और यह एक प्रत्येक परमाणु और इस सम्पूर्ण सीमित ब्रह्माण्ड जिसकी कोई परिधि नहीं है, उसके क्षुद्रतम बिंदु में पुलकित होती है।

महान मन्वंतर के प्रारम्भ में परब्रह्म एक मूल प्रकृति और फिर ईश्वर के रूप में अभिव्यक्त होता है। यह ईश्वर सर्वेश्वरवादियों के अचेतन वैश्विक मन के समकक्ष होता है। यह व्यक्त संसार के आत्मनिष्ठ पक्ष का आधार होता है और प्रत्येक व्यक्त अलग चेंतनाओं का स्रोत होता है। मूल प्रकृति या प्रारम्भिक ब्रह्माण्डीय पदार्थ वस्तुनिष्ठ की नींव बनती है, ब्रह्माण्डीय उद्भव और विकास के सभी वस्तुओं का आधार।

आत्मा ही ब्रह्म है। आत्मा के दो पक्ष – चेतना और जीवन समान हैं। एक ही चीज के दो नाम हैं जैसे उन्हें अन्दर से या बाहर से समझा जाए। चेतना के बिना कोई जीवन नहीं है और जीवन के बिना कोई चेतना नहीं है। अंतर्मुखी चेतना को 'जीवन' का नाम दिया जाता है, और बाह्यमुखी जीवन को 'चेतना' का नाम दिया जाता है। जब हमारा ध्यान विविधता पर जाता है तब हम उसको चेतना कह देते हैं और भूल जाते हैं कि विविधता पदार्थ का अस्तित्व है और उसी के कारण है तथा जो एक को प्रतिबिंबित करते हुए अनेक बनता है। वह चेतना जिसमें प्रत्येक चीज है, प्रत्येक संभाव्य और वास्तविक भी – ऐसा वास्तविक जिसको हमारे अलग चेतना द्वारा समय और स्थान में अलग से विचार किया जाता है और सभी संभाव्य जो इस तरह समय और स्थान के किसी बिन्दु पर विचार नहीं किए जाते हैं हम इन सब को

परम चेतना कहते हैं। यह सभी है – शाश्वत्, असीमित और अपरिवर्तनीय, समय और स्थान का विचार करते हुए चेतना और सभी रूप जो सार्वभौमिक चेतना ही होता है – हिन्दू लोग इस एक को सगुण ब्रह्म कहते हैं जो गुणों के साथ शाश्वत् है – प्रत्यागत्मा अंतरीय आत्मा; जो इसाई द्वारा गाड, पारसी द्वारा ऑर्मज्द, मुस्लिम द्वारा अल्लाह कहा जाता है। चेतना एक निश्चित समय में कितनी भी बड़ी हो या छोटी हो, एक व्यक्तिगत हो जाती है जो एक ठोस जीव होता है। वह किसी संसार या कुछ संसारों या संसार के एक हिस्से का स्वामी हो सकता है। ये शब्द चेतना की शक्ति के विस्तार के अनुसार विभिन्न रूप से प्रयोग किए जाते हैं।

जो 'सब' है वह 'परिपूर्ण' है अपनी पूर्णता में और सभी का योग है। इसकी असीमितता में प्रत्येक चीज है, अस्तित्व की प्रत्येक संभावना और वास्तविकता भी। जो कुछ हुआ है, है, होगा, हो सकता है – सर्वदा इस शाश्वत-पूर्णता में है। केवल यही स्वयं को अपने असीमित अकल्पनीय अस्तित्व की संपत्ति को जानता है। क्योंकि इसमें सभी विरोधी युग्म होते हैं और प्रत्येक युग्म अपने को सकारात्मक करते हुए समाप्त कर देता है और गायब हो जाता है। यह शून्य प्रतीत होता है। किन्तु इनमें उठते हुए अंतहीन विश्व इसको एक पूर्ण संग्रह घोषित करते हैं। यह परिपूर्ण कभी अपरिपूर्ण नहीं होता है। यह कुछ भी नहीं बनता है। इसमें सभी विरोधी युग्म व्यक्त होकर फिर एक दूसरे में मिल जाते हैं और अव्यक्त में गायब हो जाते हैं। यह सब व्यक्त और अव्यक्त को समाहित करता है। आत्मा और पदार्थ साथ साथ उत्पन्न होते हैं जो इस सब का स्व व्यक्त करने का रूप है, प्रत्यगात्मा (ईश्वर या शब्दब्रह्म) और मूल प्रकृति उस समयविहीन और स्थानविहीन को समय और स्थान में व्यक्त करते हैं।

सौरमंडल अपने अन्दर विकसित होते हुए सभी चेतनाओं का विकास

क्षेत्र होता है। इसके अन्दर छोटे स्थान भी होते है जो चेतना के विकास के छोटे क्षेत्रों की तरह काम करते हैं। मनुष्य संसार का क्षुद्र ब्रह्माण्ड है और उसका शरीर अपने से भी क्षुद्र अनगिनत चेतनाओं के विकास के क्षेत्र का काम करता है।

वैश्विक वृक्ष एक जड़ से ही उत्पन्न होता है और अपनी शाखाओं और उपशाखाओं को निकालता है जिससे यह सभी चीजों को आलिंगित करता है और सभी चीजों के साथ एक होता है। जब हम प्रत्येक चीज जो अस्तित्व में है उसको अंतरीय आंख से देखते हैं तब अनुभव करते हैं कि वे एक जीवन की क्रिया की ही शाखाएं हैं।

हम लोग 'मेरी चेतना', 'तुम्हारी चेतना' कहते हैं लेकिन ऐसा भेदभाव हम अज्ञानता में करते हैं क्योंकि मूलतः जीवन एक है, चेतना एक है यद्यपि हम सोचते हैं कि यह अलग अलग हिस्सों में है जिसमें से एक हिस्सा मेरा है और दूसरा किसी और का।

विश्व के सभी साम्राज्यों में प्रत्येक चीज चैतन्य है अर्थात अपने प्रकार की चेतना और इसके अपने स्तर का अनुभव सभी में है, कोई ऐसी चीज नहीं है जो मर्त्य या अंधा पदार्थ है जैसे कोई अंधा या अचेतन नियम नहीं है।

अमेरिका में प्रिंसटन विश्वविद्यालय के प्रो. रोगर नेल्सन द्वारा 'वैश्विक चेतना परियोजना' (Global Consciousness Project) पर किए गए आधुनिक वैज्ञानिक शोध में यह पाया गया कि, "सुसंगत चेतना संसार में व्यवस्था उत्पन्न करती है, सूक्ष्म परस्पर प्रभावी क्रिया हमे एक दूसरे और पृथ्वी के साथ जोड़ती है। साक्ष्य यह जताते हैं कि चेतना की एकता कायम करने वाला क्षेत्र है, जिसका वर्णन सभी संस्कृतियों में ऋषियों द्वारा किया गया है।"

क्वांटम संसार के दृष्टिकोण से चेतना सभी जीवों और वस्तुओं का मूल या आधार है।

बाइबिल में यह कहा गया है कि, "हम सभी का अस्तित्व उसी में है, हम उसी में रहते हैं और उसी में गति करते हैं।" इसका अर्थ है कि हमारा व्यक्त अस्तित्व और प्रत्येक क्रियाकलाप उसी एक चेतना, एक जीवन से ही होता है और वही है।

दि सिक्रेट डॉक्टरीन में एक मूलभूत नियम बताया गया है, "प्रकृति के मिश्रण के प्रत्येक भाग, तारे से खनिज परमाणु, सर्वोच्च ध्यान चोहान से लघुतम जीवाश्म के चरम् सत्व में मूलतः एकत्व है, इस शब्द के पूर्णरूपेण स्वीकार्य अर्थ में और चाहे आध्यात्मिक, मानसिक या भौतिक संसार में प्रयुक्त किया जाए। – यह एकत्व गुह्य विज्ञान में एक मूलभूत नियम है।"

सभी चेतना एक है, सभी संसार एक है, इसमें सभी प्रेम एक दिव्य सौन्दर्य है और संसार की सभी पवित्रता ईश्वर की एक महान पवित्रता है।

चूंकि गति सर्वव्याप्त है और परम् विश्राम अचिंतनीय है, और जिस किसी भी रूप या मुखौटे में गति प्रकट होती है चाहे प्रकाश, गर्मी, चुम्बकत्व, रासायनिक आकर्षण या विद्युत – ये सभी उसी एक वैश्विक सर्वशक्तिशाली बल की अवस्थाएं हैं। जिस महान 'अज्ञात' के सामने वे सभी परिवर्तनीय प्राणी झुकते हैं और हम उसको केवल 'एक जीवन,' 'एक नियम' और 'एक तत्त्व' ही कहते हैं (महात्मा पत्र सं. 93 बी, पृ. 316)।

एक ज्येष्ठ बंधु ने थिऑसोफिकल सोसाइटी के सदस्यों को प्रेषित संदेश में कहा है, "एक सत्य और सार्वभौमिक प्रकाश अपने को विभिन्न रूपों में ढंके रहते हैं, स्वभावों और विकास की अवस्थाओं की विभिन्नताओं की

आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं – भले ही वे रूप तुम्हारी आंखों को प्रायः प्रतिरोधी लगते है। यह कभी मत भूलो कि जीवन एक है। भले ही इसके रूप कभी कभी आपस में टकराते हुए प्रतीत होते हैं।"

गुप्त विद्या माया के पर्दे को भेदकर वास्तविकता का अनुभव करती है जो एक स्व है, एक जीवन है, एक बल है, जो प्रत्येक चीज में है और प्रत्येक चीज उसमें है। इसलिए वास्तव में गुप्त विद्या सही अर्थों में *भगवद् गीता* में कृष्ण द्वारा दिए गए उस कथन के समतुल्य है कि "जो मुझे देखता है अर्थात जो एक स्व या आत्मा को देखता है, प्रत्येक चीजों में मुझे और मुझमें प्रत्येक चीजें – वास्तव में वही देखता है।"

आध्यात्मिक विकास का अर्थ है कि व्यक्त क्रिया में एक स्व की पहचान और बढ़त, पहले एक उपाधि में जो हमारी समझ द्वारा बनायी गयी है और फिर उसके परे जाकर उस एकत्व को समझना जो हमारे मानवीय विकास का उद्देश्य है। इस कारण हम मानव समाज की एकता को आध्यात्मिक क्षेत्र में रखते हैं, इसीलिए हम मनुष्य के बंधुत्व को एक आध्यात्मिक वास्तविकता के रूप में घोषित करते हैं; क्योंकि आत्मा एक है और केवल इसी तरह कि वह एकत्व लगातार जानते हुए पहचाना जाए – केवल एक प्रारंभिक रूप से देखना नहीं किन्तु लगातार जानना – केवल ऐसा जब होता है तब हमारे विकास की धारा में आध्यात्मिक प्रकृति कही जा सकती है।

हम यह नहीं कह सकते कि समझ की प्रकृति के विकास द्वारा ही आध्यात्मिक प्रकृति विकसित होगी। बल्कि इसके विपरीत हमें सीखना है कि हम अपनी समझ नहीं हैं लेकिन अपनी समझ को एक उपकरण के रूप में प्रयोग करना है कि हम एक अलग स्व नहीं हैं किन्तु सभी में रहते हुए एक आत्मा हैं। यही हमारे विकास का उद्देश्य है, हमारी तीर्थयात्रा का लक्ष्य है

और इसलिए गुप्त विद्या, जिसका अर्थ है आध्यात्मिक प्रकृति का अध्ययन और विकास, द्वारा हमें पूर्णतया समझ के विकास के परे जाना चाहिए।

सही जीवन वह है जो दिव्य जीवन के एक हिस्से के रूप में जिया जाता है, अपने को दूसरों के लिए उड़ेलते हुए; और कोई जीवन सही नहीं है, कोई जीवन वास्तविक नहीं है, कोई जीवन आध्यात्मिक नहीं है जब तक अलग जीवन के विचार से पूर्णतया परे जाकर जीव के सभी विचार, जीवन की सभी शक्तियां केवल एक स्व के भाग के रूप में न लगाई जाएं और कोई भेद-भाव न माना जाए। इस तरह जीवन का स्वाभाविक प्रकटीकरण सेवा है, सहायता करना वह है जिसमें 'सही अस्तित्व' का अनुभव किया जाता है।

जब एक मनुष्य वास्तविक गुप्त विद्याविद (occultist) बनता है तो वह संसार में अच्छाई के लिए बल बन जाता है। वास्तविक आध्यात्मिक जीवन नहीं है, वास्तविक गुप्त ज्ञान नहीं है जब तक कि मनुष्य कम से कम यह न जान ले कि उसके जीवन का उद्देश्य केवल इस संसार में एक अच्छाई का बल बनना ही है। उसको तब अपनी प्रगति नहीं खोजनी है, अपने जीवन को नहीं खोजना है, अपने विकास को नहीं ढूढ़ना है – स्वंर्ग या पृथ्वी या अन्य कोई संसार उसको क्या दे सकता है इसके बारे में नहीं पूछना है। उसके अन्दर केवल एक चीज बचती है – सेवा करने की इच्छा, एक ही चीज जो उसके अस्तित्व का इरादा होता है, ईश्वर के महान जीवन की एक नलिका बनना जिससे मनुष्यों के संसार या सभी संसारों, जहां जीवन है, में उस महान जीवन को प्रभावपूर्ण ढंग से बिखेरना।

गुप्त अध्ययन के प्रयत्न के पूर्व नैतिक प्रशिक्षण आवश्यक है। इसके पहले कि एक व्यक्ति गुप्त विज्ञान के द्वार की कुण्डी खोलने का साहस करे, गुप्त प्रशिक्षण के उसका पहले नैतिक विकास अवश्य होना चाहिए और चरित्र शुद्ध हो जाना चाहिए, उन्नत हो कर आध्यात्मिक हो जाना चाहिए।

इसीलिए दीक्षा के लिए उन अर्हताओं को बनाया गया है; इसीलिए यह सर्वदा मांग की जाती है कि केवल शुद्ध व्यक्ति को ही प्रवेश करना चाहिए, केवल निःस्वार्थ व्यक्ति को ही अन्दर आना चाहिए।

लाइट ऑन दि पाथ का सूत्र I.5 बताता है, "सभी अलगावपन की भावनाओं को समाप्त करो" और यह आगे कहता है "तुम अपने को एक बुरे मनुष्य या मूर्ख मनुष्य से अलग रहने की भावना मत करो। ... याद रखो कि संसार के पाप और शर्म तुम्हारे पाप और शर्म हैं।" जब हम दूसरे व्यक्ति के साथ पूर्णतया अपने को तादात्म्य में लाते हैं तब हम उसकी भर्त्सना नहीं करते, हम उसको समझते हैं, यद्यपि वह कई शर्मनाक चीजें कर रहा होता है। यदि जीवन केवल एक है तो उस पाप, मूर्खता, और अज्ञानता से हमारा भी उतना ही संबंध है जितना दूसरों का, हालांकि इसको प्रत्यक्ष अनुभव करना कठिन है।

जब सभी अलगावपन की भावनाएं चली जाती हैं और हम सभी रूपों और सभी आयामों में जीवन के साथ एक होते हैं तो फिर हमें निर्देशित किया जाता है कि हम 'अकेले' होकर खड़े हों क्योंकि कोई भी जो शरीरधारी है, कोई भी जिसमें अलगावपन का भाव है, कोई भी जो शाश्वत् से बाहर है तुम्हारी मदद नहीं कर सकता (*लाइट ऑन दि पाथ*, सूत्र I.8)। यहां अलग होने का अर्थ अपने को भौतिक रूप से बन्द करने का नहीं है; इसका अर्थ है, बिना किसी सहायता के स्वावलंबी होना, अपने से बाहर के किसी भी चीज से प्रभावित न होना। हम प्रत्येक के साथ एक हैं लेकिन फिर भी अकेले हैं और इसी अकेलेपन में हमें इस 'एकत्व' को समझना है।

व्यक्त संसार में ईश्वर का जीवन ऐसा है जो सब कुछ देता है और कुछ वापस नहीं मांगता है। इसलिए जो उनके साथ एकत्व में पहुंचते हैं और यह समझते हैं कि आध्यात्मिक जीवन का अर्थ क्या है, उनको देना ही

सीखना चाहिए न कि लेना, सहायता करना न कि रोके रखना, बिना किसी प्रतिफल की लालसा के अपने को उड़ेलते रहना। यदि हम ऐसा सीखते हैं तब हम उच्चतर ज्ञान के अभ्यर्थी (candidate) के योग्य बनते हैं। केवल तभी जब हृदय पूर्णतया शुद्ध हो जाता है तब हम गुरु की उपस्थिति में साहसपूर्वक जा सकते हैं यह आशा करते हुए कि जब 'वह हमारे हृदय में देखते हैं तो उनको वहां कोई धब्बा न दिखाई दे।'

ईश्वर और देवगण

ईश्वर और परब्रह्म

दि की टू थिऑसोफी पुस्तक (अध्याय 5) में एक जिज्ञासु ब्लावत्स्की से प्रश्न करता है कि क्या वे ईश्वर में विश्वास करती हैं? ब्लावत्स्की का उत्तर आता है कि यह इस बात पर निर्भर करता है कि ईश्वर से क्या अभिप्राय है। यदि अभिप्राय किसी व्यक्तिकृत या ब्रह्माण्ड से परे या फिर मानवरूपी बनाए ईश्वर से है तो ऐसे विचार स्वीकार किये जाने योग्य नहीं हैं। यह भी कहा गया कि धर्म शास्त्रों में जिस प्रकार ईश्वर का वर्णन किया गया है, उसमें बहुत विरोधाभास है तथा उन्हें तार्किक रूप से स्वीकार करना असंभव है।

एक ओर भक्तों द्वारा ईश्वर को अनंत और परम कहा जाता है तो ऐसे परम का कोई रूप कैसे हो सकता है या वह किसी का निर्माण कैसे कर सकता है? रूप होने का अर्थ सीमित होना है और जो परम है वह विचार नहीं कर सकता, क्योंकि इससे उसका सीमित से संबंध जोड़ना होगा। यह दार्शनिक और तार्किक स्तर पर असंगत या बेतुका है।

मैडम ब्लावत्स्की ने कहा कि हम एक दैवी तत्त्व (Divine Principle) – जो सभी का मूल या आधार है – में विश्वास करते हैं। उसी परम तत्त्व से सब कुछ निकलता है और 'अस्तित्व के महान चक्र' (Great Cycle of Existence) के बाद उसी में अवशोषित हो जाता है। ईश्वर, जीवात्मा और मनुष्य तथा विश्व तथा उसमें समाहित सभी, स्रोत और शाश्वता में समान रूप से परम तत्त्व के साथ एक ही हैं। किसी उत्पत्ति या निर्माण में विश्वास नहीं किया जाता है, परंतु अत्यधिक अवधि के अंतराल पर आत्मनिष्ठ (subjective) स्तर से वस्तुनिष्ठ (objective) स्तर पर विश्व प्रकट होते हैं।

दि सीक्रेट डॉक्टरीन के तीन मूल प्रस्तावों में से पहला कहता है; "एक सर्वव्यापक, शाश्वत, सीमा विहीन और अडिग तत्त्व जिस पर सभी आकलन असंभव है, क्योंकि यह मानवी अवधारणा के परे होता है और किसी भी मानवी अभिव्यक्ति या तुलना द्वारा केवल बौना किया जा सकता है। यह विचार की सीमा और पहुंच के बाहर है – माण्डूक्य उपनिषद् के शब्दों में, 'असोचनीय और अकथ्य' है"। हिंदू लोग इस परम तत्त्व को परब्रह्म कहते हैं।

सभी व्यक्त, संस्कारग्रस्त अस्तित्व के पूर्व, यह एक परम वास्तविकता है। यह अनंत और शाश्वत कारण "सभी जो था, है या सर्वदा रहेगा" का जड़-विहीन जड़ है। परब्रह्म "सर्व परम", प्रकृति का सर्वदा-अदृश्य आत्मा और जीवात्मा, अपरिवर्तनीय और शाश्वत होने के नाते कोई गुण नहीं रख सकता; परमता स्वभावतः इस के साथ किसी भी सीमित और संस्कारग्रस्त विचार के जुड़ने से अलग करती है। परब्रह्म (एक वास्तविकता, परम) परम चेतना का क्षेत्र है – और वास्तव में इसका व्यक्त, सीमित जीव, संस्कारग्रस्त अस्तित्त्व से कोई संबंध नहीं है, और चैतन्य अस्तित्त्व जिसका एक संस्कारग्रस्त प्रतीक है। यह कोई चीज, कोई जीव नहीं है किंतु सत है, और सभी विचार या आकलन के परे है (SD I, 14)।

यह तत्त्व किसी से भी प्रसन्न या नाराज नहीं होता है। समस्त व्यक्त सृष्टि कर्म के सिद्धांत के अनुसार कार्य करती है जो बिना किसी पक्षपात या पूर्वाग्रह के अंध-न्याय के समान है। वस्तुतः कर्म का सिद्धांत अन्यान्य सिद्धांतों के साथ मिलकर ही परब्रह्म है। परब्रह्म तत्त्व स्वयं बिना किसी व्यक्तित्व वाला और न ही समझने वाला है। ब्रह्माण्डीय जीवन और आत्मा ही परब्रह्म है।

परब्रह्म मस्तिष्क के उस अवचेतन भाग के समान है जो स्वयं कुछ

नहीं करता, किंतु उसके प्रभाव से हमारे शरीर की आवश्यक क्रियाएं, जैसे – श्वांस का आना-जाना, रक्त का प्रवाह, पाचन-क्रिया आदि स्वयमेव होती रहती हैं। इसी तरह परब्रह्म तत्त्व स्वयं कुछ करता नहीं किंतु सृष्टि के सभी कार्य उसके उत्प्रेरक प्रभाव से होते रहते हैं।

दि सीक्रेट डॉक्टरीन में कहा गया है कि धर्म शास्त्रों में जिस ईश्वर का वर्णन मिलता है, वे दूसरे या तीसरे स्तर की शक्तियां हैं और मनुष्य ने उनको भी मानवरूपी बनाकर वास्तविकता से दूर कर दिया है। सृष्टि के निर्माण एवं संचालन के लिए तमाम शक्तियां हैं जो परम तत्त्व से उसी प्रकार निकलती हैं जैसे समूची सृष्टि निकलती है। इन शक्तियों के कई स्तर हैं, जैसे – तारा-समूहों (galaxies) के स्वामी और प्रत्येक सौरमंडल के स्वामी आदि। किसी सौरमंडल का जो अधिकारी शक्ति है, वही उस सौरमंडल का ईश्वर कहा जाता है। तारा-समूहों (galaxies) के स्वामी को महेश्वर कह सकते हैं। वस्तुतः कोई एक सर्वोच्च देव नहीं है वरन एक परम तत्त्व है जिसकी अनुभूति हम केवल अपने हृदय में कर सकते हैं।

एक ईश्वरवाद या बहुदेववाद

विभिन्न मतों में परिभाषित किए गए एक ईश्वरवाद या बहुदेववाद के सिद्धांत सत्य से दूर हैं। एक ईश्वरवाद में उसी को सृष्टि का निर्माणकर्ता, पालनकर्ता तथा मनुष्य को पुरस्कार/दण्ड देने वाला बता दिया गया है जो सत्य नहीं है। बहुदेववाद में कई दैवी शक्तियों की विविध स्तरों पर अवधारणा की गई है, यह अवधारणा सत्य के निकट है, किंतु इन शक्तियों को मानवरुपी बनाकर मनुष्य किसी उपाय जैसे प्रार्थना, वंदना, पूजा आदि द्वारा इनको प्रसन्न कर सकता है – यह विचार भी सत्य से दूर है। ये सभी शक्तियां बिना किसी पूर्वाग्रह या पक्षपात के अवैयक्तिक ढंग से

अपने-अपने स्तर पर महान दैवी योजना के अनुसार कार्य करती रहती हैं। इसी योजना हेतु सभी कार्यकारी शक्तियां उसी एक परम तत्त्व से निकलती हैं। इस प्रकार एक देववाद और बहुदेववाद में तालमेल भी दिखता है समूचा ब्रह्माण्ड ही ब्रह्म है, अपने सत्व में यह वास्तविकता के अधिक निकट है। *लाइट ऑन दि पाथ* में तीन परम सत्यों में से एक का वर्णन करते हुए कहा गया है कि, "वह तत्त्व जो जीवन देता है, हमारे अन्दर और बाहर रहता है, कभी नष्ट नहीं होता, सनातन कल्याणकारी है, सुनाई या दिखाई नहीं देता और सूंघा नहीं जा सकता है, किंतु उस मनुष्य के द्वारा बोधगम्य है जो ऐसे बोध की इच्छा करता है।"

थिऑसोफिकल साहित्य, तथा कुछ अन्य दर्शन के साहित्य से कुछ संदर्भित कथन/वर्णन

आइसिस अन्वेलड

ब्लावत्स्की लिखती हैं, "जब वर्षों पहले, हमने पहली बार पूर्व की यात्रा की थी, उसके निर्जन अभयारण्यों की खोज की थी, तो दो दुखद और बार-बार आने वाले प्रश्नों ने हमारे विचारों को परेशान कर दिया था – ईश्वर कहां, कौन, क्या है? किसने कभी मनुष्य की अमर आत्मा को देखा है, ताकि वह स्वयं को मनुष्य की अमरता के बारे में आश्वस्त कर सके?"

"हम कुछ ऐसे लोगों के संपर्क में आए, जो इतनी रहस्यमय शक्तियों और इतने गहन ज्ञान से संपन्न थे कि हम उन्हें पूर्व के ऋषियों के रूप में नामित करते हैं। उन्होंने हमें दिखाया कि विज्ञान और धर्म के संयोजन से, ईश्वर के अस्तित्व और मनुष्य की आत्मा की अमरता का प्रदर्शन यूक्लिड की समस्या (Problem of Euclid) की तरह किया जा सकता है। पहली बार

हमें यह आश्वासन मिला कि इस प्राच्य दर्शन में मनुष्य की अपनी अमर आत्मा की सर्वशक्तिमानता में पूर्ण और अचल विश्वास के अलावा किसी अन्य विश्वास के लिए जगह नहीं है। हमें सिखाया गया था कि यह सर्वशक्तिमानता मनुष्य की आत्मा की सार्वभौमिक आत्मा – ईश्वर के साथ निकट संबंध से आती है। उन्होंने कहा, ईश्वर को मनुष्य की आत्मा के अलावा अन्य किसी तरह प्रदर्शित नहीं किया जा सकता। मनुष्य-आत्मा ईश्वर-आत्मा को सिद्ध करती है, जैसे पानी की एक बूंद एक स्रोत को सिद्ध करती है जहां से वह आयी होगी। जिसने कभी पानी न देखा हो, उससे कहो कि पानी का एक महासागर है, और उसे विश्वास के आधार पर इसे स्वीकार करना चाहिए या इसे पूरी तरह से अस्वीकार कर देना चाहिए। लेकिन एक बूंद उसके हाथ पर गिरे, और फिर उसके पास एक तथ्य होगा जिससे बाकी सब का अनुमान लगाया जा सकता है। उसके बाद वह धीरे-धीरे समझ सकेगा कि पानी का एक असीम और अथाह सागर मौजूद है। अंधविश्वास अब आवश्यक नहीं होगा; उसने इसे ज्ञान से प्रतिस्थापित कर दिया होगा" (I, vi)।

ईश्वर के बारे में मनुष्य का विचार चकाचौंध कर देने वाली रोशनी की वह छवि है जिसे वह अपनी आत्मा के अवतल दर्पण (concave mirror) में प्रतिबिंबित देखता है, और फिर भी, वास्तव में, यह ईश्वर नहीं है, बल्कि केवल उसका (मनुष्य का) प्रतिबिंब है। उसकी महिमा वहां है, लेकिन यह उसकी अपनी ही आत्मा का प्रकाश है जिसे मनुष्य देखता है, और यह वह सब कुछ है जिसे वह देखना सहन कर सकता है। दर्पण जितना साफ होगा, दिव्य छवि उतनी ही उज्जवल होगी। लेकिन इसमें बाहरी दुनिया का साक्ष्य उसी क्षण में नहीं किया जा सकता है (I, xxiv)।

देवता शब्द ... रहस्यवादी के मन को ... प्रकृति की अदृश्य शक्ति की

दृश्यमान या ज्ञात अभिव्यक्ति का विचार बताता है। और ऐसी गुप्त शक्तियों का आह्वान विभिन्न देवताओं के आह्वान के तहत किया जाता है, जो कुछ समय के लिए, इन शक्तियों का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं (I, xxxviii)।

एक मनुष्य का कोई ऐसा ईश्वर नहीं हो सकता जो उसकी अपनी मानवीय अवधारणा से बंधा न हो। उसके आध्यात्मिक दृष्टि का दायरा जितना व्यापक होगा, उसके देव उतने ही शक्तिशाली होंगे। लेकिन हम स्वयं मनुष्य में, बल्कि हर प्राणी में सुषुप्त पड़ी आध्यात्मिक और दैवीय शक्तियों – से बेहतर प्रदर्शन उसका अन्य कहां पा सकते हैं (II, 567)?

दि सिक्रेट डॉक्टरीन

प्रकृति में वर्तमान एक अज्ञात या अदृश्य ईश्वर को अस्वीकार नहीं किया गया है, बल्कि मानव हठधर्मिता और उसके मानवररूपी बनाये "शब्द" वाले ईश्वर को नकारा जाता है। अपने अनंत दंभ और अंतर्निहित अभिमान और अहंकार में, मनुष्य ने अपने क्षुद्र मस्तिष्क-परिधान पर पाई गई सामग्री से अपने अपवित्र हाथ से इसे स्वयं आकार दिया, और इसे एक अज्ञात आकाश से प्रत्यक्ष रहस्योद्घाटन के रूप में मानव जाति पर थोप दिया (I, 9)।

संवेदनशील जीवन की इच्छा एक परमाणु से लेकर सूर्य तक हर चीज़ में दिखाई देती है, और यह वस्तुनिष्ठ अस्तित्व में प्रेरित दैवी विचार के एक नियम में प्रतिबिंबित है कि ब्रह्माण्ड का अस्तित्व होना चाहिए। गुह्य शिक्षाओं के अनुसार, उस कल्पित इच्छा और समस्त अस्तित्व का वास्तविक कारण हमेशा छिपा रहता है, और उसके प्रथम उद्भव सबसे अधिक पूर्ण अमूर्तता हैं जिन्हें मन कल्पना कर सकता है। इन अमूर्तताओं को आवश्यक रूप से भौतिक ब्रह्माण्ड के कारण के रूप में माना जाना चाहिए जो स्वयं को इंद्रियों

और समझ के सामने प्रस्तुत करता है; और वे प्रकृति की द्वितीयक तथा अधीनस्थ शक्तियों का आधार हैं, जिनको मानवरूपी (anthropomorphize) बना दिया गया है, जिन्हें हर युग के सामान्य समूह द्वारा ईश्वर और देवताओं के रूप में पूजा जाता है (I, छंद I, श्लोक 7, पृ. 44)।

प्रत्येक राष्ट्र में वृत्त, अज्ञात – 'असीम आकाश' – एक सर्वदा-वर्तमान अमूर्तता का अमूर्त भाग – अज्ञात देव का प्रतीक था ... देव के प्रत्यक्ष प्रकृति तथा स्वाभाविक प्रतीक का इससे बेहतर कोई परिभाषा नहीं दी जा सकती थी – जिसकी परिधि हर जगह (असीम) है, इसलिए उसका केंद्रीय बिंदु भी हर जगह है, दूसरे शब्दों में वह ब्रह्माण्ड के हर बिंदु में है। इस प्रकार अदृश्य देव, ध्यान-चोहान गण, या ऋषि-गण, उनके सांश्लेषिक इकाई समेत है; जिसमें से वह (IT) मनुष्य में पग रखता है (I, 114)।

संपूर्ण ब्रह्माण्ड संवेदनशील प्राणियों के पदानुक्रमों की लगभग अंतहीन श्रृंखला द्वारा निर्देशित, नियंत्रित और अनुप्राणित है, इनमें से प्रत्येक के पास कार्य करने के लिए एक उद्देश्य है, और जिन्हें हम ध्यानी-चोहान या एन्जिल्स या देवता कहते हैं – केवल इस अर्थ में वे "संदेशवाहक" हैं कि वे कार्मिक और ब्रह्माण्डीय नियमों के प्रतिनिधि हैं। वे चेतना और बुद्धिमत्ता की अपने संबंधित स्तर में असीम रूप से भिन्न होते हैं। इनमें से प्रत्येक प्राणी या तो मनुष्य था, या बनने की तैयारी कर रहा है, यदि वर्तमान में नहीं, तो अतीत में या आने वाले चक्र (मन्वंतर) में। वे परिपूर्ण होते हैं, जब प्रारंभिक मनुष्य नहीं होते; और अपने उच्च (कम भौतिक) क्षेत्रों में, लौकिक मनुष्यों से नैतिक रूप से भिन्न हैं, केवल इस मायने में कि वे व्यक्तित्व और मानवीय भावनात्मक प्रकृति की भावना – दो विशुद्ध रूप से सांसारिक विशेषताएं – से रहित हैं। पहले वाले, या "परिपूर्ण" लोग उन भावनाओं से मुक्त हो गए हैं,

क्योंकि (क) उनके पास अब वह मांसल शरीर नहीं हैं जो उनके जीवात्मा को सर्वदा सन्न करता है और (ख) शुद्ध आध्यात्मिक तत्त्व को अबाधित और अधिक मुक्त छोड़ दिया गया है, इसलिए वे मनुष्यों की तुलना में माया से कम प्रभावित होते हैं, जब तक कि मनुष्य सिद्ध (adept) न हो, जो अपने दो व्यक्तित्वों – आध्यात्मिक और भौतिक – को पूरी तरह से अलग रखता है। प्रारंभिक मोनाड, जिनके पास अभी तक कभी भी स्थलीय शरीर नहीं थे, उनमें व्यक्तित्व या अहंकार-वाद की कोई भावना नहीं हो सकती है। ... इनमें से किसी भी प्राणी, उच्च या निम्न, के पास अलग-अलग अस्तित्व के रूप में वैयक्तिकता या व्यक्तित्व नहीं है, इस अर्थ में कि जैसे एक मनुष्य कहता है, "मैं स्वयं हूं और कोई नहीं"; दूसरे शब्दों में, वे पृथ्वी पर मनुष्यों और वस्तुओं जैसी किसी विशिष्ट पृथकता के प्रति सचेत नहीं हैं। वैयक्तिकता उनके संबंधित पदानुक्रमों की विशेषता है, न कि उनकी इकाइयों की; और ये विशेषताएं केवल उस स्तर के हद के साथ बदलती हैं जिससे वे पदानुक्रम संबंधित हैं। ... इसलिए एडवर्ड यंग यह कहने में सही थे कि 'देवगण श्रेष्ठ प्रकार के मनुष्य हैं', और इससे अधिक कुछ नहीं। वे न तो "सहायता करने वाले" और न ही "रक्षा करने वाले" देवता हैं और न ही वे "सर्वोच्च के अग्रदूत" हैं, इससे भी कम वे किसी ईश्वर के "क्रोध के दूत" नहीं हैं, जैसा कि मनुष्य की कल्पना ने रचा है। सुरक्षा के लिए उनकी प्रार्थना करना उतना ही मूर्खतापूर्ण है जितना यह विश्वास करना कि उनकी सहानुभूति किसी भी प्रकार की आराधना से प्राप्त की जा सकती है; क्योंकि वे, स्वयं मनुष्य की तरह ही, अपरिवर्तनीय कर्म और ब्रह्माण्डीय नियम के दास और प्राणी हैं। मनुष्य, उन सभी दिव्य पदानुक्रमों (celestial hierarchies) के सार का एक यौगिक होने के नाते, स्वयं को, एक अर्थ में, किसी भी पदानुक्रम या वर्ग, या यहां तक कि उनके संयोजन से भी श्रेष्ठ बनाने में सफल हो सकता है। ऐसा कहा जाता है, "मनुष्य न तो देवताओं को

प्रसन्न कर सकता है और न ही उन्हें आदेश दे सकता है।" लेकिन अपने निम्न व्यक्तित्व को पंगु (paralyze) बनाकर, और उसके द्वारा अपने उच्च स्व (आत्मा) की एक परमात्मा से अपृथकता के पूर्ण ज्ञान पर पहुंचकर, मनुष्य, अपने भुलोकीय जीवन के दौरान भी, "हम में से एक" बन सकता है। इस प्रकार ज्ञान का फल खाकर, जो अज्ञानता को दूर करता है, मनुष्य एलोहीम या ध्यानियों में से एक बन सकता है; और एक बार उनके स्तर पर, एकजुटता और पूर्ण सद्भाव की भावना, जो हर पदानुक्रम में शासन करती है, को उस पर विस्तार करना चाहिए और हर विशेष परिस्थिति में उसकी रक्षा करनी चाहिए। ... यह आत्मा-पदार्थ के प्रारंभिक विकास और इसके वास्तविक सार की सही समझ पर है कि साधक को अपने मन में गुप्त ब्रह्माण्ड विज्ञान की आगे की व्याख्या के लिए और एकमात्र निश्चित सुराग के लिए निर्भर रहना पड़ता है जो उसके बाद के अध्ययन का मार्गदर्शन कर सकता है (I, 275-276)।

ब्रह्माण्ड में केवल एक ही अविभाज्य और पूर्ण सर्वज्ञता और समझ है – और यह संपूर्ण सीमित ब्रह्माण्ड के प्रत्येक परमाणु और सूक्ष्मतम बिंदु में सिहरन करता है – जिसकी कोई सीमा नहीं है, और जिसे लोग आकाश कहते हैं, जो इसमें निहित किसी भी चीज़ से स्वतंत्र माना जाता है। लेकिन व्यक्त संसार में इसके प्रतिबिंब का पहला विभाजन पूरी तरह से आध्यात्मिक है, और इसमें उत्पन्न होने वाले प्राणी उस चेतना से संपन्न नहीं हैं जिसका संबंध उससे है जिसकी हम अवधारणा करते हैं। व्यक्तित्व और वैयक्तिकता प्राप्त करने से पहले उनमें कोई मानवीय चेतना या समझ नहीं हो सकती (I, 277)।

प्रकृति की संपूर्ण व्यवस्था उच्चतर जीवन की ओर एक प्रगतिशील प्रगति को दर्शाती है। प्रतीत होने वाली सबसे अंधी शक्तियों की कार्रवाई में

एक योजना होती है। अपने अंतहीन अनुकूलन के साथ विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया इसकी साक्षी है। ... यह तथ्य कि अनुकूलन होते हैं, कि अस्तित्व के लिए संघर्ष में योग्यतम जीवित रहते हैं, दर्शाता है कि जिसे "अचेतन प्रकृति" कहा जाता है वह वास्तव में शक्तियों का समुच्चय है जो उन अर्ध-समझ वाले प्राणियों (elementals) द्वारा सफाई से चलाया जाता है तथा जो स्वयं उच्च ग्रहीय आत्माओं (देवगण) द्वारा निर्देशित होते हैं, जिन देवगणों का सामूहिक समुच्चय अव्यक्त ईश्वर का व्यक्त शब्द होता है, और उसी समय यह विश्व का मन और उसका अपरिवर्तनीय नियम बनता है (I, 277-278)।

गुप्त सिद्धांत, केवल *नास्तिका* शब्द के हिंदू अर्थ में या प्रत्येक मानवरूपी बनाये देवता सहित मूर्तियों की अस्वीकृति को छोड़कर, *नास्तिकता* नहीं सिखाता। इस अर्थ में प्रत्येक गुप्त विद्याविद *नास्तिक* है।

यह ब्रह्माण्ड के सामूहिक "निर्माता" या ईश्वर को स्वीकार करता है; एक ब्रह्मा (Demiourgos) – एक "वास्तुकार" के अर्थ में एक भवन के "निर्माता" के रूप में – जहां वास्तुकार ने स्वयं एक पत्थर भी नहीं छुआ किंतु नक्शा प्रस्तुत करके सारा शारीरिक श्रम राजगीरों पर छोड़ दिया; हमारे मामले में नक्शा ब्रह्माण्ड के आदर्श विचार (Ideation) द्वारा प्रस्तुत किया गया, और रचनात्मक श्रम को समझदार शक्तियों और बलों के समूह के लिए छोड़ दिया गया था। लेकिन वह ब्रह्मा कोई व्यक्तिगत देव नहीं है – अर्थात, ब्रह्माण्ड के बाहर का एक अपरिपूर्ण देव नहीं है – बल्कि ध्यानी-चोहानों और अन्य बलों का केवल समुच्चय है।

ध्यानी-चोहान अपने चरित्र में द्वैत हैं; (क) पदार्थ में निहित अतार्किक *पाशविक ऊर्जा*, और (ख) समझदार जीवात्मा या ब्रह्माण्डीय चेतना, जो उस ऊर्जा का निर्देशन और मार्गदर्शन करती है, और जो *वैश्विक मन के आदर्श*

विचार को प्रतिबिंबित करते हुए ध्यानी-चोहानिक विचार है। इसके परिणामस्वरूप मन्वंतर की अवधि में पृथ्वी पर भौतिक अभिव्यक्तियों और *नैतिक प्रभावों* की एक सतत श्रृंखला उत्पन्न होती है, यह संपूर्ण कर्म के अधीन होता है। चूंकि प्रक्रिया हमेशा परिपूर्ण नहीं होती; और चूंकि, पर्दे के पीछे एक मार्गदर्शक समझ के चाहे कितने ही प्रमाण क्यों न प्रदर्शित हों, यह अभी भी अंतराल और त्रुटियां दिखाता है और यहां तक कि प्रायः प्रत्यक्ष विफलताओं में परिणत होता है – इसलिए, न तो सामूहिक देव समूह, और न ही कोई भी अलग देव – अलग कार्यशील शक्तियां दैवीय सम्मान या पूजा के लिए उचित पात्र हैं। हालांकि, ये सभी मानवता की कृतज्ञ श्रद्धा के हकदार हैं, और मनुष्य को अपनी सर्वोत्तम क्षमता से चक्रीय कार्य में *प्रकृति के साथ सहकर्मी* बनकर, विचारों के दैवी विकास में सहायता करने के लिए हमेशा प्रयासरत रहना चाहिए। सर्वदा–अज्ञेय, अगोचर *कारण*, सभी कारणों के *कारणविहीन* कारण मात्र का ही हमारे हृदय की पवित्र और सर्वदा अछूती भूमि पर एक मंदिर और वेदी होनी चाहिए – जो हमारी आध्यात्मिक चेतना की "शांत छोटी आवाज" के अलावा – अदृश्य, अमूर्त, अवर्णित है। जो लोग इसके सामने पूजा करते हैं, उन्हें अपनी जीवात्मा के मौन और पवित्र एकांत में ही ऐसा करना चाहिए; अपनी आत्मा को अपने तथा *वैश्विक आत्मा* के बीच एकमात्र मध्यस्थ बनाते हुए, अपने अच्छे कार्यों (सद्कर्मों) को एकमात्र पुजारी बनाकर, और *उपस्थिति* के लिए अपने पापी इरादों को एकमात्र दृश्यमान और वस्तुनिष्ठ बलि का शिकार बनाते हुए (I, 279-280)।

देवगण और ध्यानी-चोहान (देव) प्रथम कारण से निकलते हैं – जो परब्रह्म नहीं है, क्योंकि परब्रह्म *सर्व कारण* है, और इसे "प्रथम कारण" के रूप में संदर्भित नहीं किया जा सकता है – जिस प्रथम कारण को ब्राह्मण धर्म की पुस्तकों में *जगत-योनि*, "संसार का गर्भाशय" कहा गया है, मानव जाति

ब्रह्माण्ड में इन सक्रिय एजेंटों से निकलती है। ... हमरे दर्शन के अनुसार उच्चतम "निर्मित" देव स्वयं वहीं से आए। जैसा विश्व के साथ एक, चाहे हम उन्हें ब्रह्मा, ईश्वर या पुरुष कहें, वह व्यक्त देव हैं – इसलिए निर्मित, या सीमित और संस्कारग्रस्त हैं। यह बात बाह्य शिक्षाओं से भी आसानी से सिद्ध हो जाती है।

अज्ञात, शाश्वत ब्रह्म (नपुंसक लिंग या अमूर्त), पुंडरीकाक्ष, "सर्वोच्च और अविनाशी महिमा" कहे जाने के बाद, एक बार *सदैक-रूप*, "बदलाव-विहीन" या "अपरिवर्तनीय" प्रकृति के बजाय, एक बार जिसे *एकानेक-रूप* में संबोधित किया गया, "दोनों एकल और कई", वह, कारण, अपने स्वयं के प्रभावों में विलीन हो जाता है; और उनके नाम, यदि गुह्य क्रम में रखे जाएं, तो निम्नलिखित अवरोही माप दर्शाते हैं –

1.	महापुरुष या परमात्मा	परम आत्मा।
2.	आत्मन या पूर्वज (Protologos)	प्रकृति की जीवित आत्मा।
3.	इंद्रियात्मन या हृषीकेश	आध्यात्मिक या बौद्धिक जीवात्मा (इंद्रियों वाला)।
5.	भूतात्मा	जीवित, या जीवन जीवात्मा।
6.	क्षेत्रज्ञ	शरीरधारी जीवात्मा, या आत्मा और पदार्थ का विश्व।
7.	भ्रान्तिदर्शन	मिथ्या अनुभूति – पदार्थीय विश्व।

अंतिम नाम वाला भौतिक रूप को संदर्भित करता है, वास्तव में, यह केवल माया, भ्रम है जैसा कि सब कुछ हमारे भौतिक विश्व में है।

यह आध्यात्मिक और भौतिक दोनों संसारों में अपने गुणों के साथ ठीक-ठीक सादृश्य में है, कि ध्यानी-चोहानिक सार का विकास होता है; उन ध्यानी-चोहानों की विशेषताएं, अपनी बारी में, मनुष्य में, सामूहिक रूप से, और उसके प्रत्येक तत्त्व में परिलक्षित होती हैं; जिनमें से प्रत्येक में, उसी प्रगतिशील क्रम में, उनकी विभिन्न "अग्नि" और तत्त्वों का एक हिस्सा निहित रहता है (II, 108)।

इस संसार के ईश्वर, जिसे इतना "अच्छा" माना जाता है, से भी अधिक "और भी बड़ा सटीक दिव्यता", – कर्म है। और यह सच्ची दिव्यता अच्छी तरह से दर्शाती है कि छोटे देवता, हमारे *आंतरिक* भगवान (कुछ समय के लिए व्यक्तिगत), के पास इस महान देवता (कर्म) के शक्तिशाली हाथ को रोकने की कोई शक्ति नहीं है, यह **कारण** हमारे कार्यों द्वारा छोटे कारणों को उत्पन्न करने से जागृत होता है, जिसे प्रतिकार का नियम (Law of Retribution) कहा जाता है (II, 555 fn.)।

ए ब्लावत्सकी कोटेशन बुक

प्राचीन विश्व के संपूर्ण रहस्यवादी साहित्य में हम आध्यात्मिक गुह्यवाद के एक ही विचार को पाते हैं, कि व्यक्तिगत ईश्वर, उपासक के भीतर मौजूद है, उसके बाहर कहीं नहीं। वह व्यक्तिगत देवता कोई व्यर्थ सांस या कल्पना नहीं है, बल्कि एक अमर इकाई है, दीक्षितों को दीक्षित करने वाला ... अंतर्धारा की तरह, तेज और स्पष्ट, यह एक बाध्य मानवरूपी बनाया (anthropomorphized) देव और धार्मिक असहिष्णुता वाली

हठधर्मिता के गंदे और अशांत पानी के साथ अपनी रवीय शुद्धता को मिश्रित किए बिना चलता है (पृ. 133-34, 29 सितंबर – SD III, 62)।

राजयोग या अकल्टिज़्म - एच. पी. बी.

विश्व में विभिन्न स्तरों और क्षेत्रों में रहने वाले, आध्यात्मिक प्राणियों के समूह या समूहों में, अंतर-ब्रह्माण्डीय चैतन्य प्राणियों में, विश्वास, वास्तव में तार्किक और उचित है, जबकि ब्रह्माण्ड के बाहर एक ईश्वर में विश्वास मूर्खता है (पृ. 96)। ... एक बार जब हम अपने जीवात्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं, तो हम ध्यान चोहानों में भी विश्वास कर सकते हैं। जैसा कि हरे का कहना है – "मनुष्य आध्यात्मिक और मांसल शरीर से बना एक मिश्रित प्राणी है; देवगण शुद्ध आत्माएं हैं, ईश्वर के अधिक निकट हैं, केवल इतना है कि वे सभी प्रकार से निर्मित और सीमित हैं, जबकि ईश्वर *अनंत और अनिर्मित* है।" और यदि ईश्वर यह बाद वाला है, तो ईश्वर एक "प्राणी" नहीं है, बल्कि एक निराकार या अमूर्त तत्त्व है, जिसे निन्दापूर्वक मानवरूपी नहीं बनाना है। देवगण या ध्यान चोहान "जीवित लोग" हैं; वह तत्त्व "स्वयं-अस्तित्व", शाश्वत और सभी कारणों का सर्वव्यापी कारण, "जीवन की सरिता" का केवल अमूर्त सार है, जिसकी हमेशा घूमती लहरें देवों और मनुष्यों को समान रूप से बनाती हैं, देवता केवल "एक उच्चतर प्रकार के मनुष्य हैं," जैसे यंग बोधि-भाव से टिप्पणी करते हैं।

इस प्रकार मानव जाति के जन-साधारण का ईश्वरों या देवों में विश्वास करना उचित है। यद्यपि इन देवताओं को "कुछ मामलों में मनुष्य से श्रेष्ठ" कहा जाता है, लेकिन यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि मानवीय आत्मा की सुषुप्त शक्तियां देवताओं से बिल्कुल भी कमतर हैं। देवों की क्षमताएं सामान्य मनुष्य की तुलना में अधिक विस्तृत हैं; लेकिन अंतिम

प्रभाव के साथ उनके विस्तार की एक सीमा निर्धारित है, ऐसी सीमा के अधीन मानवीय आत्मा नहीं है। इस तथ्य को *महाभारत* में अर्जुन द्वारा नर (एक मनुष्य) के नाम से अकेले ही देवों और देव-योनियों (निचले प्रारंभिक जीवों) के पूरे समूह पर विजय करने के प्रतीक द्वारा अच्छी तरह से दर्शाया गया है। और हम बाइबल में मनुष्य में उसी शक्ति का संदर्भ पाते हैं, क्योंकि सेंट पॉल अपने दर्शकों से स्पष्ट रूप से कहते हैं "क्या तुम नहीं जानते कि हम देवताओं का न्याय करेंगे" (I. कोरिंथिअन. vi, 3)? (लेख – *Thoughts on the Elementals,* पृ. 97)

दि की टू थिऑसोफी

हमारा देव न तो किसी स्वर्ग में है, न ही किसी विशेष पेड़, भवन या पर्वत में है; यह सर्वत्र है, दृश्य और अदृश्य ब्रह्माण्ड के हर परमाणु में, हर अदृश्य परमाणु और विभाज्य अणु, में, ऊपर और चारों ओर; क्योंकि यह विकास (evolution) और अंतर्विलयन (involution) की, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान और यहां तक कि सर्वज्ञ रचनात्मक क्षमता वाली रहस्यमय शक्ति है (थिऑसोफी कंपनी द्वारा प्रकाशित पुस्तक, पृ. 64)।

संक्षेप में, हमारा देव शाश्वत, निरंतर *विकासशील* है, वह ब्रह्माण्ड का सृजन कर्ता और निर्माता नहीं है; ब्रह्माण्ड *स्वयं अपने सारवस्तु* (essence) *से व्यक्त* हो रहा है, *बनाया नहीं* जा रहा है। अपने प्रतीकवाद में, यह परिधि रहित एक गोला है, जिसमें अन्य सभी वर्तमान या सोचने योग्य गुणों को सम्मिलित करने वाला केवल एक ही सर्वदा-क्रियाशील गुण है – वह स्वयं है। यह एक ऐसा नियम है, जो उस *कभी न व्यक्त होने* वाले के भीतर व्यक्त, शाश्वत और अपरिवर्तनीय नियमों को आवेग देता है, क्योंकि यह परम नियम है, जो अपने व्यक्त अवधियों में *सर्वदा-बनना* है (*ibid.* पृ. 65)।

आंतरिक मनुष्य ही एकमात्र ईश्वर है जिसका हम संज्ञान ले सकते हैं। और यह अन्यथा कैसे हो सकता है? हमारे स्वयं सिद्ध सिद्धांत को स्वीकार करें कि ईश्वर एक सार्वभौमिक रूप से व्याप्त, अनंत सारतत्त्व है, और मनुष्य ही उस दिव्य तत्त्व से, द्वारा, और *अन्दर*, सिक्त हुए बिना कैसे बच सकता है? हम उस दिव्य सत्व, जिसका हम अपने अन्दर, अपने हृदय तथा आध्यात्मिक चेतना में संज्ञान पाते हैं, को हमारा "स्वर्ग में पिता" कहते हैं, और उसका उस मानवरूपी धारणा जिसे हम अपने भौतिक मस्तिष्क में बना सकते या उसकी कल्पना करते हैं, से कुछ लेना-देना नहीं है। "क्या तुम नहीं जानते कि तुम ईश्वर का मंदिर हो, और यह कि परम ईश्वर की आत्मा तुम्हारे अन्दर निवास करती है?" फिर भी किसी मनुष्य द्वारा हमारे अन्दर के उस सारतत्त्व को मानवरूपी न बनने दें। किसी थिऑसोफिस्ट को, यदि वह दिव्य, न कि मानवीय सत्य को मानता है, यह नहीं कहना है कि "रहस्य में ईश्वर" सुनता है, या सीमित मनुष्य से अथवा अनंत सार से पृथक है – क्योंकि सभी एक हैं (*ibid.* पृ. 66-67)।

प्रैक्टिकल अकल्टिज़्म - एच. पी. बी.

हमारे अन्दर का "ईश्वर" – अर्थात प्रेम और सत्य, न्याय और प्रज्ञा, अच्छाई और शक्ति का भाव – हमारा एकमात्र सच्चा और स्थायी *प्रेम* होना चाहिए, हर चीज में हमारा एकमात्र भरोसा, हमारी एकमात्र *श्रद्धा*, जो दृढ़ता से खड़ी एक चट्टान की तरह, सर्वदा भरोसेमंद है; हमारी एकमात्र *आशा*, जो अन्य सभी चीज़ों के नष्ट हो जाने पर भी हमें कभी विफल नहीं करेगी; और एकमात्र वस्तु जिसे हमें धैर्यपूर्वक प्राप्त करना चाहिए, संतुष्ट होकर तब तक प्रतीक्षा करना चाहिए जब तक कि हमारे बुरे कर्म समाप्त न हो जाएं और दिव्य मुक्तिदाता हमारी जीवात्मा के भीतर अपनी उपस्थिति प्रकट न कर दें (*दैनिक जीवन के लिए कुछ व्यावहारिक सुझाव*, भाग II, पृ. 72-73)।

महात्मा के पत्र

देवों और ईश्वर में विश्वास तथा अन्य अंधविश्वास ऐसे मनुष्यों के आसपास लाखों बाहरी/अज्ञात प्रभावों, जीवित इकाइयों और शक्तिशाली एजेंटों को आकर्षित करते हैं, जिन्हें दूर करने के लिए हमें शक्ति के सामान्य अभ्यास से अधिक का उपयोग करना होगा। हम ऐसा करना नहीं चुनते. हमें उन अविकसित ग्रहीय आत्माओं से युद्ध छेड़ने में अपना समय बर्बाद करना आवश्यक या लाभदायक नहीं लगता है, जो देवताओं और कभी-कभी पृथ्वी पर रहे हुए प्रसिद्ध व्यक्तियों का प्रतिरूपण (personate) करने में प्रसन्न होते हैं। ध्यान चौहान और 'अंधेरे के चौहान' हैं, जिन्हें वे शैतान नहीं कहते हैं, बल्कि अपरिपूर्ण "समझ" हैं, जिनका इस या किसी अन्य पृथ्वी या क्षेत्र में जन्म "ध्यान चोहान" से कभी भी अधिक नहीं हुआ है, और जो "ब्रह्माण्ड के निर्माताओं", शुद्ध ग्रहीय समझों, जो प्रत्येक मन्वंतर की अध्यक्षता करते हैं, से कभी भी संबद्ध नहीं होंगे, जबकि अंधेरे चोहान प्रलय की अध्यक्षता करते हैं ... चूंकि इस ब्रह्माण्ड में सब कुछ व्यतिरेक (contrast) है, इसलिए ध्यान चोहान का प्रकाश और उनकी शुद्ध समझ के व्यतिरेक में "मो-मो चौहान" और उनकी विनाशकारी समझ है। ये वे देवता हैं जिनकी पूजा हिंदू, ईसाई, मुसलमान और अन्य सभी कट्टर धर्म और संप्रदाय वाले करते हैं; और जब तक उनका प्रभाव उनके भक्तों पर है, तब तक हम उनके साथ जुड़ने या उनके काम में उनका विरोध करने के बारे में नहीं सोचेंगे। ... उनका नियम अंधकार, अज्ञान, विनाश आदि है, जबकि ध्यान चोहानों का नियम प्रकाश, ज्ञान और सृजन है। ध्यान चोहान बुद्ध, दिव्य बुद्धि और आनंदमय ज्ञान में जीवन का प्रत्युत्तर हैं, और "मा-मो गण" शिव, यहोवा और अन्य आविष्कृत राक्षसों की प्रकृति के अवतार हैं जिनके पीछे अज्ञान है (पत्र सं. 30, पृ. 95-96)।

सात समूह जो हमारे चारों ओर आत्मनिष्ठ (subjective) संसार के निवासियों के प्रमुख प्रभाग बनाते हैं, वे हैं –

1. "रूप-देव" – ध्यान चोहान, रूप वाले — भूतपूर्व मनुष्य
2. "अरूप-देव" – ध्यान चोहान जिसका कोई रूप नहीं है — भूतपूर्व मनुष्य
3. "पिशाच गण" – (दो-तत्त्वों वाले) भूत।
4. "मारा-रूप" – मौत के लिए अभिशप्त (3 तत्त्व वाले)
5. असुर – प्रारंभिक जीव (Elementals) – मानव रूपधारी — भविष्य के मनुष्य
6. जानवर – प्रारंभिक जीव द्वितीय श्रेणी – पशु प्रारंभिक जीव — भविष्य के मनुष्य
7. राक्षस (दानव) जीवात्माएं या काले जादूगरों के एस्ट्रल रूप; वे मनुष्य जो निषिद्ध कला में ज्ञान के शीर्ष पर पहुंच गए हैं। जीवित हों या मृत, उन्होंने प्रकृति को धोखा दिया है; लेकिन यह केवल अस्थायी है – जब तक कि हमारा ग्रह निष्क्रियता में नहीं चला जाता, जिसके बाद उन्हें चाहे-अनचाहे अवश्य नष्ट होना होगा।

ऊपर की श्रेणी संख्या 1 के अस्तित्व, पदार्थ के इस संसार के समझदार शासक हैं, और जो, इस सारी समझ के साथ, **केवल** एक के अंध आज्ञाकारी उपकरण, एक निष्क्रिय तत्त्व के सक्रिय एजेंट हैं (*ibid,* 68, पृ. 196)।

"न तो हमारा दर्शन और न ही हम ईश्वर में विश्वास करते हैं, कम से कम उस ईश्वर में जिसके उच्चारण के लिए (अंग्रेजी के) बड़े अक्षर एच (H) की आवश्यकता होती है। हमारा दर्शन हॉब्स की परिभाषा के अंतर्गत आता

है। यह मुख्य रूप से कारणों द्वारा उनके प्रभावों का और प्रभावों द्वारा उनके कारणों का विज्ञान है, और चूंकि यह प्रथम सिद्धांत से परिणाम निकाली चीजों का विज्ञान भी है, जैसा कि बेकन ने इसे परिभाषित किया है, ऐसे किसी भी तत्त्व को स्वीकार करने से पहले हमें इसे जानना चाहिए, और इसकी संभावना को भी स्वीकार करने का कोई अधिकार नहीं है। ... हमारा सिद्धांत कोई समझौता नहीं जानता है। यह या तो पुष्टि करता है या नकारता है, क्योंकि यह केवल वही सिखाता है जो यह जानता है कि सत्य है। इसलिए, हम दार्शनिक और बौद्ध दोनों के रूप में ईश्वर को नकारते हैं। हम जानते हैं कि ग्रहीय और अन्य आध्यात्मिक जीवन हैं, और हम जानते हैं कि हमारे प्रणाली में ऐसी कोई चीज़ ईश्वर जैसी नहीं है, या तो व्यक्तिगत या अवैयक्तिक ईश्वर। परब्रह्म कोई ईश्वर नहीं है, बल्कि परम अपरिवर्तनीय नियम है, और ईश्वर अविद्या तथा माया का प्रभाव है, जो महान भ्रम पर आधारित अज्ञान है। "ईश्वर" शब्द का आविष्कार उन अज्ञात कारणों को दर्शाने के लिए किया गया था, जिनके प्रभावों की मनुष्य ने या तो प्रशंसा किया है या उन्हें समझे बिना भयभीत हुआ है, और चूंकि हम दावा करते हैं और हम जो दावा करते हैं उसे प्रमाणित करने में सक्षम हैं – यानी, उस कारण और कारणों का ज्ञान – हम यह कहने की स्थिति में हैं कि उनके पीछे कोई ईश्वर, कई ईश्वर नहीं हैं।

ईश्वर का विचार अंतर्जात (innate) नहीं है बल्कि अर्जित भाव है, और धर्मशास्त्रों के साथ हमारे पास केवल एक चीज असामान्य है – कि हम अनंत को प्रकट करते हैं। लेकिन जब हम उन सभी घटनाओं, जो अनंत और असीम आकाश, अवधि और गति से निकलती हैं, के *पदार्थीय*, *प्राकृतिक*, *अनुभूत* और *ज्ञात* (कम से कम हमारे लिए) कारण बताते हैं, तो आस्तिक (theists) लोग उनका आध्यात्मिक, *अलौकिक* और *अबोधगम्य* तथा अज्ञात कारण बताते हैं। धर्मशास्त्रियों का ईश्वर बस एक काल्पनिक शक्ति

है, जैसा कि डी'होल्बैक ने मिथक भेड़ियामानव की तरह बताया – एक ऐसी शक्ति जो अभी तक स्वयं व्यक्त नहीं हुई है। हमारा मुख्य उद्देश्य मानवता को इस दुःस्वप्न से मुक्ति दिलाना है, मनुष्य को सदगुण केवल उसके लिए ही सिखाना है, और धर्मशास्त्रीय बैसाखी पर निर्भर होने के बजाय स्वयं पर भरोसा करते हुए जीवन में चलना है, जो (धर्मशास्त्रीय बैसाखी) अनगिनत युगों से लगभग सभी मानवीय दुखों का प्रत्यक्ष कारण था। हमें सर्वेश्वरवादी (pantheist) कहा जा सकता है – कभी भी अज्ञेयवादी (agnostic) नहीं। यदि लोग शाश्वत में अपरिवर्तनीय और अचेतन रूप में हमारे एक जीवन को स्वीकार करने और ईश्वर के रूप में मानने के इच्छुक हैं, तो वे ऐसा कर सकते हैं और इस प्रकार एक और विशाल मिथ्या नाम रख सकते हैं। ... जब हम एक जीवन की बात करते हैं तो हम यह भी कहते हैं कि यह पदार्थ के प्रत्येक परमाणु में प्रवेश करता है, बल्कि यह पदार्थ के प्रत्येक परमाणु का सार है; और इसलिए यह न केवल पदार्थ के तदुनुरूप है, बल्कि इसके सभी गुण भी रखता है, आदि – इसलिए यह पदार्थीय है, स्वयं *पदार्थ* ही है।

हम अद्वैतवादी नहीं हैं, लेकिन एक जीवन के संबंध में हमारी शिक्षा अद्वैतवादी के परब्रह्म संबंधित शिक्षा के समान है। और कोई भी सच्चे दार्शनिक रूप से प्रशिक्षित अद्वैतवादी कभी भी स्वयं को अज्ञेयवादी नहीं कहेगा, क्योंकि वह जानता है कि वह परब्रह्म है और हर मामले में वैश्विक जीवन तथा वैश्विक जीवात्मा के समान है – बृहत् जगत सूक्ष्म जगत है और वह जानता है कि उससे अलग कोई ईश्वर नहीं है, कोई सृजक नहीं, कोई जीव नहीं है। सही ज्ञान को पाने के बाद हम इससे मुंह नहीं मोड़ सकते और अज्ञेयवादी नहीं बन सकते" (*ibid,* 88, पृ. 269-271)।

"जहां तक ईश्वर की बात है – चूंकि किसी ने भी उसे कभी भी या किसी समय नहीं देखा है – *यदि वह इस असीम शाश्वत पदार्थ का सार तथा*

प्रकृति, उसकी ऊर्जा और गति नहीं है, तो हम उसे शाश्वत या अनंत या स्वयं विद्यमान नहीं मान सकते। हम किसी ऐसे प्राणी या अस्तित्व को स्वीकार करने से इनकार करते हैं जिसके बारे में हम बिल्कुल कुछ भी नहीं जानते हैं; क्योंकि (क) उस पदार्थ, जिसके निर्विवाद गुणों और विशिष्ट गुणवत्ता को हम अच्छी तरह से जानते हैं, की उपस्थिति में उसके लिए कोई जगह नहीं है (ख) क्योंकि यदि वह उस पदार्थ का एक हिस्सा है, तो यह मानना हास्यास्पद है कि वह उसका संचालक और शासक है जिसका वह केवल एक आश्रित हिस्सा है और (ग) क्योंकि यदि वे हमें बताते हैं कि ईश्वर पदार्थ से स्वतंत्र स्वयं-अस्तित्व वाला शुद्ध आत्मा है – एक ब्रह्माण्ड से परे देव, तो हम उत्तर देते हैं कि ऐसी असंभवता की संभावना को भी स्वीकार करते हुए, यानी, उसका अस्तित्व, हम अभी भी मानते हैं कि एक विशुद्ध रूप से अपदार्थीय आत्मा एक समझदार चैतन्य शासक नहीं हो सकता है और न ही उसके पास धर्मशास्त्र द्वारा प्रदत्त कोई भी गुण हो सकते हैं, और इस प्रकार ऐसा ईश्वर फिर से एक अंधी शक्ति बन जाता है" (*ibid,* 88, 272)।

"मनुष्य की लगभग दो-तिहाई बुराइयों का सबसे बड़ा, मुख्य कारण जो मानवता को परेशान कर रहा है, जब से वह कारण एक शक्ति बन गया है। वह किसी भी रूप में और किसी भी राष्ट्र में धर्म है। यह पुजारी जाति, पुरोहित वर्ग और चर्च है; यह उन भ्रमों में है जिन्हें मनुष्य पवित्र मानता है, कि उसे उस असंख्य बुराइयों के स्रोत की खोज करनी है जो मानवता का महान अभिशाप है और जो लगभग मानव जाति को अभिभूत कर देता है। अज्ञानता ने देवताओं को बनाया और धूर्तों ने अवसर का लाभ उठाया। ... यह ईश्वर और देवताओं में विश्वास है जो दो-तिहाई मानवता को उन मुट्ठी भर लोगों का गुलाम बनाता है जो उन्हें बचाने के झूठे बहाने के तहत धोखा देते हैं" (*ibid,* 88, 274)।

फिलॉसोफी ऑफ दि भगवद् गीता – टी. सुब्बा राव

अधिकांश हिंदू पुराणों में बताया गया है कि देवताओं का अस्तित्व स्वर्ग में है।

पुराणों में वर्णित सभी देवगण स्वर्ग में नहीं हैं। वसु, रुद्र, आदित्य और कुछ अन्य वर्ग निस्संदेह देव कहलाते हैं। लेकिन यक्ष, गंधर्व, किन्नर और कई अन्य गण एस्ट्रल प्रकाश के स्तर में मौजूद प्राणियों में शामिल होने चाहिए।

एस्ट्रल तल में निवास करने वाले इन प्राणियों को हमारे थिऑसोफिकल लेखन में प्रारंभिक जीव (Elementals) के सामान्य नाम से पुकारा जाता है। लेकिन यथोचित तथाकथित प्रारंभिक जीवों के अलावा, इनसे उच्चतर प्राणी भी हैं, और इन्हीं पर देव नाम वास्तव में लागू होता है। यह सोचने की त्रुटि न करें कि देव शब्द का अर्थ भगवान है, और क्योंकि हमारे पास तैंतीस करोड़ देवता हैं, इसलिए हम तैंतीस करोड़ देवताओं की पूजा करते हैं। देव एक प्रकार का आध्यात्मिक प्राणी है, और क्योंकि देव शब्द ही है जिसका सामान्य बोलचाल में अर्थ ईश्वर होता है, लेकिन इसका यह मतलब कतई नहीं है कि हमारे पास तैंतीस करोड़ देवता हैं और हम उनकी पूजा करते हैं। जैसा कि स्वाभाविक रूप से अनुमान लगाया जा सकता है, इन प्राणियों का उन तीन संघटक उपाधियों – जिनमें हमने मनुष्य को विभाजित किया है – में से एक के साथ एक निश्चित लगाव है।

एक जीव का हमेशा उस दूसरे जीव के साथ एक निश्चित लगाव होता है जो जीव समान पदार्थ से बना होता है और उसी स्तर पर विद्यमान होता है। जैसा कि स्वाभाविक रूप से आशा की जा सकती है, मनुष्य के एस्ट्रल शरीर

का प्रारंभिक जीवों (elementals) के साथ लगाव है, और मनुष्य के तथाकथित कारण-शरीर का देवताओं के साथ लगाव है। हिंदू दर्शन के पुरातन लेखकों ने ब्रह्माण्ड को तीन लोकों में विभाजित किया है। पहला भूलोक, दूसरा भुवर्लोक और तीसरा सुवर्लोक। भुवर्लोक, वास्तव में, एस्ट्रल स्तर है। सुवर्लोक वह है जिसे आम तौर पर स्वर्ग के नाम से जाना जाता है। यह थिऑसोफिकल लेखन और बौद्धों का देवाचन है। इस स्थान पर, हम तथाकथित देवगणों के उच्चतर क्रम को पाते हैं।

कारण-शरीर के अस्तित्व के स्तर को सूत्रात्मा कहा जाता है, क्योंकि, धागे पर बंधे कई मनकों की तरह, इस कारण-शरीर पर क्रमिक व्यक्तित्व पिरोए जाते हैं, जैसे जैसे व्यक्ति पुनर्जन्म के बाद पुनर्जन्म से गुजरता है। व्यक्तित्व से तात्पर्य एक सांसारिक जन्म के अनुभव से संबंधित, अपने निश्चित संघों (associations) के साथ स्वयं का निरंतर विचार है (पृ. 40-43)।

मान लें कि किसी मनुष्य ने अपना सारा जीवन प्रारंभिक जीवों के आह्वान के लिए समर्पित कर दिया है। ऐसे मामले में या तो प्रारंभिक जीव मनुष्य पर कब्ज़ा कर लेते हैं और उसे माध्यम बना लेते हैं, या, यदि वे ऐसा पूरी तरह से नहीं करते हैं, तो वे उसके सूक्ष्म शरीर पर कब्जा कर लेते हैं और मृत्यु के समय उसे अवशोषित कर लेते हैं। बाद के मामले में एस्ट्रल शरीर, जो एक स्वतंत्र प्रारंभिक जीव के साथ जुड़ा हुआ है, काफी समय तक अस्तित्व में बना रहेगा। लेकिन यद्यपि प्रारंभिक जीव की पूजा माध्यमत्व (mediumship) की ओर ले जा सकती है – अधिकांश मामलों में गैर-जिम्मेदार माध्यमत्व – और एक व्यक्ति की समझ को भ्रमित कर सकती है, और उसे नैतिक रूप से पहले से भी बदतर बना सकती है, ये प्रारंभिक जीव *कारण-शरीर* को नष्ट करने में सक्षम नहीं होंगे। फिर भी यह किसी भी

तरह से वांछनीय बात नहीं है कि हम स्वयं को प्रारंभिक जीवों के नियंत्रण में रखें।

तथापि एक अन्य प्रकार की पूजा है जिसको मनुष्य कर सकता है, तथा जो और अधिक गंभीर परिणाम में ले जा सकती है। एस्ट्रल शरीर के साथ जो हो सकता है, वह *कारण-शरीर* के साथ भी हो सकता है। *कारण-शरीर* स्वर्ग में देवताओं के साथ वही संबंध रखता है जो एस्ट्रल शरीर एस्ट्रल स्तर पर प्रारंभिक जीवों के साथ रखता है। इस देवलोक में ऐसे प्राणी या अस्तित्व हैं, जिनमें कुछ दुष्ट और कुछ अच्छे हैं, और यदि एक मनुष्य जो इन शक्तियों को जगाना चाहता है, उन पर अपना ध्यान केंद्रित करे, तो यथासमय वह इन शक्तियों को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है, और यह बिल्कुल संभव है कि जब इन प्राणियों पर उसके ध्यान की एकाग्रता से उत्पन्न बल एक निश्चित मात्रा में शक्ति प्राप्त कर लेता है, तो *कारण-शरीर* को इन देवताओं में से एक में अवशोषित किया जा सकता है, जैसे एस्ट्रल शरीर को प्रारंभिक-जीव में अवशोषित किया जा सकता है। यह प्रारंभिक-जीवों की पूजा के मामले में मनुष्य के साथ होने वाले किसी भी परिणाम से कहीं अधिक गंभीर परिणाम है, इसका सरल कारण यह है कि उसके पास ईश्वर तक पहुंचने की अब कोई संभावना नहीं है। उसका संपूर्ण वैयक्तित्व (individuality) इन प्राणियों में से एक में समाया हुआ है, और यह तब तक अस्तित्व में रहेगा जब तक वह प्राणी अस्तित्व में है, और उससे अधिक नहीं। जब ब्रह्माण्डीय प्रलय आएगा तो यह विलीन हो जाएगा जैसे ये सभी प्राणी विलीन हो जाएंगे। उसके लिए कोई अमरत्व नहीं है। उसका जीवन सचमुच में लाखों वर्षों तक हो सकता है, लेकिन अमरत्व की तुलना में लाखों वर्ष क्या है? ... जब वाममार्ग का अनुसरण करने वाले लोग प्रकृति में कुछ दुष्ट शक्तियों को जागृत करते हैं, तो वे अपने वैयक्तित्व को उन शक्तियों में स्थानांतरित कर सकते हैं, और ब्रह्माण्डीय प्रलय के समय तक उनमें बने रह

सकते हैं। ये तब ब्रह्माण्ड में विकट शक्तियां बन जायेंगे, और मानव जाति के मामलों में काफी हद तक हस्तक्षेप करेंगे तथा मानवता के लिए और अधिक कष्टकारी साबित हो सकते हैं (पृ. 51-53)।

इन्हीं कारणों से सभी महान धर्मों ने इस महान सत्य को समझाया है कि मनुष्य को किसी प्राप्ति या लाभ के लिए, या किसी वस्तु के अर्जन हेतु, चाहे वह वस्तु उस समय कितनी भी आकर्षक क्यों न हो, ऐसी किसी भी शक्ति की पूजा नहीं करनी चाहिए, बल्कि पूरी तरह से अपना ध्यान और पूजा दुनिया के हर सच्चे और महान धर्म द्वारा स्वीकृत एक सच्चे ईश्वर के प्रति समर्पित करना चाहिए, क्योंकि केवल वही एक व्यक्ति को सच्चे नैतिक मार्ग पर सुरक्षित रूप से ले जा सकता है, और उसे उच्चतर से उच्चतर उठने में सक्षम बना सकता है, जब तक कि वह उसमें (ईश्वर) एक अमर प्राणी की तरह रहता है, ब्रह्माण्ड के व्यक्त ईश्वर के रूप में, और यदि आवश्यक हो तो आने वाली पीढ़ियों के लिए आध्यात्मिक ज्ञान के स्रोत के रूप में (पृ. 54)।

ए बुक ऑफ़ कोटेशन्स - रॉबर्ट क्रॉस्बी

हमें यह समझना होगा कि ईश्वर, देव, किसी भी चीज़ से अनुपस्थित नहीं है, संपूर्ण में अंतर्निहित है, सर्वव्यापी है, हर जगह हर प्रकार के अस्तित्व का मूल और बीज है; कि उस स्रोत, जो पूरे व्यक्त ब्रह्माण्ड को बनाए रखता है, से अनुपस्थित कुछ भी नहीं है, यहां तक कि रेत का एक दाना और धूल का एक कण भी नहीं (पृ. 21)।

मेडिटेशंस ऑन दि पाथ एंड इट्स क्वालिफिकेशन्स – एनी बेसेंट

योगियों के लिए ... उसके अस्तित्व के अन्दर ही स्व (आत्मा) के

साक्ष्य के सिवाय ईश्वर का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है, और ईश्वर का प्रमाण पाने का उनका विचार यह है कि आपको अपनी चेतना से सभी सीमाओं को हटा देना चाहिए, और इस प्रकार इस अवस्था तक पहुंचना चाहिए जहां पतले निर्वाणीय पदार्थ के पर्दे के अलावा आपकी शुद्ध चेतना है। तब आप जानते हैं कि ईश्वर है (पृ. 187-88)।

प्रैक्टिकल वेदांत – स्वामी विवेकानन्द

अनंत को मानो ढक दिया गया है, और इसका थोड़ा सा हिस्सा 'मैं' के रूप में व्यक्त होता है। असीमित पर सीमा कभी भी नहीं आ सकती; यह एक कल्पना है। इसलिए, आत्मा को हममें से हर कोई जानता है – पुरुष, महिला, या बच्चा – और यहां तक कि जानवर भी। उसे जाने बिना हम न तो जी सकते हैं, न चल सकते हैं, न ही अपना अस्तित्व रख सकते हैं; इस सबके स्वामी को जाने बिना, हम एक क्षण भी सांस नहीं ले सकते या जीवित नहीं रह सकते। वेदांत का ईश्वर सबसे अधिक ज्ञात है और वह कल्पना का परिणाम नहीं है (*Practical Vedanta,* – अद्वैत आश्रम, प्रकाशन विभाग, कलकत्ता, पृ. 27)।

पृथ्वी भगवान का प्रतीक है, आकाश भगवान है, जिस स्थान को हम भरते हैं वह भगवान है, सब कुछ ब्रह्म है। और इसे देखा जाना चाहिए, बोध किया जाना चाहिए, न कि केवल बात की जानी चाहिए या इसके बारे में सोचा जाना चाहिए। हम इसके तार्किक परिणाम के रूप में देख सकते हैं कि जब जीवात्मा को यह बोध हो जाता है कि सब कुछ भगवान से, ब्रह्म से भरा है, तो उसे परवाह नहीं होगी कि वह स्वर्ग में जाए, या नरक में, या कहीं और; चाहे वह दोबारा इस धरती पर जन्म ले या फिर स्वर्ग में। इन बातों का जीवात्मा के लिए कोई मतलब नहीं रह गया है, क्योंकि हर स्थान एक जैसा

है, हर स्थान भगवान का मंदिर है, हर स्थान पवित्र हो गया है और वह सब कुछ जो देखता है केवल ब्रह्म की उपस्थिति स्वर्ग, या नरक, या अन्य किसी भी स्थान में। न अच्छा, न बुरा, न जीवन, न मौत – केवल एक ही अनंत ब्रह्म विद्यमान है। वेदांत के अनुसार, जब कोई व्यक्ति उस अनुभूति पर पहुंच जाता है, तो वह स्वतंत्र हो जाता है, और वह एकमात्र व्यक्ति है जो इस दुनिया में रहने के लिए उपयुक्त है। अन्य नहीं हैं (*ibid.*, पृ. 46-47)।

यहां पूजा करने, तुम्हारी पूजा करने से अधिक व्यावहारिक क्या है? मैं तुम्हें देखता हूं, तुम्हें अनुभव करता हूं और मैं जानता हूं कि तुम भगवान हो। मुसलमान कहते हैं, अल्लाह के अलावा कोई भगवान नहीं है। वेदांत कहता है, ऐसा कुछ भी नहीं है जो ईश्वर नहीं है। यह विचार तुममें से कई लोगों को भयभीत कर सकता है, लेकिन धीरे-धीरे तुम इसे समझ जाओगे। जीवित ईश्वर तुम्हारे भीतर है, और फिर भी तुम मंदिर और चर्च बना रहे हो और सभी प्रकार की काल्पनिक बकवास पर विश्वास कर रहे हो। पूजा करने योग्य एकमात्र ईश्वर मानव शरीर में मानवीय जीवात्मा है। निःसंदेह सभी जानवर भी मंदिर हैं, लेकिन मनुष्य सबसे ऊंचा है, मंदिरों का ताजमहल। यदि मैं उसमें पूजा नहीं कर सका तो किसी अन्य मंदिर का कोई लाभ नहीं होगा। जिस क्षण मैंने बोध कर लिया कि भगवान हर मानव शरीर के मंदिर में बैठे हैं, जिस क्षण मैं हर मनुष्य के सामने श्रद्धा से खड़ा होता हूं और उसमें भगवान को देखता हूं – उस क्षण मैं बंधन से मुक्त हो जाता हूं, जो कुछ भी बांधता है वह गायब हो जाता है, और मैं स्वतंत्र हूं (*ibid.,* पृ. 50-51)।

देवगण और मनुष्य (Devas and Men)

यहूदी और ईसाई प्रथा में, देवों के नौ मान्यता प्राप्त क्रम हैं –

1. थोर्नेस (THORNES) – शासक ईश्वर – पिता – शिव के कार्य

का प्रतिनिधित्व करते हैं

2. सेराफिम (SERAPHIM) – संचालन में वैश्विक प्रेम – एकजुट या केन्द्राभिमुख शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है – ईश्वर पुत्र – विष्णु, क्राइस्ट
3. चेरुबिम (CHERUBIM) – संचालन में वैश्विक मन – पवित्र आत्मा – ब्रह्मा – प्रकृति की आत्मा जिसमें हमारी जगतमाता के देव शामिल हो सकते हैं जिनके विभाग में प्रकृति का मादा आधा सम्मिलित है।
4. प्रभुत्व (DOMINATIONS) – आपूर्ति और मांग के एजेंट – प्रकृति की अर्थव्यवस्था।
5. रियासतें (PRINCIPALITIES) – जो क्षेत्रों, राष्ट्रों आदि पर शासन करती हैं।
6. शक्तियां (POWERS) – कारण और प्रभाव के सार्वभौमिक नियमों से निपटती हैं और सभी बुराईयों को अच्छाई में बदलने का काम करती हैं – कर्म के देवता।
7. सदगुण (VIRTUES) अधिक ठोस मानसिक और एस्ट्रल पदार्थों से संबंधित हैं।
8. देवदूत (ANGELS) – अक्सर एस्ट्रल रूप और पदार्थ के – वनस्पति साम्राज्य को नियंत्रित करते हैं
9. उच्च देवदूत (ARCHANGELS) – एक ओर 'कर्मचारी-अधिकारी' हैं, और दूसरी ओर पशु साम्राज्य को नियंत्रित करते हैं।

(अन्य दो प्रकार हैं – ब्रह्माण्डीय – हमारी संसार की श्रृंखला की सीमाओं से परे, यहां तक कि हमारे सौर मंडल से भी परे के देवगण।)

प्राणियों की ये नौ श्रेणियां मानव साम्राज्य – या तो हमारे अपने या किसी पिछले – से होकर गुजर चुकी हैं और जिनमें देवत्व के दो बड़े आयाम, देव और मनुष्य पूरी तरह से मिश्रित हैं (पृ. 98-100)।

एच.पी. ब्लावत्सकी का कहना है कि दिव्य प्राणियों का एक समूह, जिन्हें सार्वभौमिक रूप से सात आदिम देवता – ध्यानी चोहान – कहा जाता है, को 'सात आदिम किरणें या शक्तियां' कहा जाता है, जिन्हें प्रजापति या पूर्वज भी कहा जाता है। वे सात ग्रहों के स्वामी हैं और हमारे ब्रह्माण्ड के निर्माता हैं। ये देवता हमारे ग्रह प्रणाली के सात क्षेत्रों के प्राकृतिक संरक्षक हैं। वे सात और फिर दस हैं, जो सात और दस सेफ़िरोथ के अनुरूप हैं। ब्रह्माण्डीय रूप से वे सप्तर्षि (Great Bear) नक्षत्र हैं, प्रणाली रूप से वे सात ग्रहीय देव हैं, और हमारे ग्रह के दृष्टिकोण से वे सात कुमार हैं (पृ. 102)।

कर्म के देवताओं को लिपिक नाम दिया गया है – वे प्रतिकार के नियम से जुड़े हुए हैं, क्योंकि वे अभिलेखक हैं जो एस्ट्रल प्रकाश के अदृश्य पटों, – 'शाश्वता की बड़ी चित्रशाला' – पर प्रभाव डालते हैं, मनुष्य के प्रत्येक कार्य तथा विचार के सटीक अभिलेख की छाप डालते हैं; घटित ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी था, है, या हमेशा होगा। ... ये अदृश्य समझ न्याय-परायणता के उस महान नियम का संचालन करते हैं, जो यह सुनिश्चित करता है कि मनुष्य जैसा बोएगा, वैसा ही काटेगा। ... वे कभी दंड या पुरस्कार नहीं देते बल्कि केवल मनुष्य के अतीत की शक्तियों को समायोजित करते हैं ताकि वे शक्तियां अपने एक नए समूह में मनुष्य को अपने आदर्श के निकट एक पग और आगे बढ़ने में मदद करें (पृ. 117-118)।

कुछ अन्य महान प्राणियों को प्रायः पृथ्वी के राज-प्रतिनिधि (Regents) का नाम दिया गया, और उनका वर्णन *दि सीक्रेट डॉक्टरीन* में "प्रत्येक कोने पर चार पंखों वाले पहिए ... चार पवित्र लोगों के लिए उनकी

सेनाएं" की तरह वर्णन किया गया है। ये ध्यान चौहान, देवों के 'चार महाराजा' या महान राजा हैं, जो चार प्रमुख बिंदुओं में से प्रत्येक की अध्यक्षता करते हैं। वे राज-प्रतिनिधि या देव हैं जो उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम के ब्रह्माण्डीय बलों पर शासन करते हैं। इन बलों में से प्रत्येक का एक विशेष गुप्त गुण है। ये 'चार' मानव जाति के रक्षक हैं और पृथ्वी पर कर्म के एजेंट भी हैं, जबकि लिपिक मानवता के भविष्य से संबद्ध हैं। ... उन्हें पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि के तत्त्वों का चार महान देव-शासक भी माना जाता है। ... *दि लाइट ऑफ एशिया* में उन्हें कम्पास के चार बिंदुओं के शासकों के रूप में वर्णित किया गया है। ... हिंदू पुस्तकों में उन्हें धृतराष्ट्र, विरुधक, विरुपाक्ष और विश्रवण जैसे नामों के साथ चतुर्महाराज कहा जाता है। उन्हीं पुस्तकों में उनके प्रारंभिक-जीव समूहों को गंधर्व, कुंभंड, नाग और यक्ष क्रमशः कहा जाता है, उनसे संबंधित दिशाएं क्रमशः, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर हैं और उनके प्रतीकात्मक रंग, श्वेत, नीला, लाल और स्वर्णिम हैं। *दि सीक्रेट डॉक्टरीन* में उनका उल्लेख 'पंखों वाले ग्लोब और अग्निमय पहियों' के रूप में किया गया है (दक्षिण ऑस्ट्रेलिया के थिऑसोफी के दक्षिणी केंद्र द्वारा संकलित एक पुस्तक, पृ. 118-120)।

कुछ अन्य कथन

महात्मा बुद्ध ने कहा, "अमापनीय को शब्दों से मत नापो और न ही विचारों की रस्सी को अथाह गहराई में डालो। जो पूछता है – गलती करता है, जो उत्तर देता है – गलती करता है। इसलिए कुछ मत कहो।"

जिद्दू कृष्णमूर्ति ने कहा है, "ईश्वर या देव, मनुष्य की असुरक्षा की भावना द्वारा निर्मित बाहरी शक्ति रूप हैं।"

अद्वैत वेदांत में भी ब्रह्म का कोई सीमित रूप या गुण स्वीकार नहीं किया गया है। जब कहा जाता है *अहम् ब्रह्मास्मि, तत्त्वम असि,* तो उसी परम तत्त्व की सर्वव्यापकता और सर्वज्ञता की बात की जाती है।

हर्मेस कहते हैं, "ईश्वर कोई मन नहीं है, बल्कि वह कारण है जिससे मन है; आत्मा नहीं, बल्कि वह कारण है जिससे आत्मा है; प्रकाश नहीं, बल्कि वह कारण है जिससे प्रकाश है" (SD I, पृ. 285; द *डिवाइन पाइमेंडर*)।

ट्रिस्मेगिस्टस कहते हैं, "ईश्वर के बारे में बात करना असंभव है क्योंकि मूर्त, अमूर्त को व्यक्त नहीं कर सकता। ... जिसका न कोई शरीर है, न भेष, न रूप, न पदार्थ, उसे इन्द्रिय द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता। मैं समझता हूं कि जिसे परिभाषित करना असंभव है – वह ईश्वर है" (SD I, पृ. 286; *स्टोबियस, फ़्लोरिलेगुम*)।

हम सभी जीवन के विश्व में रहते हैं, और वास्तव में, 'ईश्वर' के लिए जीवन से बेहतर कोई शब्द नहीं है (*"Because–" for the children who ask why,* पृ. 9)।

निष्कर्ष

सभी प्राणी / चीजें ब्रह्म के व्यक्त रूप हैं। इसलिए संपूर्ण प्रकृति का सम्मान करें और प्रकृति के सभी साम्राज्य जैसे – प्रारंभिक जीव (elementals), खनिज, वनस्पति, जन्तु तथा मानव आदरणीय हैं, उनमें से किसी को चोट न पहुंचाएं, न ही नष्ट या बर्बाद करें।

गुह्य साधकों का कर्त्तव्य है कि वे त्रुटि और पाखंड को उजागर करें,

जीवन का सत्य के साथ सामना करें, व्यक्तिगत आलोचना के रूप में नहीं बल्कि गलत बयानों के खिलाफ तथ्यों के रूप में। मैडम ब्लावत्स्की ने कहा कि अपने हृदय में ही ध्यान करें तथा अपने कर्म को ही अपनी पूजा मानें अर्थात कर्म सद्कर्म – लोक कल्याणकारी – हों। अहं से मुक्त होकर स्वयं को भूल जाएं अर्थात संसार में सबके प्रति अपने नियत कर्त्तव्यों का निर्वाह करते हुए सांसारिकता से अलग रहें। अनासक्ति के साथ आसक्ति (detached attachment) होना चाहिए। जीवन यापन के लिए प्राकृतिक संसाधनों का उचित न्यूनतम उपयोग करें। इस दृष्टि से सामाजिक या वैचारिक सुधार के जो आंदोलन समय-समय से चलाए जाते हैं, जैसे – पर्यावरण की रक्षा, जानवरों के प्रति क्रूरता रोकना, बच्चों और वंचित लोगों को अधिकार/ संसाधन दिलाना आदि, आदि, सभी समग्रता में उस परम तत्त्व के प्रति श्रद्धा ही व्यक्त करते हैं। इसलिए ऐसे कार्य आध्यात्मिक होते हैं और उनमें हमारा सहयोग आवश्यक कर्त्तव्य होता है।

सबसे महत्वपूर्ण बात कि हम अपने अन्दर के "ईश्वर" – अर्थात प्रेम और सत्य, न्याय और प्रज्ञा, अच्छाई और शक्ति के भाव का अनुसरण करते रहें।

मनुष्य क्या है?

सामान्य

मनुष्य क्या है?, इस प्रश्न पर विचार कर हम देखते हैं कि प्राकृतिक विज्ञान, दर्शन और धर्मशास्त्र मनुष्य के संबंध में कई और विविध दृष्टिकोण रखते हैं। एक बच्चा जब पैदा होता है तो उसकी पहचान उसके लिंग से होती है – लड़की या लड़का, फिर परिवार के नाम के साथ परिवार द्वारा दिया गया नाम, और प्रायः, धर्म, जाति, क्षेत्र, राष्ट्रीयता – ये सब उसकी पहचान बन जाते हैं। फिर बाद में उसे उसके पेशे के आधार पर जाना जाता है। उसकी पहचान के लिए उसके स्वभाव, आदतों, विचारों और भावनाओं की प्रवृत्ति, शौक आदि का भी उपयोग किया जाता है। उसे सामाजिक जंतु भी कहा जाता है।

जीववैज्ञानिक पहचान में उसे विभिन्न प्रणालियों जैसे मांसपेशियों, तंत्रिकाओं, नसों, हड्डियों, तथा अंगों – हृदय, फेफड़े, पेट, मस्तिष्क, ज्ञानेन्द्रियों आदि का समुच्चय और सोच की क्षमता के साथ प्राणी, कहा जाता है।

बाहरी मनुष्य के संबंध में, एच. पी. ब्लावत्सकी अपने लेख, "सत्य क्या है?" में कहती हैं कि मनुष्य, "विसंगतियों और विरोधाभासों का एक खेदजनक बंडल है, अपने स्वयं के महत्व के साथ फुलाया हुआ एक खाली हवा का थैला है, जिसमें विरोधाभासी और आसानी से प्रभावित होने वाले विचार हैं। एक ही समय में वह एक अहंकारी और एक कमजोर प्राणी है, जो, यद्यपि कुछ अधिकारी, स्थलीय और स्वर्ग के लोगों – से निरंतर भयभीत रहता है, फिर भी –

... एक क्रोधित बंदर की तरह,

उच्च स्वर्ग के सामने ऐसी विलक्षण चकमा वाली चालें खेलता है
जो देवगणों को रुलाती हैं।" (शेक्सपियर)

श्री बी. पी. वाडिया लिखते हैं कि "विभिन्न वर्गों के लोगों के लिए मनुष्य एक अलग इकाई है : आधुनिक वैज्ञानिकों के लिए वह परमाणुओं का एक बंडल है जो समय के साथ विघटित होने के लिए निश्चित तरीकों से जुड़ते हैं; आधुनिक मनोवैज्ञानिक और तथाकथित दार्शनिक के लिए मनुष्य संवेदनात्मक छापों का एक संग्रह है और जिनकी सजगताएं मिलकर मन को जन्म देती हैं जिसे जीवात्मा भी कहा जा सकता है; मनोविश्लेषक के लिए वह जटिलताओं का एक बंडल है; पराभौतिक और मानसिक शोधकर्ता के लिए वह एक, शरीर-धारी या अशरीरी भूत या आत्मा है; धर्मशास्त्री के लिए वह, ईश्वर द्वारा बनाया गया जीवात्मा है, जिसको प्रार्थना द्वारा बचाया जा सकता है, सर्जन के लिए वह प्रकृति द्वारा बनाया गया एक शरीर है जिसे छुरी (lancet) द्वारा बचाया जा सकता है।"

तत्त्वमीमांसी दृष्टिकोण मनुष्य को ब्रह्माण्ड (macrocosm) या बृहद विश्व से अविभाज्य एक छुद्र ब्रह्माण्ड (microcosm) या लघु विश्व के रूप में वर्णित करता है, और इसलिए यदि हम मनुष्य को सार्वभौमिक संपूर्ण जिसे "स्वर्गीय मनुष्य," (Heavenly Man) "एडम-कदमॉन" (Adam Kadmon), "पुरुषोत्तम" आदि विभिन्न रूप में नामित किया जाता है, से अलग करके अध्ययन करते हैं, तो हम यह समझने में असफल हो जायेंगे कि मनुष्य वास्तव में क्या है। यह भी कहा गया है कि, "मनुष्य रासायनिक-भौतिक बलों का सहसंबंध है, साथ ही आध्यात्मिक शक्तियों का भी सहसंबंध है, बाद वाला मनुष्य की भौतिक शक्तियों, स्थलीय मनुष्य के विकास के अनुपात में प्रतिक्रिया करता है" (Isis I, 309)। ये सभी कारक जो मिलकर मनुष्य का निर्माण करते हैं, "एक जीवन" के ही आयाम

हैं। स्वयंसिद्ध महान सत्य यह है कि "एक जीवन" ही एकमात्र शाश्वत और जीवित वास्तविकता है, जिसे हिंदू परमात्मा और परब्रह्म कहते हैं (*The Theosophical Movement, November 2022 – Article : Metaphysics – Some Reflections* – पृ. 18)।

मनुष्य एक सोचने वाला जीव है। धर्मग्रंथ मनुष्य का कई तरह से वर्णन करते हैं – जैसे ईश्वर का अंश, ईश्वर का पुत्र, ईश्वर का सेवक, ईश्वर की छवि आदि। उच्च दर्शन उसे ईश्वर की चिंगारी या किरण, चेतना की इकाई आदि के रूप में वर्णित करते हैं।

थिऑसोफिकल साहित्य में वर्णन

आइसिस अन्वेल्ड

पृथ्वी पर संगठित प्राणियों में, सबसे परिपूर्ण मनुष्य, जिसमें पदार्थ और आत्मा – यानी, दृढ इच्छा (will) – सबसे अधिक विकसित और शक्तिशाली हैं, को अकेले ही उस तत्त्व को एक सचेत आवेग देने की अनुमति है जो उससे निकलता है; और केवल वह ही चुंबकीय द्रव को किसी दिशा में विपरीत और विभिन्न आवेग बिना किसी सीमा के प्रदान कर सकता है। डु पोटेट कहते हैं, "वह इच्छा करता है, और *संगठित पदार्थ आज्ञा का पालन करता है, इसमें कोई ध्रुव नहीं है*" (I, 144)।

वान हेल्मॉण्ट कहते हैं, "मनुष्य विश्व का दर्पण है, और उसकी त्रिगुणी प्रकृति सभी चीजों के साथ संबंध में रहती है।" सृष्टिकर्ता की इच्छा, जिसके माध्यम से सभी चीज़ें बनीं और अपना पहला आवेग प्राप्त किया, प्रत्येक जीवित प्राणी की संपत्ति है। इस ग्रह पर इसका सबसे बड़ा हिस्सा, अतिरिक्त आध्यात्मिकता से संपन्न मनुष्य, के पास है। यह उसके अन्दर

पदार्थ के अनुपात पर निर्भर करता है कि वह अपनी जादुई क्षमता का प्रयोग कम या अधिक सफलता के साथ करेगा या नहीं (I, 213)।

आध्यात्मिक रूप से मनुष्य दार्शनिक का *पत्थर* (philosopher's *stone*) है, 'एकता में एक त्रिमूर्ति', जैसा कि फिलालेथेस ने व्यक्त किया है। लेकिन वह भौतिक रूप से भी वही पत्थर है। बाद वाला कारण का प्रभाव मात्र है, और कारण हर चीज़ का सार्वभौमिक विलायक (solvent) – दिव्य आत्मा है (I, 309)।

भौतिक मनुष्य पशु जीवन का उच्चतम विकास है (I, 327)।

प्रकृति की तरह, मनुष्य त्रय है : उसका अपना मूर्त, भौतिक शरीर, उसका जीवंत एस्ट्रल शरीर (या जीवात्मा), वास्तविक मनुष्य है; और ये दोनों तीसरे – संप्रभु, अमर – द्वारा सेनित (brooded) और प्रकाशित हैं। जब वास्तविक मनुष्य स्वयं को बाद वाले के साथ विलीन करने में सफल हो जाता है तो वह एक अमर अस्तित्व बन जाता है (II, 588))।

दि सिक्रेट डॉक्टरीन

जब हम मानव कहते हैं तो यह केवल हमारी स्थलीय मानवता पर लागू नहीं होता है, बल्कि उन प्राणियों पर भी लागू होता है जो किसी भी संसार में रहते हैं, अर्थात, उन समझ वालों पर जो पदार्थ और आत्मा के बीच उपयुक्त संतुलन तक पहुंच गए हैं, जैसा कि, जब से चौथे परिक्रमा की चौथी मूल प्रजाति का मध्य बिन्दु गुजर गया, हम अब हैं। प्रत्येक इकाई ने स्व-अनुभव के माध्यम से दिव्य बनने का अधिकार स्वयं के लिए अवश्य प्राप्त कर लिया होगा (I, 106)।

'मनुष्यों' शब्द कम से कम यह इंगित करता है कि ये जीव (मोनाड जो साढ़े तीन परिक्रमा की अवधि में प्रथम बार मानव स्तर पर पहुंचे थे) 'मनुस' थे, सोचने वाले अस्तित्व, हालांकि वे रूप और समझ में हमसे भिन्न थे (I, 174 fn.)।

एक 'प्राचीन टिप्पणी' मनुष्य को "इस पृथ्वी पर सर्वोच्च भौतिक और चरम् रूप" के रूप में वर्गीकृत करती है (I, 183)।

एक [देव] *दो* [देवता या Angel] बन जाता है, और *दो*, तीन [या मनुष्य] बन जाता है (I, 206)।

कबालीय (Kabalistic) कथन का गुह्य विद्या में समर्थन किया गया है कि "देवता मनुष्य बनने की आकांक्षा रखते हैं; एक परिपूर्ण मनुष्य, एक मनुष्य-देव, जो सभी देवताओं से ऊपर है" (I, 245)।

गंभीर सत्य यह है कि प्रत्येक तथाकथित 'आत्मा' या तो एक अशरीरी या भविष्य का मनुष्य है। जैसे सर्वोच्च देव (ध्यानी-चोहान) से लेकर अंतिम चैतन्य "निर्माता" (आध्यात्मिक अस्तित्वों का निम्न वर्ग) तक, ऐसे सभी *मनुष्य* हैं, जो युगों पहले, अन्य मन्वंतरों में, इस या अन्य पिंडों में रहते थे; वैसे ही निम्न, अर्ध-समझ और बिना-समझ वाले प्रारंभिक जीव (Elementals) – ये सभी *भविष्य* के मनुष्य हैं। केवल यह तथ्य कि एक आत्मा समझ से संपन्न है, गुप्त विद्याविद (Occultist) के लिए एक प्रमाण है कि वह जीव अवश्य ही एक मनुष्य रहा होगा, और उसने मानव-चक्र के दौरान अपना ज्ञान और समझ प्राप्त किया था (I, 277)।

मानव प्राणी, विभिन्न बलों – चुंबकीय, अनुकूल स्वभाव के, प्रतिकूल स्वभाव के, तंत्रिका वाले, गतिशील, गुप्त, यांत्रिक, मानसिक – हर प्रकार के

बल से संपन्न है। और भौतिक बल अपने सार में जैविक हैं, यह देखते हुए कि वे उन बलों के साथ मिश्रित होते हैं और प्रायः उन बलों में विलीन हो जाते हैं जिन्हें हमने समझ (intellectual) और नैतिक नाम दिया है, पहला दूसरे का वाहन, या कहें कि, उपाधि बनता है। उनकी उपस्थिति और आपस में मिश्रित होना हमारे अस्तित्व के सही सार हैं, तथा वास्तव में वे मनुष्य में *जीवात्मा* बनते हैं (I, 469-470)।

इससे पहले कि मनुष्य वह बनता है जो वह है, प्रकृति (मनुष्य में) को आत्मा और पदार्थ का यौगिक बनना चाहिए और पदार्थ में सुप्त आत्मा को धीरे-धीरे जीवन और चेतना में जागृत होना ही चाहिए। पशु मनुष्य में ईश्वर का प्रकाश जागृत होने से पहले मोनाड को अपने खनिज, वनस्पति और पशु-रूपों से गुजरना पड़ता है। इसलिए, तब तक, मोनाड को 'मनुष्य' के रूप में संदर्भित नहीं किया जा सकता है, बल्कि उसे हमेशा बदलते रूपों में कैद एक मोनाड के रूप में माना जाना चाहिए (II, 42)।

मनुष्य पृथ्वी पर सभी पशु जीवन का "मुकुट," और प्रयोजन तथा लक्ष्य, है (II, 53)।

मनुष्य और जानवर के बीच – जिनके मोनाड (या जीव), मूल रूप से समान हैं – मानसिकता और स्व-चैतन्यता की अगम्य खाई है। मानव मन अपने उच्चतर आयाम में क्या है, यह कहां से आया है, यदि यह *सारतत्त्व* का एक अंश तथा, कुछ विरले मामलों में अवतार – एक उच्चतर तथा दिव्य स्तर के उच्चतर अस्तित्व का *सही सारतत्त्व* नहीं है? ... और ऐसा क्या है जो इतना अंतर पैदा करता है, यदि मनुष्य एक जानवर और *साथ ही* अपने भौतिक खोल के भीतर एक *जीवित देव* नहीं है (II, 81)?

परिक्रमा के आरंभ से, प्रकृति में सभी, मनुष्य बनने की वृत्ति रखते

हैं। द्वैत के सभी आवेग, अभिकेन्द्रीय (centripetal) तथा अपकेन्द्रीय (centrifugal) बल एक बिंदु – मनुष्य – की ओर निर्देशित होते हैं। ... मनुष्य वह अंतिम बिंदु है जिसकी ओर प्रथम पुराजीवी (Palaeozoic) मछलियों की उपस्थिति से आगे सभी *जंतु* सृजन वृत्ति रखे। ... मनुष्य, *वस्तुनिष्ठ सृजन का अल्फा (प्रारंभ) और ओमेगा* (अंत) है (II, 170)।

जैसे ईश्वर, दिव्य मन में विश्व को प्रतिबिंबित करता है, और व्यक्त विश्व अपने प्रत्येक मोनाड (विशुद्ध जीवात्मा) में स्वयं को प्रतिबिंबित करता है, जैसा कि एक पूर्वी शिक्षा को दोहराते हुए लिबनिट्ज़ ने कहा, उसी प्रकार मोनाड को अपने अवतारों के चक्र के दौरान, प्रत्येक साम्राज्य के प्रत्येक *मूल-रूप* (r*oot-form*) को स्वयं में प्रतिबिंबित करना पड़ता है। इसलिए, कबालिस्ट सही कहते हैं कि "मनुष्य" एक पत्थर, एक पौधा, एक जानवर, एक मनुष्य, एक आत्मा और अंततः ईश्वर बनता है, इस प्रकार अपने चक्र या परिपथ को पूरा करता है और उस बिंदु पर लौटता है जहां से उसने स्वर्गीय मनुष्य (*heavenly* Man) के रूप में आरंभ किया था (II, 186)।

गुप्त दर्शन में मनुष्य को *सप्तपर्ण* का नाम दिया गया है। इसका अर्थ, सात पत्तों वाला पौधा और इस नाम का बौद्ध किंवदंती में एक बड़ा महत्त्व है। उसी तरह भी यह ग्रीक "मिथकों" में छिपा हुआ है, अक्षर T(ताऊ), चित्र 7 से बना है, और ग्रीक अक्षर Γ (गामा) जीवन का प्रतीक था, क्योंकि Γ (गामा) पृथ्वी (गैया) का और "अनंत जीवन" का प्रतीक है; क्योंकि अंक 7 *दिव्य जीवन से* जुड़े उसी जीवन का प्रतीक है, ज्यामितीय आकृति पर व्यक्त दोहरा ग्लिफ़ – एक त्रिभुज और एक चतुर्धातुक, एक सप्तक मनुष्य का प्रतीक (II, 590-591)।

निश्चित रूप से मनुष्य कोई विशेष सृजन *नहीं* है। वह इस धरती पर

किसी भी अन्य जीवित इकाई की तरह, प्रकृति के क्रमिक सुधार कार्य का उत्पाद है। परन्तु यह केवल मानव तम्बू (या ढांचा) के संबंध में है। वह, जो मनुष्य में रहता है और सोचता है और उस ढांचे के बाद भी बना रहता है, जो विकास की उत्कृष्ट कृति है – आकाश और समय में एक परम 'अज्ञात' का बहुरुपिया विभेदन (Protean differentiation), 'शाश्वत तीर्थयात्री' है (II, 728)।

ए ब्लावत्सकी कोटेशन बुक

मनुष्य, आदर्श मनुष्य या एडम (Adam) के रूप में, संपूर्ण कबालीय प्रणाली को समाहित करने के लिए बनाया गया है। वह व्यक्त ब्रह्माण्ड, जो स्वयं अवैयक्तिक सर्वदा-अगम्य तत्त्व का प्रतिबिंब है, द्वारा डाला गया महान प्रतीक और छाया है; और यह छाया अपने निर्माण से प्रस्तुत करती है – अवैयक्तिक से विकसित व्यक्तिगत – ब्रह्माण्ड में दृश्य और अदृश्य हर चीज का एक प्रकार का वस्तुनिष्ठ और मूर्त प्रतीक (पृ. 16, जनवरी 31; *Lucifer,* May 1892)।

क्योंकि हमारा जीवात्मा मिट्टी की जेल के भीतर अपना अलग जीवन जीता है जब भी यह पदार्थ के बंधनों से मुक्त हो जाता है, अर्थात भौतिक मनुष्य की नींद के दौरान। यह जीवात्मा है जो कर्ता, वास्तविक मनुष्य, सच्चा मानव स्व है। लेकिन स्वप्न के दौरान भौतिक मनुष्य अनुभव नहीं कर सकता या चैतन्य नहीं हो सकता; क्योंकि व्यक्तित्व, बाहरी मनुष्य, और सोच-यंत्र के साथ उसका मस्तिष्क, कमोबेश पूरी तरह से पंगु हो गए होते हैं (पृ. 64-65, मई 7; *Transactions of Blavatsky Lodge*, p. 50)।

प्रत्येक सच्चे थिऑसोफिस्ट का मानना है कि प्रत्येक मर्त्य मनुष्य का

दिव्य उच्चतर स्व उसी सारतत्त्व का है जैसा देवताओं का सारतत्त्व है। इसके अलावा, स्वतंत्र-इच्छाशक्ति (free-will) से संपन्न होने से, उनसे अधिक उत्तरदायित्व होने के कारण, हम अवतरित मनुष्य-जीवात्मा को किसी भी आध्यात्मिक समझ, जो अभी भी अवतार की प्रतीक्षा कर रही है, से, यदि अधिक दिव्य नहीं, तो कहीं अधिक श्रेष्ठ मानते हैं (पृ. 175, दिसंबर 21; *Lucifer*, मार्च 1889)।

ए बुक ऑफ़ कोटेशन्स - रॉबर्ट क्रॉस्बी

विकास की संपूर्ण योजना में मनुष्य का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। वह वहां खड़ा है जहां आत्मा और पदार्थ मिलते हैं। वह उच्चतर प्राणियों और नीचे के प्राणियों के बीच की कड़ी है। उसे इस भौतिक पदार्थ के अन्दर और ऊपर तथा साथ ऐसा कार्य करना, ऐसा सोचना और कार्य करना है कि वह इस सब को ऊपर उठाता है और इसे दूसरी वृत्ति, दूसरा झुकाव देता है (p. 42, मई 23)।

मेरा मानना है कि यह स्थिति अपनाना सबसे अच्छा होगा कि *तुम* कभी नहीं असफल होते या गिरते या पीछे फिसलते, किन्तु यह कि तुम अपने *अनुक्रियाशीलता* (*responsive*) के मार्गदर्शन में स्थिर और सावधान नहीं रहे, लेकिन *गैर-जिम्मेदार*,उपकरण रहे; इसलिए, तुम इसके माध्यम से अपनी देखभाल की कमी के प्रभावों को महसूस करते हैं। इसे पकड़ो, इसकी देखभाल करो, इसका मार्गदर्शन करो, इसका उपयोग करो, लेकिन स्वयं रहो – "मनुष्य जो है, जो था, जो हमेशा रहेगा," जिसके लिए ये सभी चीजें केवल क्षणभंगुर छायाएं हैं (पृ. 101-102, दिसम्बर 12)।

ए स्टडी इन कांशसनेस – एनी बेसेंट)

आध्यात्मिक त्रय को प्रायः आत्म-बुद्धि-मानस, [इच्छा, बुद्धि-प्रेम, क्रिया], जीवात्मा कहा जाता है, इसे एक बीज के रूप में वर्णित किया गया है, दिव्य जीवन का एक अंकुर जिसमें अपने स्वयं के स्वर्गीय पिता, इसके मोनाड की क्षमता, विकास के क्रम में शक्तियों में व्यक्त होने के लिए, होती है। यह प्रथम ईश्वर के दिव्य पुत्र का 'मानवत्व' (Manhood) है, जो उसके 'ईश्वरत्व' (Godhood), मोनाड से अनुप्राणित है – वास्तव में एक रहस्य है, लेकिन जो हमारे चारों ओर कई रूपों में दोहराया जाता है (पृ. 48)।

एनी बेसंट एक अन्य स्थान पर कहती हैं कि, "मनुष्य ब्रह्माण्ड में वह प्राणी है जिसमें उच्चतम आत्मा और निम्नतम पदार्थ, मन (या समझ) में मिलते हैं"।

दि विज़डम ऑफ दि उपनिषद – एनी बेसेंट

मनुष्य अस्तित्व का एक रूप है जिसमें आत्मा और अनात्मा संतुलित हैं। यही 'मनुष्य' की एकमात्र गुप्त परिभाषा (occult definition) है; न कोई विशिष्ट रूप, न अंग, न ही सिर और हाथ और पैर इत्यादि की व्यवस्था। मनुष्य किसी भी आकार का प्राणी है, जिसमें जीवात्मा की शक्तियां सर्वोच्चता के लिए संघर्ष कर रही हैं, जिसमें पदार्थ और आत्मा स्वामित्व के लिए एक दूसरे के विरुद्ध प्रयास कर रहे हैं। मनुष्य विश्व का युद्धक्षेत्र है, जिसमें ईश्वर और माया प्रभुत्व के लिए संघर्ष कर रहे हैं; उसके नीचे, माया स्वामी है और ईश्वर प्रच्छन्न है; उसके ऊपर, ईश्वर स्वामी है, और माया पर विजय प्राप्त हो गई है; उसमें दोनों सर्वोच्चता के लिए संघर्ष कर रहे हैं, इसलिए युद्ध का मैदान, विश्व का कुरुक्षेत्र मनुष्य है। विश्व में प्रत्येक जीवात्मा

को इस युद्धक्षेत्र में संघर्ष करना ही चाहिए, यदि उसको मनुष्य बनना ही है या बन ही चुका है – जैसा कि एच. पी. ब्लावत्स्की कहती हैं (पृ. 59-60)।

कुछ अन्य वर्णन

प्रत्येक मनुष्य संसार के सभी महान कार्यों और घटनाओं, अतीत और वर्तमान का एक लघु मंच है। जो कुछ भी जानने योग्य है वह पहले मनुष्य की ओर ले जाता है, हालांकि बाद में वह ईश्वर की ओर ले जाता है (*The Mediator* by C. Jinarajadasa, पृ. 80)।

मनुष्य की जैविक संरचना विश्व का एक प्रतीक है, उसका परिसर विश्व और आज तक के विकास का एक इतिहास है, और वह स्वयं एक उद्भव है, अंतर्निहित और पारलौकिक आत्मा – का एक बुद्धिमान रहस्योद्घाटन है। गुप्त विज्ञान घोषित करता है और सभ्यता की प्रगति दर्शाती है कि मनुष्य एक स्वतंत्र-इच्छाशक्ति और स्वयं-उत्तरदायी एजेंट के रूप में एक और भी उच्चतर परिसर के लिए काम कर रहा है, जिसे मानवता के विश्व बन्धुत्व के रूप में जाना जाता है, जिसे "जीवित क्राइस्ट के कद की पूर्णता" के रूप में घोषित किया जाना है :– एक उत्कृष्ट, पुनर्जीवित परिसर का निर्माण किया जा रहा है जिसमें से प्रज्ञा के गुरु का उदय होगा (*The Secret Doctrine and Modern Science*, पृ. 25-26)।

मनुष्य एक आध्यात्मिक अस्तित्व है, जो एक घने भौतिक वाहन का अधिभोग कर रहा है या उसे अनुप्राणित कर रहा है। यह सघन भौतिक शरीर पूरे ग्रह की सामान्य संरचना का हिस्सा है, जीवित परमाणुओं से बना है जो ग्रहीय अस्तित्व के नियंत्रण में है और उसका हिस्सा है (*Devas and Men*, पृ. 63)।

"मैं सर्व आकाश और समय हूं; मैं निर्गुण हूं" (एच. पी. बी. का *ध्यान आरेख*)।

मनुष्य की स्थिति

वर्तमान समय में अधिकांश मनुष्य अपनी निम्न सांसारिक प्रकृति में ही व्यस्त हैं तथा अपनी उच्चतर प्रकृति, क्षमता और जीवन के वास्तविक लक्ष्य से अनभिज्ञ जैसे हैं। यह स्थिति कुछ निम्नलिखित कथनों द्वारा इंगित की गई है :

मनुष्य भविष्य का सामना करता है : मनुष्य, जिसे अलेक्जेंडर पोप ने "दुनिया की महिमा, मज़ाक और पहेली" कहा है। वह आगे की ओर देखता हुआ खड़ा है, एक ऐसे व्यक्ति के रूप में जो अपनी शक्ति को नहीं जानता है और सोचता है कि वह कमजोर है जबकि सारी शक्ति उसके अस्तित्व में केंद्रित है, एक ईश्वर जो अपनी दिव्यता को भूल गया है, एक आत्मा जिसने स्वयं को अनात्मा के साथ पहचाना है, जो सोचता है कि वह पृथ्वी का है लेकिन उसका असली घर स्वर्गीय स्थानों की महिमा में है। जैसा कि कार्लाइल ने लिखा :

"वह है तो धरती का, लेकिन उसके विचार सितारों के साथ हैं। उसकी आवश्यकताएं और इच्छाएं तुच्छ और क्षुद्र हैं; फिर भी वे भव्य, गौरवशाली उद्देश्यों के साथ – अमर लालसाओं के साथ – उन विचारों के साथ, जो आकाश को छू लेते हैं, और शाश्वत में विचरण करते हैं, एक महान उन्नत जीवात्मा की सेवा करती हैं। इस छोटे से ग्रह के बाहरी शिखर पर खड़ा एक बौना, उसका दूरगामी आत्मा अनंत तक फैला हुआ है, और केवल वहीं विश्राम पाता है।"

सत्रहवीं शताब्दी की अमर कृति, *पिलग्रिम'स प्रोग्रेस* (*Pilgrim's Progress*) में, जॉन बुनियन ने मनुष्य का अत्यधिक प्रतीकात्मक शब्द-चित्र खींचा है, जो शरीर को झुकाकर, धरती से गंदगी और तिनके उठा रहा है। वह इस दासोचित कार्य में इतना व्यस्त है कि वह अपने सिर के ऊपर मंडरा रहे एक देव – जो उसे एक स्वर्ण मुकुट प्रदान कर रहा है – को देखने में विफल रहता है। यह चित्र आज मानवता का नमूना है। वे भौतिक संपत्ति प्राप्त करने के इतने इच्छुक हैं, वे पार्थिव जीवन के आकर्षण में इतने डूबे हुए हैं कि आध्यात्मिक प्राप्ति के सुनहरे अवसर नहीं दिखते तथा उच्चतर चीजों के लिए निरंतर आह्वान नहीं सुनाई पड़ते (*SPACE, TIME and SELF* – E. Norman Pearson, पृ. 274)।

हम निराशा और हताशा के माहौल में जी रहे हैं। ...क्योंकि हमारी आंखें नीचे झुकी हुई हैं और पृथ्वी की सभी भौतिक और स्थूल पदार्थीय अभिव्यक्तियों पर टिकी हुई हैं। यदि इसके बजाय, मनुष्य, अपनी जीवन यात्रा पर आगे बढ़ते हुए, स्वर्ग की ओर नहीं, जो कि भाषा का एक अलंकार है – बल्कि *अपने भीतर* देखे, और अपने अवलोकन के बिंदु को *आंतरिक* मनुष्य पर केंद्रित करे, तो वह शीघ्र भ्रम के महासर्प की कुंडलियों से बच जाएगा (*A Blavatsky Quotations Book* पृ. 40, मार्च 18; Lucifer, अक्टूबर, 1887)।

अमोस रसेल वेल्स द्वारा मनुष्य की एक "कठिन परिभाषा" निम्न प्रकार बताई गई है –

एक आदमी क्या है? थोड़ी सी मिट्टी
वर्षा घुला देती है और तैरा देती है,
भविष्य का एक दुर्लभ हीरा,
सदैव दृढ़, सदैव निष्पक्ष;

धारा पर नाचता हुआ एक बुलबुला,
एक खाली फिल्म, एक तीव्रता से निकलती चमक;
एक राजा एक तिथि-विहीन सिंहासन पर,
पूरे अंतहीन काल तक उसका अपना,
प्यार और घृणा का मज़ाक,
समय का खेल, नियति का आखेट;
अनंत जीवन का विजेता,
हर संघर्ष में विजयी;
पुण्य और पाप का सघन,
सृष्टि का बेजोड़ विदूषक;
और कुटिल योजना में, इनमें से प्रत्येक,
हर मनुष्य में प्रत्यक्ष है!
क्यों, क्या श्रेष्ठ वैज्ञानिक,
क्या विद्वान शरीररचना विज्ञानी,
इन प्राणियों को दलदल से चुन सकते हैं, और वर्गीकृत तथा सूचीबद्ध कर सकते हैं?

(*दि थिऑसोफिकल मूवमेंट*, अक्टूबर 2023, पृ. 19)

"मनुष्य, स्वयं अपने आप को जानो" का महत्व और उसकी विधि

"मनुष्य, स्वयं अपने आप को जानो," (Man, Know Thyself) अनुशीर्षक एक पुरातन सूक्ति है, जिसको यूनानी दार्शनिकों से संबंधित किया जाता है। यह कहा गया है कि यह वाक्यांश डेल्फी में अपोलो के मंदिर के द्वार पर प्रमुखता से अंकित किया गया था। यह यूनानियों से उत्पन्न नहीं

हुआ, बल्कि उनके पास और अधिक प्राचीन मिस्री सभ्यता से आया। ऐतिहासिक शोध दिखाते हैं कि मिस्र के प्राचीन थेबेस (आधुनिक लक्सर) में मंदिर के दो भाग थे – बाहरी और भीतरी। ज्ञान के आकांक्षी प्रारंभकर्ता को बाहरी मंदिर में प्रवेश दिया जाता था, जहां पर, यह कहा जाता है, ये शब्द अंकित होते थे – "शरीर ईश्वर का घर है"; भीतर के मंदिर में उन्हीं को प्रवेश मिलता था जो उच्चतर ज्ञान तथा अंतर्दृष्टि को प्राप्त करने की अपनी क्षमता तथा योग्यता को प्रमाणित किये हों, और उस मंदिर में कई कहावतें अंकित थीं, उनमें से एक कहावत थी – "मनुष्य, स्वयं अपने आप को जानो, और तुम देवों को जानोगे" (*दि थिऑसोफिकल मूवमेंट*, अक्टूबर 2017, पृ. 23; *The Living Face of Ancient Egypt* से उद्धृत)।

प्रसिद्ध कहावत, "मनुष्य, स्वयं अपने आप को जानो, तब तुम विश्व तथा ईश्वर को जानोगे," पाइथागोरस से संबंधित किया जाता है।

उपनिषद् की ठीक यही शिक्षाएं हैं जो घोषित करती हैं कि स्व-ज्ञान, या आत्म-ज्ञान वह परम ज्ञान है जो मनुष्य को परिपूर्णता (perfection) तक ले जाता है, और इसलिए बुद्धिमान लोग, सच्चे स्व से जुड़ने का प्रयास करते हुए. अपने अन्दर देखते हैं। आत्म-ज्ञान का लक्ष्य रखते हुए मनुष्य की परिपूर्णता के चरम् बिंदु को बड़े सुंदर ढंग से *मुंडक उपनिषद्* (3-2-5) में वर्णन किया गया है :

"उस (आत्मन) को प्राप्त करके, ऋषि ज्ञान की पूर्णता के साथ मगन होकर, स्व में परिपूर्ण होकर, उनसे सभी वासनाएं हट गई हुई, शांत, बुद्धिमान, हर ओर से सर्वव्याप्त को आते हैं, तथा स्वयं को उनसे जुड़कर, पूर्णतया **सर्व** में प्रवेश करते हैं" (*दि थिऑसोफिकल मूवमेंट*, अक्टूबर 2017, पृ. 24)।

उस समय से जब डेल्फ़िक देववाणी ने जिज्ञासु से कहा "मनुष्य, स्वयं अपने आप को जानो," कोई भी इससे बड़ा या अधिक महत्वपूर्ण सत्य कभी नहीं सिखाया गया था। ऐसी अनुभूति के बिना, मनुष्य अपने कई सापेक्ष सत्यों के प्रति भी अंधा बना रहेगा, पूर्ण सत्य की तो बात ही छोड़िए। किसी भी परम सत्य पर स्वामित्व प्राप्त करने से पहले मनुष्य को *स्वयं अपने आप को जानना* होगा, अर्थात, उन *आंतरिक* अनुभूतियों को प्राप्त करना होगा जो कभी धोखा नहीं देती हैं (*HPB Teaches – An Anthology* – लेख : *सत्य क्या है?*, पृ. 329)।

यदि हम निष्ठापूर्वक से इस आदेश – "मनुष्य, स्वयं अपने आप को जानो" – का पालन करते हैं, हम अपनी बुराइयों और कमजोरियों से अवगत हो सकते हैं, और इससे हमें दूसरों के प्रति कम आलोचनात्मक बनने में मदद मिल सकती है। "मैं" पर ध्यान केंद्रित करने से हमें यह स्पष्ट जानने में भी मदद मिलती है कि हम कितनी बार "मैं" को सबसे आगे रखते हैं। हमें पृष्ठभूमि में बने रहने के लिए विशेष प्रयास करना चाहिए। दूसरों से बातचीत में हमें अपने बारे में और अपने अनुभवों के बारे में बात करने के बजाय दूसरों की बात सुनने पर ध्यान देना चाहिए। यदि हम एक सप्ताह तक इसका अभ्यास करें, तो पाएंगे कि इसमें काफी प्रयास करना पड़ता है, और "मनुष्य, स्वयं अपने आप को जानो" का वास्तविक अर्थ भी पता चलेगा।

वास्तव में प्रत्येक दिन के अंत में स्व-निरीक्षण का अभ्यास करके हमें "मैं" पर ध्यान केंद्रित करना सीखना चाहिए, और न केवल हर दिन की घटनाओं का पुनर्विलोकन (review) करना चाहिए, बल्कि अपने विचारों, भावनाओं, शब्दों और कार्यों का भी पुनर्विलोकन करना चाहिए, बिना अपनी गलतियों और बड़ी भूलों की व्याख्या किए। हमें अपने अच्छे बिन्दुओं और कमजोर बिंदुओं को नोट करना चाहिए और अच्छाइयों को दृढ करने

तथा कमजोरियों को दूर करने का संकल्प लेना चाहिए।

अंततः, "मैं" पर ध्यान केंद्रित करने से पता चलता है कि हम वास्तव में कौन हैं। हम अपनी पहचान सदैव परिवर्तनशील नाशवान शरीर और उसकी स्थितियों और संबंधों के साथ करते हैं, जो हमेशा बदलते रहते हैं, और हमें यह कहने के लिए मजबूर करते हैं, "मैं खुश हूं, या मैं दुखी हूं," "मैं बीमार हूं, या मैं ठीक हूं। किंतु हम देखते हैं कि इन सभी लगातार बदल रहे स्थितियों और रूपों के बीच, हमारे अन्दर "हम" है, जो अपरिवर्तित और अपरिवर्तनशील बना हुआ है। अगर हम इस विचार को समझ सकें और उस पर कायम रह सकें, तो हम सही ज्ञान और स्वतंत्रता की दिशा में पहला कदम उठा लेंगे (*दि थिऑसोफिकल मूवमेंट*, अप्रैल 2021, पृ. 37-38)।

मानसिक धन का उपयोग न केवल व्यक्तिगत जीवन को बेहतर बनाने के लिए किया जाना चाहिए, बल्कि आध्यात्मिक रूप से ऊपर उठने और सच्चे नैतिक व्यक्ति को जन्म देने के लिए भी किया जाना चाहिए। शिक्षित व्यक्ति को अपने मन को अपने उच्च मन, जिसमें वह धन है जिसकी उसे तलाश है, के बारे में ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रेरित करना चाहिए।

हमें अपने रास्ते में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति और स्थिति को एक आशीर्वाद के रूप में मानना सीखना चाहिए, क्योंकि वे हमारी मान्यताओं और छिपे हुए दोषों को प्रतिबिंबित करते हैं, और इस प्रकार हमें उन्हें सुधारने का अवसर देते हैं। जितना अधिक हम स्वयं को जानने के इस मार्ग पर चलते हैं, उतनी ही अधिक गांठें टूटती हैं और हम उतना ही हल्का महसूस करते हैं।

यह अत्यावश्यक है कि हमें इस बात की स्पष्ट दार्शनिक अवधारणा मिल जाए कि मनुष्य अपनी संपूर्ण संरचना और उच्च तथा निम्न की दोहरी

प्रकृति में, या, तकनीकी शब्दों का उपयोग करने के लिए, एक आध्यात्मिक वैयक्तित्व तथा अपने पशु-प्रकृति से बना एक निम्न व्यक्तित्व के रूप में क्या है। मनुष्य की बनावट को समझने के लिए थिऑसोफी द्वारा प्रस्तुत मनोविज्ञान के दो पहलू हैं, तत्त्वमीमांसी (metaphysical) और नैतिक (moral)। यदि हम सही तरीके से अपनी सहायता करना चाहते हैं तो हमें यह करना होगा।

मनु संहिता में लिखा है : "सभी कर्त्तव्यों में से, प्रमुख कर्त्तव्य सर्वोच्च-आत्मा (आत्मा) का ज्ञान प्राप्त करना है; यह सभी विज्ञानों में से पहला है, क्योंकि केवल यही मनुष्य को अमरता प्रदान करता है"।

लेकिन वह "मनुष्य" कौन है जो निरंतर अस्तित्व का दावा करता है? महाभारत में हमें यह श्लोक मिलता है –

"हे मनुष्य, तू सोचता है कि तू अकेला है, और जैसा चाहता है वैसा ही कार्य करता है। तुम उस शाश्वत जीवात्मा, जो तुम्हारे सीने में बसा है, की अनुभूति नहीं कर पाते। तुम्हारे द्वारा जो भी किया जाता है, वह सब देखता है और नोट करता है। यह जीवात्मा ही अपना साक्षी और अपना आश्रय है। वह मनुष्य का सर्वोच्च, शाश्वत साक्षी है। उसका अपमान मत करो" (*दि थिऑसोफिकल मूवमेंट*, मई 2023, पृ. 29)।

वास्तव में मानव बनने के लिए इस महत्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धांत को ग्रहण करना आवश्यक है कि सदगुण और सदाचार उतने ही निश्चित हैं जितने आत्मा, पदार्थ, मन; प्रकाश, अंधकार, दृष्टि; आकाश, बल, गति, आदि की तत्त्वमीमांसी श्रेणियां। पशु-मनुष्य दुष्प्रवृत्तियों और बुराइयों को त्यागकर मानव बनता है; और सदगुणों की मनोदशाओं को विकसित करके देवत्व की ओर बढ़ता है जो उसकी विभूतियां – महिमाएं – स्थिर हो जाती हैं

और सर्वदा करुणा की क्रांति झलकाती रहती हैं। यह करुणा, आदर्श सदगुण है जो शुभ, सत्य और सुंदर की त्रिमूर्ति के रूप में प्रकट होती है; करुणा से नैतिक कारक आते हैं, आदर्श सदगुण से समझ, और उनकी संयुक्त क्रिया पुनरुज्जीवित (regenerative) सौंदर्य है जो हर्ष और आनंद है।

प्रज्ञा-करुणा सभी सदगुणों की आत्मा है। स्वर्णिम उपदेशों की महायान पुस्तक *दि वॉयस ऑफ़ दि साइलेंस* में इस आदर्श सदगुण का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

करुणा कोई गुण नहीं है,
यह नियमों का नियम है–
शाश्वत सामंजस्यता,
अलया का स्व,
एक तटहीन सार्वभौमिक सार,
अक्षय सही का प्रकाश,
और सभी चीजों की उपयुक्तता,
शाश्वत प्रेम का नियम।

(*VOS*, श्लो. 300) (*Thus Have I Heard* – B. P. Wadia, p. 285)

दि वॉयस ऑफ़ दि साइलेंस में यह भी कहा गया है कि, "क्या तुम कार्रवाई से विरत रहोगे? इससे तुम्हारे जीवात्मा को स्वतंत्रता नहीं मिलेगी। *निर्वाण* तक पहुंचने के लिए व्यक्ति को आत्म-ज्ञान तक पहुंचना होगा, और हे बच्चे, आत्म-ज्ञान प्रेममय कार्यों का है" (श्लो. 136)।

वास्तव में सुसंस्कृत व्यक्ति का दृष्टिकोण केंद्र से होता है जो स्वयं नहीं बल्कि एक बड़ा स्व होता है। यह वह बड़ा स्व है जिसे हम "हमारे

पड़ोसी" के रूप में विशेषीकृत कर सकते हैं, और "संपूर्ण मानवता" के रूप में सामान्यीकृत कर सकते हैं। टेरेंस का प्रसिद्ध कथन, "मैं मनुष्य हूं, और मैं किसी भी मानवीय चीज़ के प्रति उदासीन नहीं रह सकता," हमें बताता है कि वास्तविक संस्कृति क्या है (*The New Humanity of Intuition* – C. Jinarajadasa – article : *Theosophy and Culture*, p. 184-85)।

जैसे ब्रह्माण्ड का कोई भी भाग ऐसा नहीं है, वैसे ही मनुष्य का कोई भी भाग ऐसा नहीं है जो एकात्मक स्रोत से न आया हो। हमारे भीतर और हमारे चारों ओर हम दिव्य चेतना के आयामों के अलावा कुछ भी अनुभव नहीं करते हैं; किंतु यदि हम सभी चीजों के स्रोत के ज्ञान पर पहुंचना चाहते हैं, तो हमें एक ही जगह – हमारे स्वयं के अन्दर – उस मूल ज्ञान को खोजना है। हमारे चारों ओर बृहद जगत में, हमारे अन्दर सूक्ष्म जगत में, विषय (subject) और वस्तु (object) के उस दिव्य परस्पर-क्रिया में प्रत्येक अपने ढंग से दूसरे का ज्ञान देता है जो सब जानने और सब अस्तित्व का स्रोत है।

हमारे सही स्व और हमारे स्व की सभी स्व के साथ एकत्व को जानने में दो कार्य-विधियां होती हैं – अन्दर की ओर और बाहर की ओर या संकुचन और विस्तार या निषेध और पुष्टिकरण।

अन्दर की ओर कार्यविधि में मनुष्य क्रमिक रूप से नकारते हुए कहता है कि, "वह अपना भौतिक शरीर नहीं है, अपनी भावना और वासना नहीं है, अपना भावनामय शरीर नहीं है, अपना विचार नहीं है, अपना मनस शरीर नहीं है" – वह अपने व्यक्तित्व की परतों को छीलता है, और तब यह निष्कर्ष निकालता है कि वह ऐसा कुछ भी नहीं है जिसको इंद्रियों द्वारा अनुभव किया जा सके, किंतु वह चेतना की एक इकाई है और वही वास्तविक मनुष्य है। गहन चिंतन द्वारा उसमें यह भी अनुभूति होती है कि दूसरे सभी उसी के बिल्कुल समान चेतना की इकाइयां हैं।

तब बाहर की ओर क्रियाविधि में वह प्रत्येक जीव और वस्तु जिसके संपर्क में वह जीवन में आता है, उनके प्रति करुणामय होता है। उसमें यह अनुभूति होती है कि वास्तविक रूप से वह बाहर के सभी दूसरों के साथ एक है, उसे सभी के एकत्व का बोध होता है और यह भी बोध कर लेता है कि देवत्व प्रत्येक जगह और हर जीव /वस्तु में है।

निष्कर्ष

सुषुप्त उच्चतर क्षमताओं को उजागर करने की प्रक्रिया – स्वयं को जानना, अपनी वास्तविक पहचान और लक्ष्य के अनुरूप सोच, भावना और कार्य को पुनः उन्मुख करना है। उसे पहले मनुष्य से मानव (अन्य मनुष्यों के साथ सामंजस्यपूर्ण एकता में मनुष्य) बनना है, और फिर मानवीय मनुष्य बनना है, और अंत में महामानव या परिपूर्ण मनुष्य बनना है। इस लक्ष्य तक पहुंचने में कई जन्म लग सकते हैं। स्वयं अपने आप का ज्ञान और व्यक्ति के जीवन में इसका अनुप्रयोग, आंतरिक और बाहरी संसार में सद्भाव, खुशी, शांति के लिए भी आवश्यक है।

इस संबंध मे रूमी की यह कविता अत्यंत भावपूर्ण तथा सार्थक है –

कहो, मैं तुम हूं

मैं सूरज की रोशनी में धूल का कण हूं।
मैं गोल सूरज हूं।
मैं धूल के कणों से कहता हूं, ठहरो।
सूरज से कहता हूं चलते रहो।
मैं सुबह की धुंध हूं,
और शाम की सांस हूं।
मैं उपवन के शीर्ष पर हवा हूं,

और चट्टान पर लहर हूं।
मस्तूल, पतवार, कर्णधार, और कील,
मैं वह मूंगा चट्टान भी हूं जिस पर वे स्थापित हुए हैं।
मैं एक पेड़ हूं जिसकी शाखाओं में एक प्रशिक्षित तोता है।
मौन, विचार और वाणी।
बांसुरी से आती संगीतमय हवा,
पत्थर की एक चिंगारी, धातु की झिलमिलाहट।
मोमबत्ती और उसके चारों ओर पागल पतंगा दोनों।
गुलाब, और खुशबू में खो गई बुलबुल।
मैं अस्तित्व के सभी क्रम हूं, चक्कर लगाने वाली आकाशगंगा,
विकासवादी समझ, उत्थान और पतन।
क्या है, और क्या नहीं है।
तुम जानते हो
जलालुद्दीन कि तुम एक
सब में हो, कहो मैं कौन हूं।
कहो मैं तुम हूं।

(*The Essential Rumi* – Jalaluddin Rumi)।

हमें सब समय और सभी स्थानों पर यह याद रखना चाहिए कि हम कौन हैं और हम यहां क्यों हैं।

ॐ और इसका व्यावहारिक महत्व

प्रोफेसर थिओडोर गोल्डस्टुकर द्वारा दी गयी ॐ की परिभाषा इस प्रकार है :–

"ॐ एक संस्कृत शब्द है जिसने हिन्दू धर्म के विकास में, रहस्यमय धारणाओं – कि यह हिन्दू सभ्यता के पूर्व काल से भी संबंधित है – के कारण, अधिक महत्त्व प्राप्त किया। इसका मूल भाव है – दृढ़ या गंभीर पुष्टिकरण या स्वीकृति। इस प्रकार जब श्वेत यजुर्वेद में यज्ञकर्ता देवताओं का आवाहन यज्ञ में भाग लेने के लिए करता है, तब सावित्री देवी उसके आवाहन को स्वीकार करने के लिए कहती हैं, 'ॐ' (अर्थात ऐसा हो); आगे बढिये।"

या, जब बृहदारण्यक उपनिषद् में देवताओं, मनुष्यों और दानवों के पिता, प्रजापति उनसे पूछते हैं कि उन लोगों ने उनके उपदेश को समझ लिया है, तो वह उनके उत्तर से संतुष्टि इन शब्दों में व्यक्त करते हैं, "ॐ, तुम लोगों ने पूर्णतया समझ लिया है," और उसी उपनिषद् में प्रवाहन, श्वेतकेतु के प्रश्न कि क्या उनके पिता ने उनको उपदेश दिया है, का उत्तर 'ॐ' शब्द अर्थात, 'सत्य (मैं हूं)', बोलते हुए देते हैं।

ऋग्वेद के एक भाग को ऐतरेय ब्राह्मण कहा जाता है, जहां, एक धार्मिक अनुष्ठान का वर्णन करते हुए ऋग्वेद के मंत्र तथा गाथा कहे जाने वाले गीत, होत्री पुजारी द्वारा सुनाए जाते हैं, और उसका प्रत्युत्तर अध्वर्यु पुजारी द्वारा यह कहते हुए दिया जाता है : होत्री द्वारा सुनाए हुए ऋग्वेद के मन्त्रों का अध्वर्यु द्वारा प्रत्युत्तर 'ॐ' है, और उसी तरह गाथा का उसका प्रत्युत्तर 'तथा' (अर्थात इस प्रकार) है, क्योंकि 'ॐ' (स्वीकृति का शब्द) देवताओं द्वारा प्रयुक्त होता है, जबकि 'तथा' (स्वीकृति का शब्द) मनुष्यों द्वारा प्रयोग किया जाता है (रूढ़िवादी हिन्दू के लिए ऋग्वेद के मंत्र दैवीय और गाथा मानवीय लेखन के हैं)।

इसमें नगण्य संदेह है कि शब्द के मूल भाव में, 'ॐ' सामान्य संस्कृत शब्द 'एवम' ('इस प्रकार') का केवल एक पुराना और संकुचित या सूक्ष्म रूप है, जो 'अ' के उच्चारण में कुछ व्युत्पत्ति (derivation) से 'ए' में परिवर्तित हुआ, एक समय में 'अवम' के रूप में रहा होगा, जब 'अ' के बाद वाले स्वर के उच्चारण को छोड़ देने से, 'वुम', 'अउम' बन गया होगा, और इसलिए भाषा के साधारण ध्वन्यात्मक (phonetic) नियम के अनुसार, 'ॐ' हो गया। संस्कृत में इस तरह के कई उपमान हैं। मगर इस शब्द की व्युत्पत्ति (etymology) संस्कृत साहित्य के प्रारंभिक अवधि में ही खो गयी प्रतीत होती है, क्योंकि प्राचीन व्याकरण में एक दूसरी व्युत्पत्ति मिलती है जिसके द्वारा हमे प्राचीन और मध्यकालीन भारत के कई धार्मिक तथा धर्मशास्त्रीय रचनाओं में रहस्यवाद का कारण मालूम होता है। इस बाद वाले व्युत्पत्ति के अनुसार 'ॐ' मौलिक 'अव' से एक प्रत्यय 'मां' द्वारा, आएगा, जब 'ॐ', 'अवमं' या 'ओमन' का एक संक्षिप्त रूप होगा, और जैसे 'अव' में 'रक्षा करना, बचाना, सुरक्षित करना' का अर्थ निकलता है, 'ॐ' एक ऐसा शब्द होगा जिसका अर्थ 'रक्षा करना' या 'मोक्ष' है, यज्ञ-कार्य से सम्बंधित वैदिक लेखन में इसके होने से इसके रहस्यमय गुण और पवित्रता का अनुमान होता है।

इसलिए ॐ शुभ शब्द बन गया, जिसके साथ आध्यात्मिक गुरु को वेद के प्रत्येक पाठ का पठन प्रारम्भ करना और शिष्य को अंत करना था।

मौजूदा प्रति-सख्य, या ऋग्वेद का व्याकरण कहता है, "यह शब्दांश (ॐ) वेद-पाठ के शीर्ष पर हो क्योंकि गुरु और शिष्य के लिए यह समान रूप से परम ब्रह्म, स्वर्ग का द्वार है।" और मनु आदेश देते हैं : "एक ब्राह्मण को वेद के एक पाठ के आरम्भ और अंत में ॐ शब्दांश का उच्चारण अवश्य करना चाहिए; क्योंकि यदि ॐ आरम्भ में नहीं आता, तो उसकी सीख चली

जाएगी; और यदि यह अंत में नहीं आता, तो कुछ भी नहीं बना रहेगा।"

उस समय जब एक दूसरी श्रेणी के लेखन (पुराण) हिन्दू प्रथा के प्रेरित संहिता में जोड़े गए, उसी समान कारण से ॐ इनका आरम्भिक शब्द है।

यह स्पष्ट है कि रहस्यमय शक्ति जो, जैसा ऊपर मनु के नियम-पुस्तक से उद्धरण दिखाता है, इस शब्द का गुण बताया गया था, वह पूर्व चिंतन का विषय रहा होगा। इसका एक कारण मनु द्वारा स्वयं दिया गया है। वह कहते हैं, "ब्रह्मा ने, भूः (पृथ्वी), भुवः (आकाश) और स्वः (स्वर्ग) के रहस्यमय शब्दों के साथ, तीन वेदों से अक्षर अ, उ, म (जो जुड़कर ॐ बनते हैं) निकाला"; तथा एक दूसरे मन्त्र में : "ये तीन महान अडिग शब्द, जिनके पहले ॐ है, और (ऋग्वेद का पवित्र मंत्र) गायत्री – जिसमें तीन लाइने हैं, को ब्रह्म (वेद) का मुख (प्रवेश) कहा गया," या जैसा टीकाकार बताते हैं, "अंतिम मुक्ति प्राप्त करने का साधन; और शब्दांश ॐ परम ब्रह्म है। ॐ के मानसिक पाठ के साथ तीन विनियमित श्वास, तीन रहस्यमय शब्द भूः, भुवः, स्वः और गायत्री, उच्चतम भक्ति है।"

"वेद में वर्णित सभी अनुष्ठान, जैसे होम और अन्य यज्ञ, समाप्त हो जाते हैं, किन्तु शब्दांश ॐ को अविनाशी मानना चाहिए; क्योंकि यह ब्रह्म (परमात्मा) स्वयं (का एक प्रतीक), सृष्टि रचना का स्वामी है।" ऐसा विचार मनु और कई उपनिषदों का है। उदाहरण के लिए कठोपनिषद में मृत्यु के देव यमराज, नचिकेता के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं : "शब्द जो सभी वेदों में उल्लेखित है, जिसको सभी तपस्याओं के साधन घोषित करते हैं, जिसकी इच्छा करते हुए धार्मिक साधक अपना धर्म पालन करते हैं, इस शब्द को मैं तुम्हे संक्षेप में बताऊंगा – यह ॐ है। इस शब्दांश का अर्थ है (अवर) ब्रह्म और परम (ब्रह्म)। जो कोई इस शब्दांश को जानता है, वह जो

भी इच्छा करता है, प्राप्त करता है।" और प्रसना-उपनिषद् में संत पिप्पलाद, सत्यकाम को कहते हैं : "परम और अवर ब्रह्म दोनों ॐ शब्द हैं; इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति इसके आधार से इन दोनों में से एक या दूसरे को समझता है। यदि वह इसके एक अक्षर (अ) पर ध्यान करता है, वह शीघ्र पृथ्वी पर जन्म लेता है; ऋग्वेद के मंत्रों द्वारा मनुष्यों के संसार में ले जाया जाता है; और, यदि वह आत्मसंयम, धर्म-पालन और श्रद्धा पर निष्ठावान है, तो वह महान होता है। किन्तु यदि वह अपने मन में इसके दो अक्षरों (अ तथा उ) पर ध्यान करता है, वह यजुर्वेद के मंत्रों द्वारा बीच के क्षेत्र में उठाया जाता है; चन्द्रमा के संसार में आता है और, वहां शक्ति का भोग कर, फिर मनुष्यों के संसार में वापस आता है। किंतु यदि वह इसके तीनों अक्षरों (अ, उ तथा म) द्वारा परमात्मा पर ध्यान करता है, तो वह सूर्य के प्रकाश में प्रस्तुत किया जाता है; जैसे सांप अपने केंचुल से मुक्त होता है, उसी प्रकार वह पाप से मुक्त होता है।" माण्डूक्य उपनिषद् के अनुसार जीवात्मा की प्रकृति का सारांश तीन अक्षरों अ, उ तथा म में, उनके पृथक और संयुक्त रूप में दिया गया है – अ, वैश्वानर है या ब्रह्म का वह रूप जो जीवात्मा को जाग्रत अवस्था में दर्शाता है; उ, तैजस, या ब्रह्म का वह रूप जो इस को स्वप्न अवस्था में दर्शाता है; और म, प्रज्ञा, या ब्रह्म का वह रूप जो जीवात्मा को सुषुप्ति अवस्था (या वह अवस्था जिसमें यह अस्थायी रुप से परमात्मा से जुड़ा होता है) में दर्शाता है; जबकि अ, उ, म संयुक्त रुप से (या ॐ), ब्रह्म का चौथा या उच्चतम अवस्था दर्शाता है, "जो अकथनीय है, जिसमें सभी अभिव्यक्तियां समाप्त हो गईं हैं, जो आनन्दमय और अद्वैत है। इसलिए ॐ जीवात्मा है, और वह जो जानता है, इस जीवात्मा के द्वारा परमात्मा में प्रवेश करता है।" इस प्रकार के अनुच्छेदों को अधिक गूढ़ प्रयुक्त वर्णनों की कुंजिका की तरह विचारा जा सकता है; उदाहरण के लिए, योग दर्शन के लेखक द्वारा जहां, तीन छोटे वाक्यों में, वह कहते हैं, "उनका (परमात्मा का) नाम प्रणव

(अर्थात ॐ) है; इसका जप (या गुनगुनाना) और इसके अर्थ पर मनन; उससे परमात्मा का ज्ञान आता है और अवरोधों (जैसे व्याधि या बीमारी, शिथिलता या थकान, संशय, प्रमाद, आलस्य आदि, जो योगी के मन को अवरुद्ध करते हैं) की अनुपस्थिति हो जाती है" (पतंजलि का योगसूत्र-खंड 1, सूत्र, 27-30)। किंतु, साथ ही वे आगे के कार्य को इंगित करते हैं जिसको उपनिषदों के सिद्धांत के रहस्यवाद को बढ़ाने में अन्धविश्वास ने ले लिया। क्योंकि, जैसे ही ॐ शब्द के प्रत्येक अक्षर में पृथक विचार की कल्पना की गई, यह स्पष्ट है कि विशेष प्रयोजनों की पूर्ति के लिए उन पर दूसरी सांप्रदायिक व्याख्याएं डाल दी गयीं। इस प्रकार महान धर्मशास्त्री और उपनिषदों के टीकाकार, शंकर एक शब्द-व्युत्पत्ति से छोटा करने (with an etymological pruning), जिसके द्वारा वह अ को आप्ती (व्याप्त) के संक्षिप्तीकरण में परिवर्तित करते हैं, से संतुष्ट हो जाते हैं, क्योंकि वाणी वैश्वानर द्वारा व्याप्त है; उ को उत्कर्थ (श्रेष्ठता) के संक्षिप्तीकरण में, क्योंकि तैजस, वैश्वानर से श्रेष्ठ है; और म को मिति (विनाश) के संक्षिप्तीकरण में, वैश्वानर ओर तैजस, जगत के विनाश और पुनरुत्थान पर, प्रज्ञा में शोषित हो जाते हैं – पुराण अ से विष्णु का एक नाम बनाते हैं; उ से उनकी पत्नी 'श्री' और म से उनके संयुक्त पुजारी का एक नाम; या वे, अ, उ, म में त्रय – ब्रह्मा, विष्णु, और शिव को देखते हैं; प्रथम अ द्वारा दर्शाते हुए, द्वितीय उ द्वारा और तृतीय म द्वारा – निस्संदेह प्रत्येक संप्रदाय तीनो अक्षरों के संयोजन या ॐ को अपने परम देव के साथ पहचान करते हुए। इसी प्रकार *भगवद् गीता* में भी, जो विष्णु के अवतार कृष्ण की पूजा को समर्पित है, यद्यपि यह वास्तव में योग के सिद्धांत पर आधारित दार्शनिक प्रवृत्तियों की कविता है, कृष्ण एक श्लोक में स्वयं के लिए कहते हैं कि वह ॐ हैं; जबकि एक दूसरे श्लोक में वह ॐ को परमात्मा बताते हैं (X, 25 and VII, 8)। ॐ शब्द का एक सामान्य नाम प्रणव – जैसा गीता के अध्याय VII के श्लोक 8 में लिखा है – जो धातु

नु, 'प्रशंसा' से आता है, उसके पहले लगा प्रत्यय प्र, प्रमुखता या ओजपूर्ण कथन दर्शाता है, और, इसलिए 'प्रणव' का, अक्षरश: अर्थ होता है 'प्रशंसा, प्रभावी प्रशंसा'। यद्यपि ॐ, इसके मूल भाव में एक गंभीर या प्रभावी स्वीकृति जैसा शब्द है, वास्तव में कहा जाए तो वैदिक साहित्य तक प्रतिबद्ध है, यह ध्यान देने योग्य है कि आज-कल भारत वासियों द्वारा यह प्रायः 'हां' के अभिप्राय में प्रयोग किया जाता है, बिना किसी गूढ़ गुणों के संकेत से, जैसा की धार्मिक कृतियों में बताया गया है। मोनियर विलियम्स गूढ़ शब्दांश ॐ का निम्नलिखित वर्णन करते हैं :

"जब शब्दांश ॐ के दुहराए जाने से, जो आरम्भ में 'वह' या 'हां' के भाव का था, वे लोग कुछ अंश तक मानसिक शांति प्राप्त कर लिए, प्रश्न उठा कि ॐ का क्या अर्थ है, और जैसे-जैसे मन उच्चतर से उच्चतर विषय की ओर अग्रसर हुआ, इस प्रश्न के कई उत्तर दिये गए। इस तरह एक अनुच्छेद में हमें पहले बताया गया कि ॐ वेदों का प्रारंभ है या जैसे हम सामवेद के एक उपनिषद् मे पाते हैं – सामवेद का प्रारंभ है; इसलिए जो ॐ पर ध्यान करता है उसको पूरे सामवेद पर ध्यान करता हुआ माना जा सकता है।

"ॐ सामवेद का सार है, और सामवेद लगभग पूर्णतया ऋग्वेद से लिया गया है, यह स्वयं में ऋग्वेद का सार कहा जा सकता है। ऋग्वेद सभी वाणी को दर्शाता है, सामवेद सभी श्वास या जीवन, इस प्रकार ॐ सभी वाणी और सभी जीवन के प्रतीक के रूप में विचारा जा सकता है। इस प्रकार ॐ केवल हमारे मानसिक और भौतिक शक्तियों का ही नाम नहीं होता है, बल्कि विशेष रूप से प्राण या आत्मा के जीवन तत्त्व का नाम भी है। यह दूसरे अध्याय में एक नीति कथा द्वारा समझाया गया है, जबकि तृतीय अध्याय में हमारे अन्दर की आत्मा को सूर्य में आत्मा के समान कहा गया है।

"इसलिए वह जो ॐ पर ध्यान करता है, मनुष्य में आत्मा – जो

प्रकृति या सूर्य में आत्मा के समान है – पर ध्यान करता है, और इस प्रकार छांदोग्य उपनिषद् के प्रारंभ में जो शिक्षा बताई गई उसका अर्थ है कि कोई भी वेद, अपने यज्ञ और अनुष्ठानों के साथ, साधक को मुक्ति प्राप्त नहीं करा सकते। अर्थात वेदों के नियम के अनुसार किये जाने वाले पवित्र कार्यों का अंत में कोई उपयोग नहीं है, किंतु ॐ पर ध्यान या ओम के अर्थ का ज्ञान ही सही मुक्ति या सही अमरत्व प्राप्त करा सकता है।

"इस प्रकार शिष्य को पग से पग द्वारा उपनिषदों के उच्चतम उद्देश्य – अर्थात मनुष्य में आत्मा को उच्चतम जीवात्मा के साथ समान होने के बोध – की ओर ले जाया जाता है।

"पाठ जो विश्व के उस उच्चतम धारणा, आत्म निष्ठ और वस्तुनिष्ठ दोनों, को ले जाते हैं, निःसंदेह अधिक अंधविश्वास और असंगत विचारों के साथ मिल गए हैं। फिर भी मुख्य उद्देश्य कभी भी दृष्टि से ओझल नहीं हुआ। इस प्रकार जब हम आठवें अध्याय पर आते हैं तो चर्चा यद्यपि ॐ से प्रारंभ होती है, संसार के स्रोत के प्रश्न से अंत होती है, और अंतिम उत्तर होता है कि ॐ का अर्थ आकाश, ईथर है, और आकाश सभी चीजों का स्रोत है।"

डॉक्टर लेक विद्युत को आकाश या हिंदुओं के पांचवे महाभूत की तरह मानते हैं।

इसके बाद ब्लावत्सकी, ॐ पर अपना विचार देती हैं:

श्वास में, अन्दर लेने को पूरक कहा गया है, मध्यावधि को कुंभक कहा गया, और बाहर निकालने को रेचक कहा गया है। जब श्वास दाएं नाक से ली जाती है इसको पिंगला कहते हैं, जब दोनों नाक से ली जाती है इसका नाम सुषुम्ना है और जब यह बाएं नाक से ली जाती है इसको इड़ा कहा जाता

है।

दाहिनी श्वास अपनी गर्म करने की प्रकृति के कारण सौर्य श्वास कहलाती है; जबकि बायीं श्वास अपनी ठंडी प्रकृति के कारण चंद्र श्वास कहलाती है। सुषुम्ना श्वास शंभू-नाड़ी कहलाती है। बीच की अवधि में मानवीय मन को परमात्मा पर ध्यान में व्यस्त होना चाहिए।

श्वास का स्रोत "अविचारी" ("indiscreet") या तुच्छ रुप से होता है, और मन का स्रोत श्वास से। इंद्रियों के अंग, मन के नियंत्रण में होते हैं। योगी श्वास के निलंबन द्वारा अपने मन को नियंत्रित करते हैं। श्वास सभी वाणी का स्रोत है। गहरी श्वास अन्दर लेकर सोऽहं शब्द का उच्चारण किया जाता है और उसके बाद नथुनों द्वारा द्वारा श्वास बाहर निकाली जाती है। इस शब्द का अर्थ है "ईश्वर हममें है।" एक दूसरा शब्द हंस है। गहरी श्वास बाहर निकालकर और फिर श्वास अन्दर लेकर इसका उच्चारण किया जाता है। इसका अर्थ है "मैं ईश्वर में हूं।"

अन्दर ली जाने वाली श्वास शक्ति या बल है। बाहर निकलने वाली श्वास शिव या मृत्यु है। अंतराल या कुंभक, दीर्घायु का सहायक है। जब श्वास को बाहर निकालने के बाद श्वास अन्दर नहीं खींची जाती है, तब मृत्यु होती है। बलपूर्वक श्वास का बाहर निकलना सर्वदा विघटन होने या मृत्यु का लक्षण होता है। यह दोनों शब्द सोऽहं या हंस जैवीय अर्थव्यवस्था के बर्बादी का कारण होते हैं, क्योंकि वे अन्दर खींची गई हवा की ऑक्सीजन को फेफड़ो में प्रवेश होने देते हैं जहां रक्त में फुफ्फुसीय (pulmonary) (फेफड़े संबंधी) परिवर्तन होता है।

लावोईसीएर के अनुसार एक वयस्क फ्रांसीसी पुरुष प्रतिदिन वायुमंडल से 15661 ग्रेन (या 1015 ग्राम) ऑक्सीजन श्वास द्वारा अन्दर

खींचता है, 0.705 ग्राम प्रति मिनट की दर से।

ॐ शब्द, हवा को मुंह द्वारा अन्दर लेते हुए और उसे नथुनों द्वारा बाहर निकालते हुए बोला जाता है।

जब एक मनुष्य मुंह से श्वास खींचता है और नथुनों से बाहर निकालता है, तब अन्दर खींची गई हवा की ऑक्सीजन फेफड़ों में नहीं जाती, जहां रक्त में फुफ्फुसीय (pulmonary) परिवर्तन होते हैं। इससे एक शब्दांश वाला ॐ श्वास के निलंबन के विकल्प (Substitute) की तरह काम करता है।

शरीर का मल (waste) श्वास द्वारा प्रणाली में लिए गए ऑक्सीजन की मात्रा के अनुपात में होता है। जल्दी-जल्दी श्वास लेने वाले मनुष्य का मल, धीरे-धीरे श्वास लेने वाले मनुष्य के मल की तुलना में अधिक होता है। जहां मन की शांति श्वास को धीमी करती है और शरीर के मल का विलंबन (retardation) करती है, शांत श्वास से मन भी शांत होता है। योगी लोग श्वास को निलंबन या रोककर निर्वाण प्राप्त करते हैं। वेदान्ती लोग मन को रोककर (मन को खाली कर के) मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार ॐ जीवात्मा को शरीर से पृथक करने की प्रक्रिया है। यह शरीर के विघटन या मृत्यु के पहले हांफती श्वास का परिणाम है। पुरातन हिंदू लोग शब्दांश ॐ की खोज द्वारा मरते हुए व्यक्ति की हांफती श्वास का उपयोग किए।

शब्दांश ॐ असामयिक क्षय या मृत्यु से मनुष्य की रक्षा करता है, उसको सांसारिक प्रलोभन से रक्षा करता है, तथा उसे पुनर्जन्म से बचाता है। यह मानवीय जीवात्मा और परमात्मा को जोड़ता है। ॐ का गुण श्वसन (respiration) या श्वास की लंबाई को छोटा करने का है।

"शरोदय" (श्वसन पर एक उत्कृष्ट आलेख) में शिव यह कहते हुए दिखाए गए हैं कि बाह्य-श्वास (expiration) की सामान्य लम्बाई 9 इंच (22.86 cms) है। भोजन करते और बोलते समय बाह्य-श्वास की लम्बाई 13.5 इंच (34.29 cms) होती है। साधारण टहलने में बाह्य-श्वास 18 इंच (45.72 cms) लम्बी हो जाती है। दौड़, बाह्य-श्वास को 25.5 इंच (64.77 cms) लम्बी कर देता है। यौन-सम्भोग में श्वसन 48.75 इंच (123.82 cms) लम्बा हो जाता है। नींद में श्वसन 75 इंच (190.5 cms) लम्बा हो जाता है। चूंकि नींद शरीर का अधिक क्षय करती है और रोग, असामयिक क्षरण तथा मृत्यु होने का कारण होती है, योगी इससे बचने का प्रयत्न करता है। वह निम्नलिखित आहार का अनुसरण करता है :– चावल, 6 ounces troy (186.6 ग्राम); दूध, 373 ग्राम। वह प्रतिदिन, 10.12 ग्राम कार्बन; 4.13 ग्राम नाइट्रोजन का उपभोग करता है।

इस आहार में वह सर्वदा जागरूक (watchful) रहता है, और अपना समय ॐ के चिंतन में व्यतीत करता है। उसके आहार में नाइट्रोजन की छोटी मात्रा होने से वह क्रोध से मुक्त रहता है। उसके बाद योगी अपनी कामुक इच्छा या यौन-भूख को वश में करता है। वह दिन-प्रतिदिन अपने भोजन को कम करता है जब तक यह न्यूनतम मात्रा, जिस पर जीवन का अस्तित्व रह सकता है, नहीं हो जाता। वह अपना जीवन प्रार्थना और ध्यान में बिताता है। वह कार्य से मुक्ति का प्रयास करता है। वह अपने छोटे कक्ष में रहता है; उसका आसन चीते या हिरण की खाल का होता है; वह सोना, चांदी, और सभी मूल्यवान पत्थरों को कूड़ा की तरह समझता है। वह मांस, मछली और मदिरा से बचता है। वह नमक कभी नहीं छूता है, और पूर्णतया फल तथा कंद मूल पर रहता है। ब्लावत्सकी लिखती हैं कि उन्होंने एक महिला भिक्षुणी को देखा था, जो प्रति दिन एक सेर (0.933 किलो) आलू और इमली के गूदे की छोटी मात्रा पर रहती थी। इस स्त्री ने अपने को दुबला

करके एक कंकाल हो गई थी। वह एक शुद्ध और पवित्र जीवन जीती थी, तथा अपना समय ॐ के मानसिक पाठ में बिताती थी। एक सेर आलू में 233.27 ग्राम ठोस अवशेष (residue) होता है। एक सेर आलू के ठोस अवशेष में निम्नलिखित मुख्य घटक (ingredients) होते हैं –

कार्बन, 102.87 ग्राम; हाइड्रोजन, 13.53 ग्राम;, नाइट्रोजन, 2.82 ग्राम; ऑक्सीजन, 102.40 ग्राम; नमक, 11.65 ग्राम = 233.27 ग्राम

वह आगे लिखती हैं कि उन्होंने एक ब्राह्मण (ब्रह्मचारी) को देखा था जो प्रतिदिन एक सेर दूध ग्रहण करता था, और कोई अन्य भोजन नहीं लेता था।

बोउसिंगॉल्ट (एक फ्रांसीसी कृषि रसायन शास्त्री) द्वारा एक सेर गाय के दूध का विश्लेषण –

जल, 812.57 ग्राम; कार्बन, 65.15 ग्राम; हाइड्रोजन, 10.67 ग्राम; नाइट्रोजन, 4.86 ग्राम; ऑक्सीजन, 34.05 ग्राम; नमक, 5.83 ग्राम = 933.13 ग्राम।

एक सेर गाय के दूध को जंतु अर्थव्यवस्था में जलने के लिए 212.47 ग्राम ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है। ब्रह्मचारी, प्रति मिनट की दर से 0.147 ग्राम ऑक्सीजन श्वास के साथ अन्दर खींचता था। यह ब्रह्मचारी ॐ पर चिंतन में अपना जीवन बिताता था, और एक संयमी जीवन जीता था। फ़्रांसीसी वयस्क, जो अच्छी तरह विकसित कामुकता का सुंदर नमूना है, अपने अस्तित्व के प्रति मिनट में 0.70 ग्राम ऑक्सीजन श्वास के साथ अन्दर खींचता था।

वास्तव में ॐ के उच्चारण के लिए, एक कार्य-मुक्त (retired),

संयमी (abstemious), और सादा जीवन आवश्यक है, जो दृढ़ सदाचार के प्रति प्रेम तथा अनित्य कामुकता के प्रति अनिच्छा को बढ़ाता है। शिव कहते हैं, "वह, जो काम-वासना, क्रोध, लोलुपता और अज्ञान से मुक्त है, मोक्ष या निर्वाण प्राप्त करने के योग्य होता है।"

एक सेर गाय के दूध का ठोस अवशेष 120.56 ग्राम होता है। वर्ष 1784 में एडिनबर्ग में भौतिकी के एक छात्र ने अपने को लंबे समय तक एक पिंट (562.261 मिलीलीटर) दूध और आधा पाउंड (0.454 किलोग्राम) सफेद डबल रोटी पर सीमित किया। इस छात्र के आहार में 96.39 ग्राम कार्बन और 5.20 ग्राम नाइट्रोजन था। इस भोजन के घटकों को पूरा पचने के लिए 278.97 ग्राम ऑक्सीजन आवश्यक था। वह श्वसन द्वारा प्रति मिनट 0.189 ग्राम ऑक्सीजन अन्दर खींचता था। इस दृष्टान्त में अत्यधिक मानसिक क्रिया ने वायुमंडल से श्वसन द्वारा अन्दर खींची गई ऑक्सीजन की मात्रा को कम कर दिया। पूर्व काल के ईसाई संन्यासी अपने कामुक इच्छा को समाप्त करने और नींद पर विजय प्राप्त करने के लिए, प्रतिदिन 340.2 ग्राम (12 औंस) रोटी और पानी पर रहते थे। वे प्रतिदिन 263.29 ऑक्सीजन का उपभोग करते थे। वे श्वसन द्वारा प्रति मिनट की दर से 0.183 ग्राम ऑक्सीजन अन्दर लेते थे।

एक बड़े फ्रांसीसी शरीर-क्रिया वैज्ञानिक (physiologist), म. अंडरल, के अनुसार, एक 10 वर्ष आयु का फ्रांसिसी लड़का, यौन-भूख विकसित होने के पहले, 24 घंटों में 120.06 ग्राम कार्बन श्वसन द्वारा बाहर निकालता है। जो अपनी वासना का निग्रह करना चाहता है, उसे अपने दैनिक पथ्य में 120.06 ग्राम कार्बन लेना चाहिए।

डॉ एडवर्ड स्मिथ के अनुसार, 421.2 ग्राम घरेलू रोटी में 120.01 ग्राम कार्बन होता है। किन्तु पूर्वकालीन ईसाई संन्यासी जो प्रतिदिन 340.2 ग्राम

रोटी पर रहते थे, वे 96.96 ग्राम कार्बन का उपभोग करते थे। कार्बन की यह मात्रा फ़्रांसिसी लड़के द्वारा उपभोग की गई मात्रा से 23.1 ग्राम कम थी। फ़्रांसिसी लड़का अपने आहार में 120.06 ग्राम कार्बन उपभोग किया, किन्तु हिन्दू संन्यासिनी जो संयमी जीवन जीती थी, अपने दैनिक आलू के राशन में 102.89 ग्राम कार्बन का उपभोग करती थी। इस तरह यह स्पष्ट है कि फ़्रांसिसी लड़के ने, हिन्दू संन्यासिनी द्वारा उपभोग की गई मात्रा से, 17.2 ग्राम अधिक कार्बन उपभोग किया। वृन्दावन में एक संन्यासी रहते थे जिनकी मृत्यु 109 वर्ष की आयु में हुई और जो 40 वर्षों तक 233.28 ग्राम (4 छटांक) पेड़ा और उतना ही दूध के दैनिक आहार पर निर्वाह किये थे। उनके आहार में 128.3 ग्राम कार्बन और 5.88 ग्राम नाइट्रोजन था।

संयमी जीवन श्वास की लंबाई कम करता है, शरीर का क्षय घटाता है, दीर्घायु लाता है, और हृदय की शुद्धता पैदा करता है। संयमी जीवन, चक्कर, सिर दर्द, मिर्गी, दमा, वातरोग, नासूर, रोड़ा, गण्डमाला, दाद, तथा कई अन्य रोगों को ठीक करता है।

इटली के एक सज्जन, कॉर्नरो, जिनके सभी डॉक्टरों ने आशा छोड़ दी थी, केवल 373.24 ग्राम (12 औंस) रोटी और 466.55 ग्राम (15 औंस) पानी पर रहकर स्वास्थ्य वापस प्राप्त कर लिए, तथा एक लम्बी आयु तक जीवित रहे। वह 31.1 ग्राम (एक औंस) से भी कम मांसपेशी बनाने वाले आहार का उपभोग करते थे। एडवर्ड स्मिथ के अनुसार 350 ग्राम रोटी में 31.1 ग्राम (एक औंस) मांसपेशी बनाने वाले तत्त्व होते हैं।

जो शुचिता, ईमानदारी, विनम्रता, और दयालुता का जीवन जीना चाहते हैं, उन्हें प्रतिदिन 31.1 ग्राम (एक औंस) मांसपेशी बनाने वाले तत्त्व वाला आहार लेना चाहिए। चूंकि 31.1 ग्राम (एक औंस) नाइट्रोजन-युक्त (nitrogenous) पदार्थ में 4.536 ग्राम नाइट्रोजन होता है, एक व्यक्ति को

ऐसा भोजन लेना चाहिए जिससे 4.536 ग्राम नाइट्रोजन निकलती है।

हत्या, चोरी, डकैती, लांछन लगाना, क्रोध, विलासिता, प्रतिशोध, झूठ बोलना, वेश्यागमन, और ईर्ष्या ऐसे पाप हैं, जो नाइट्रोजन का अधिक प्रतिशत रखने वाले पौष्टिक पदार्थों का उपभोग करने से होते हैं।

जो व्यक्ति प्रत्येक लौकिक (earthly) विचार, इच्छा, और वासना से मुक्त रहना चाहता है, उसे मछली, मांस, स्त्री, तथा मदिरा से बचना चाहिए, और अधिकतम सादे भोजन पर जीना चाहिए। निम्नलिखित तालिका में विभिन्न पौष्टिक पदार्थों की वह मात्रा दिखाई गई है, जो 4.536 ग्राम नाइट्रोजन देते हैं –

गेहूं-निर्वात (vacuum) में सुखाया हुआ	206.18	ग्राम
जई (oat)	206.18	,,
जौ	224.56	,,
मक्का (भारतीय)	226.80	,,
राई (सुखाई हुई)	266.82	,,
चावल (सूखा हुआ)	326.33	,,
दूध (सूखा हुआ)	113.40	,,
मटर (सूखी हुई)	108.00	,,
फली (सफेद)	105.47	,,
गोभी (सूखी)	122.60	,,
गाजर (सूखा)	189.00	,,
शलजम (सूखा)	206.18	,,

रोटी	350.00	,,
अंजीर	464.76	,,
गाय का दूध (ताज़ा)	87.23	,,

संयम (मिताहार) से श्वास का निलंबन होता है। श्वास के निलंबन से मन की शांति उत्पन्न होती है, जो अतीन्द्रिय (supersensuous) ज्ञान पैदा करता है। अतीन्द्रिय ज्ञान से परमानंद, जो प्राचीन हिन्दू ऋषियों की 'समाधि' है, आता है।

टहलना या दौड़ना, श्वसन को लम्बा करते हैं, इसलिए इनके बजाय, ॐ के साधक को "योग-दर्शन" में वर्णित दो शांत आसनों – पद्मासन और सिद्धासन – का अभ्यास करना चाहिए। शिव के अनुसार बाह्य-श्वास की सामान्य लम्बाई 9 इंच (22.86 cms) है। वह कहते हैं कि एक व्यक्ति, ॐ के अश्राव्य (inaudible) उच्चारण अथवा श्वास के निलंबन (प्राणायाम) द्वारा, अपनी बाह्य-श्वास की लम्बाई को 8.25 इंच (20.95 cms) छोटा करके, अपनी वासना तथा इच्छा का दमन कर सकता है; यह कि वह अपनी बाह्य-श्वास की लम्बाई को 7.50 इंच (19.05 cms) छोटा करके, परमानंद (ecstacy) का लाभ ले सकता है।

एक व्यक्ति, अपनी बाह्य-श्वास की लम्बाई को 6.75 इंच (17.14 cms) छोटा करने से, कविता लिखने की शक्ति प्राप्त करता है। जब एक व्यक्ति अपनी बाह्य-श्वास की लम्बाई को 6.00 इंच (15.24 cms) छोटा कर सके, तब उसे भविष्य की घटनाओं का वर्णन करने की शक्ति प्राप्त होती है। जब एक व्यक्ति, अपनी बाह्य-श्वास की लम्बाई को 5.25 इंच (13.33 cms) छोटा कर देता है, तब वह दिव्य-दृष्टि से धन्य हो जाता है; वह दूर के संसारों में क्या हो रहा है, उसको देख लेता है।

जब ॐ के अश्राव्य (inaudible) उच्चारण से बाह्य-श्वास की लम्बाई 4.50 इंच (11.43 cms) छोटी हो जाती है, तो यह साधक को वायु-क्षेत्र (aerial regions or astral plane) में विचरण करने की सामर्थ्य देता है। जब बाह्य-श्वास की लम्बाई 3.75 इंच (9.52 cms) हो जाती है, तब ॐ का साधक पलक-झपकने (निमिष मात्र) में सम्पूर्ण संसार में विचरण कर लेता है।

जब ॐ के अश्राव्य (inaudible) गुनगुनाने द्वारा एक व्यक्ति अपनी बाह्य-श्वास की लम्बाई 3 इंच (7.62 cms) छोटी करता है, तब वह अष्ट-सिद्धियां या पूर्णता (या अतिमानवीय शक्तियां) प्राप्त कर लेता है। जब बाह्य-श्वास की लम्बाई 2.25 इंच (5.71 cms) छोटी हो जाती है, तब ॐ का साधक नव-निधि (संसार के नौ बहुमूल्य रत्न) प्राप्त करता है। ऐसा व्यक्ति संसार के धन को अपनी ओर आकर्षित करता है, यदि यह माना जाय कि उसको इनकी कोई परवाह है।

ऊपर बताए अभ्यास से जब बाह्य-श्वास की लम्बाई 1.50 इंच (3.81 cms) छोटी हो जाती है, तब वह देव-लोक, जहां उच्चतम – आत्मा का निवास है, को देखता है। जब ॐ के अश्राव्य (inaudible) उच्चारण से बाह्य-श्वास की लम्बाई 0.75 इंच (1.90 cms) छोटी हो जाती है, तब साधक देव-तुल्य हो जाता है और अपनी छाया नहीं डालता है।

"ॐ अमित्य! अमापनीय को शब्दों से मत मापो; न ही विचारों की रस्सी को अथाह में डालो!

जो पूछता है, गलती करता है; जो उत्तर देता है, गलती करता है। कुछ मत कहो !"

"ॐ मणि पद्मे हुम् – ॐ रत्न कमल में"

उपर्युक्त सूत्र के गुनगुनाने द्वारा महान बुद्ध ने स्वयं को स्वार्थपरता, झूठी श्रद्धा, शंका, घृणा, काम-वासना, आत्म-प्रशंसा, त्रुटि, घमंड से मुक्त कर लिया और निर्वाण प्राप्त किया।

मनुष्य का अपने भूतकाल के कार्यों के अलावा कोई भाग्य नहीं हैं; कोई नर्क नहीं, उसको छोड़कर जिसको वह बनाता है; जिनकी वासनाएं दब कर सो गयी हैं, उनके लिए कोई स्वर्ग इतना ऊंचा नहीं है, जहां वे न पहुंच सकें।

शिव के अनुसार एक मनुष्य निर्वाण प्राप्त करता है, जब उसका श्वसन अंतरीय हो जाता है और उसके नथुनों से बाहर नहीं आता है। जब श्वसन अंतरीय हो जाता है – अर्थात, जब यह नथुनों के अन्दर ही रहता है, तब योगी मूर्छा, भूख, प्यास, थकान, रोग, तथा मृत्यु से मुक्त हो जाता है। वह एक दैवीय प्राणी हो जाता है, जब उसे अग्नि से स्पर्श कराया जाता है वह अनुभव नहीं करता है, कोई हवा उसे सुखा नहीं सकती, कोई जल उसे सड़ा नहीं सकता, कोई जहरीला सांप उस पर प्राणघातक घाव नहीं कर सकता। उसका शरीर सुगंध निकालता है; और वह बिना हवा, भोजन तथा पेय के रह सकता है।

जब श्वसन अंतरीय हो जाता है, तब योगी कार्य, विचार, और वाणी में कोई पाप करने में अक्षम होता है; और इस प्रकार से वह 'स्वर्ग का साम्राज्य' जो पापमुक्त जीवात्माओं के लिए खुला है, को विरासत में प्राप्त करता है।

(एच. पी. ब्लावत्सकी की पुस्तक *Five Years of Theosophy* के लेख *"OM," And its Practical Significance* की सामग्री से)

उपनिषद् के प्रकाश में आत्मा की प्रकृति में अंतर्दृष्टि

सामान्य

हिंदू परंपरा में दो प्रकार के पवित्र साहित्य ज्ञात हैं –

1. श्रुति – उपनिषद्, वेद, ब्रह्मसूत्र
2. स्मृति – पुराण, महाभारत, रामायण

वेद चार हैं – *ऋक्, यजुर, साम* और *अथर्व*। वेदों के चार भाग हैं : *संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक* और *उपनिषद्*। उपनिषद् प्रत्येक वेद का चौथा या अंतिम भाग हैं, वेदों का अंतिम भाग होने के कारण *उपनिषद्* वेदांत कहलाते हैं।

हिंदू धर्म के तीन मौलिक ग्रंथ हैं – *भगवद् गीता, ब्रह्मसूत्र* और *उपनिषद्*।

एक मत के अनुसार उपनिषदों की संख्या 108 बताई गई है लेकिन इनमें से दस प्रमुख माने जाते हैं और इन पर आदि शंकराचार्य की टीकाएं उपलब्ध हैं।

दि सीक्रेट डॉक्टरीन में अभिलिखित कुछ तथ्य

"उपनिषद्" नाम का अनुवाद प्रायः "गुह्य सिद्धांत" किया जाता है। एच. पी. ब्लावत्स्की लिखती हैं, "उपनिषद् – उप-नि-शद एक यौगिक शब्द है जिसका अर्थ है '*गुप्त, आध्यात्मिक* ज्ञान के प्रकट होने से अज्ञानता पर विजय' – अब साधक को उनके पूर्ण अर्थ प्राप्त करने में सक्षम बनाने के लिए एक मास्टर कुंजी के अतिरिक्त प्राप्ति की आवश्यकता होती है"। ये ग्रंथ

श्रुति या 'प्रकट ज्ञान', संक्षेप में, प्रकटीकरण का हिस्सा बनते हैं, और आम तौर पर वेदों के तीसरे प्रभाग के रूप में ब्राह्मण भाग से जुड़े होते हैं। 150 से अधिक उपनिषद् हैं, लेकिन वास्तविक ग्रंथों में से इस संख्या का पांचवां भाग भी उपलब्ध नहीं है। वेदों के लिए उपनिषद् वही हैं जो यहूदी बाइबिल के लिए कबाला हैं। वे वैदिक ग्रंथों के गुप्त और रहस्यमय अर्थों का वर्णन और व्याख्या करते हैं। वे ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, देव, आत्मा, तथा जीवात्मा की प्रकृति के बारे में, और साथ ही मन तथा पदार्थ में तत्त्वमीमांसी संबंध बताते हैं। कुछ कम शब्दों में : उनमें सभी मानव ज्ञान का आरंभ और अंत सम्मिलित है, लेकिन बुद्ध के दिन से अब उन्होंने इसे प्रकट करना बंद कर दिया है। सभी उपनिषद् निरपवाद रूप से और निरंतर अपनी पुरातन उत्पत्ति की ओर इशारा करते हैं, और सिद्ध करते हैं कि (क) वे, अपने कुछ हिस्सों में, जाति व्यवस्था के अत्याचारी संस्थान बनने से पहले लिखे गए थे; और (ख) उनकी आधी सामग्री हटा दी गई है – जबकि उनमें से कुछ को फिर से लिखा और संक्षिप्त किया गया है। एलफिंस्टन उपयुक्तता से टिप्पणी करते हैं, उपनिषद् "एक पूरी तरह से भिन्न भावना की सांस लेते हैं [अन्य ब्राह्मणवादी लेखन से], ऋग्वेद के स्वयं के स्तोत्रों को छोड़कर किसी भी पहले की कृति में अज्ञात – विचार की स्वतंत्रता।" दूसरे तथ्य को बुद्ध के जीवन पर एक पाण्डुलिपि में अभिलेखित परंपरा द्वारा समझाया गया है। इसमें कहा गया है कि एक सुधार के आरंभ के बाद उपनिषद् मूल रूप से अपने ब्राह्मणों से जुड़े हुए थे, जिसके कारण "द्विज" लोगों द्वारा भारत पर आक्रमण के कुछ सदियों बाद ब्राह्मणों के बीच वर्तमान जाति व्यवस्था का पृथक् भाव पैदा हुआ। वे उन दिनों पूर्ण थे, और उन चेलों के शिक्षण के लिए उपयोग किए जाते थे जो अपनी दीक्षा की तैयारी कर रहे थे।

यह तब तक चला जब तक वेद और *ब्राह्मण* केवल मंदिर के ब्राह्मणों के पास ही रहे – जबकि पवित्र जाति के बाहर किसी और को उनका

अध्ययन करने या पढ़ने का भी अधिकार नहीं था। तब कपिलवस्तु के राजकुमार गौतम आए। *रहस्य* या *उपनिषदों* में संपूर्ण ब्राह्मणवादी ज्ञान को सीखने के बाद, और यह देखकर कि यह शिक्षा हिमालय की हिमाच्छन्न पर्वतमाला में रहने वाले "*जीवन के शिक्षकों*" की शिक्षा से बहुत कम, यदि है भी तो, भिन्न है, ब्राह्मणों के शिष्य (गौतम बुद्ध), रुष्ट अनुभव कर रहे थे क्योंकि इस प्रकार पवित्र ज्ञान को, केवल ब्राह्मणों को छोड़कर, अन्य सभी से दूर रखा गया था, उन्होंने इसे लोकप्रिय बनाकर पूरी दुनिया को बचाने का दृढ़ संकल्प किया। तब यह हुआ कि ब्राह्मणों ने, यह देखकर कि उनका पवित्र ज्ञान और गुप्त ज्ञान "मलेच्छों" के हाथों में जा रहा था, उपनिषदों के मूलपाठ को संक्षिप्त कर दिया, जिनमें प्रारम्भतः वेदों और ब्राह्मणों को मिलाकर तीन गुना सामग्री शामिल थी, हालांकि, पाठों के एक शब्द को भी बिना किसी बदलाव के यह किया गया। उन्होंने बस, सबसे महत्वपूर्ण भाग जिसमें अस्तित्व के रहस्य का अंतिम शब्द शामिल है, को पाण्डुलिपि से अलग कर दिया। ब्राह्मणवादी गुप्त संहिता की कुंजी अब से केवल दीक्षितों के पास ही रही, और इस प्रकार ब्राह्मण अपने उपनिषदों की अपील करके सार्वजनिक रूप से बुद्ध की शिक्षाओं की यथार्थता को नकारने की स्थिति में थे, और मुख्य प्रश्नों पर हमेशा के लिए चुप हो गए। ऐसी ही है हिमालय से परे की गुह्य परंपरा।

ऐतिहासिक युगों के महानतम दीक्षित श्री शंकराचार्य ने उपनिषदों पर कई भाष्य लिखे। लेकिन उनके मूल ग्रंथ, जैसा कि मानने के कारण हैं, अभी तक फिलिस्तीनों के हाथों में नहीं पड़े हैं, क्योंकि वे उनके मठों में बहुत चौकसी के साथ संरक्षित हैं। और यह मानने के अभी भी ठोस कारण हैं कि ब्राह्मणों के गुह्य सिद्धांत पर उनके महानतम प्रतिपादक के अमूल्य भाष्य (टिप्पणियां), स्मार्त ब्राह्मणों को छोड़कर, अधिकांश हिंदुओं के लिए युगों तक एक मृत पत्र बने रहेंगे। शंकराचार्य द्वारा स्थापित यह संप्रदाय (जो अभी

भी दक्षिणी भारत में बहुत शक्तिशाली है) अब ऐसे छात्रों को तैयार करने वाला लगभग एकमात्र संप्रदाय है, जिनके पास भाष्यों के मृत अक्षरों को समझने के लिए पर्याप्त ज्ञान संरक्षित है। इसका कारण यह है कि केवल उनके मठों में ही, उदाहरण के लिए, मैसूर के पश्चिमी घाट में "श्रृंग-गिरि" में, कभी-कभी वास्तविक दीक्षितों को शीर्ष पर रखा जाता है। दूसरी ओर, ब्राह्मणों की उस अत्यंत विशिष्ट जाति में, स्मार्त से अधिक विशिष्ट, कोई संप्रदाय नहीं है, और इसके अनुयायियों की, गुप्त विज्ञान और गुह्य सिद्धांत के बारे में जो कुछ भी वे जानते हैं उसे कहने में, झिझक केवल उनके गर्व और सीख के बराबर है (I, 269-272)।

'उपनिषद्' का अर्थ

'उपनिषद्' का अर्थ है – 'उप' (पास), 'नि' (नीचे), 'षद' (बैठना), यानी पास नीचे बैठना क्योंकि ये शिक्षाएं गुरु द्वारा शिष्य को निकट या पास बैठकर दी जाती थीं। 'उपनिषद्' का अर्थ मानव और ब्रह्माण्ड के बीच तदनुरूपता भी है। इसका यह भी अर्थ है 'वह जो (किसी को) (ब्रह्म) के निकट लाता है, अर्थात उसे सूचित करने वाला एक शब्द (एक नाम)।

उपनिषद् का पुराना अर्थ यह भी बताया गया है – "गुप्त शब्द" या "गुप्त महत्व" या "गुप्त सिद्धांत"।

उपनिषदों के केंद्रीय प्रश्न

I. मैं कौन हूं?
II. मरने के बाद क्या होता है?
III. ब्रह्माण्ड के साथ मानव के शरीर क्रिया विज्ञान और मनोविज्ञान के बीच तदनुरूपता?

उदाहरण के लिए, यह कहा जाता है कि आंख सूर्य के समान और मन चंद्रमा के समान है।

उपनिषदों के विषय

उपनिषदों में कुछ मंत्रों और घटनाओं का वर्णन मिलता है।

उपनिषद्, वेदों के पवित्र/गुप्त या गुह्य भाग हैं। ये धर्म, काव्य और दर्शन का संयोजन हैं। बाइबल भी ऐसा ही संयोजन है।

पूर्व-वैदिक या वैदिक साहित्य में अनुष्ठानिक क्रिया और ब्रह्माण्डीय बलों के बीच सम्बद्धता पर जोर दिया गया है। लेकिन उपनिषदों में ऋषि कर्मकांडों पर प्रश्न उठाते हैं।

सभी परंपराओं ने इस बात पर जोर दिया है कि अन्दर और बाहर वास्तविकता के कई स्तर हैं। उपनिषद् वास्तविकता के विभिन्न स्तरों के बीच तदनुरूपता की जांच करते हैं।

अनुभव प्राप्त करने के लिए उपनिषदों में लगातार प्रश्नोत्तरी है।

सभी उपनिषद् यह भी कहते हैं कि हमारे अन्दर का गहनतम भाग अर्थात आत्मा बिल्कुल वैसा ही है जैसा बाहर सबसे ऊंचा अर्थात ब्रह्म है। सभी देवों या दैवीय बलों को हमारे अन्दर खोजा जा सकता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् और *छांदोग्य उपनिषद्*, उपनिषद् दर्शन का लगभग 60% हिस्सा बनाते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् सबसे बड़ा और सबसे पुराना उपनिषद् है। 'उपनिषदों के प्रकाश में आत्मा की प्रकृति में अंतर्दृष्टि' के लिए हम यहां इस उपनिषद् के कुछ मंत्रों की सामग्री पर विचार

करते हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद्

इस उपनिषद् का प्रारंभिक मंत्र अश्वमेध यज्ञ, जो वेदों में एक बहुत ही महत्वपूर्ण अनुष्ठान था, के आध्यात्मिक प्रतीक को दर्शाता है। यज्ञ का अर्थ है त्याग। अंग्रेजी का शब्द sacrifice दो ग्रीक शब्दों 'sacre' और 'fiice' से बना है जिसका अर्थ है 'पवित्र बनाना'। यह मंत्र *अश्वमेध यज्ञ* के अर्थ को सूक्ष्म प्रकृति के गुह्य या रहस्यमय आयाम में बदल देता है। *अश्वमेघ यज्ञ* का घोड़ा संपूर्ण व्यक्त भौतिक विश्व है। घोड़े की बलि का अर्थ है – सभी सांसारिक वासनाओं और आसक्तियों का त्याग करना; तभी जो नहीं देखा जाता, वह देखा जा सकता है। अश्व-बलि का एक अन्य अर्थ यह भी हो सकता है – सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को पवित्र मानना; इसलिए – स्वार्थी उद्देश्यों के लिए इसका उपयोग या दुरुपयोग न करना।

अब इस उपनिषद् के कुछ अन्य मंत्रों के या उनके अंशों के विचार को देखें:

अध्याय 1. खण्ड 3. मंत्र 28

'असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृतम् गमय।'

मुझे असत्य से सत्य की ओर ले चलो; मुझे अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलो; और मुझे नश्वरता से अमरता की ओर ले चलो। इसे ऐसे समझा जा सकता है – मुझे स्वयं का बोध (आत्म-बोध) होने में सहायता करें, बजाय उन चीजों के साथ जो ऐसी नहीं हैं। मेरी अज्ञानता को दूर करने

और प्रज्ञा प्राप्त करने में मेरी सहायता करें। तीसरा वाक्य पहले दो वाक्यों का सामान्य अर्थ देता है और इसमें 'अमृतम्' शब्द का अर्थ सर्वदा-होना नहीं है। किंतु इस आह्वान का वास्तव में अर्थ यह है कि हम एक ऐसी स्थिति में जाएं जहां हम द्वंद्व के परे अपने शाश्वत स्व का बोध करते हैं। यह इस जीवन में ही एक गुणात्मक परिवर्तन है।

लाइट ऑन दि पाथ में नियम नं. 4 जो विनेशियन मास्टर द्वारा जोड़ा गया एक व्याख्यात्मक नोट है, इसमें एक उल्लेखनीय कथन शामिल है; "न तो वर्तमान में जियो और न ही भविष्य में, बल्कि शाश्वत में जियो"।

महात्मा के एक पत्र (पत्रांक 12, पृ. 39 – cr. edi.) में कहा गया है; "यह भौतिक घटनाएं नहीं हैं बल्कि ये सार्वभौमिक विचार हैं जिनका हम (सिद्ध लोग) अध्ययन करते हैं, क्योंकि पूर्व को समझने के लिए, हमें पहले, बाद वाले को समझना होगा। वे मनुष्य के पिछले और भविष्य के जन्मों के संबंध में उसकी वास्तविक स्थिति को स्पर्श करते हैं; उसकी उत्पत्ति और अंतिम नियति; मर्त्य का अमर से; अस्थायी का शाश्वत से; सीमित का असीमित से संबंध; बड़े, भव्य, अधिक व्यापक विचार, अपरिवर्तनीय नियम के सार्वभौमिक शासन को जानते हुए, जो बिना परिवर्तित होते हुए और अपरिवर्तनीय है जिसके संबंध में केवल एक शाश्वत अब है, जबकि बिना दीक्षित मर्त्यों के लिए समय अतीत या भविष्य है जैसा इस धूल के कण पर जो उनके सीमित अस्तित्व से संबंधित है।"

अध्याय 1 खण्ड 4. मंत्र 1

यह मंत्र कहता है – आरंभ में वह अकेला है और अपने ही पदार्थ के भीतर से विश्व को उद्भित करता है, इसलिए संपूर्ण विश्व पवित्र है। लेकिन मकड़ी और उसके जाल के उपमान से, यह एक अलग पहचान की भी

अनुमति देता है।

अध्याय 1 खण्ड 4. मंत्र 6

यह विश्व अन्न है और अन्न का भोक्ता है। इसका अर्थ यह है कि हर चीज़ का पोषण या रखरखाव किसी अन्य चीज़ से हो रहा है, और बदले में वह इस विश्व में दूसरों का पोषण कर रही है। इसे ब्रह्माण्ड के विभिन्न स्तरों के बीच आदान-प्रदान के रूप में समझा जा सकता है, जो *भगवद् गीता* में वर्णित 'यज्ञ' या 'त्याग' बन जाता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अन्न भी है और अन्न का भक्षक भी।

अध्याय 1. खण्ड 4. मंत्र 10

'अहम् ब्रह्मास्मि' – यह उपनिषदों के चार महान कथनों या 'महावाक्य' में से एक है।

जो इस का बोध कर लेता है, वह सर्व ब्रह्म हो जाता है। अर्थात संपूर्ण अभिव्यक्ति को अपने साथ एक मानकर विश्व के प्रति उसका आचरण बदल जाता है। जबकि वह, जो अन्य देवताओं और वस्तुओं की पूजा करता है, उसमें वह और अन्य, अर्थात द्वैत की अवधारणा बनी रहती है। वह नहीं जानता कि उस अवस्था में वह देवताओं के पशु के समान है। जैसे यदि एक जानवर को दूर कर दिया जाए, तो उसके मालिक को पीड़ा होती है, देवताओं को भी यह पसंद नहीं है कि मनुष्य ब्रह्म को जाने और 'अहम् ब्रह्मास्मि' – मैं ब्रह्म हूं – का बोध प्राप्त करे।

अध्याय 1. खण्ड 4. मंत्र 15

जो कोई भी ब्रह्म (स्व) का बोध हुए बिना इस संसार से जाता है, अज्ञात होने के कारण, वह उसकी रक्षा नहीं करता है और उसका जीवन अपठित वेदों की तरह बिना जिये रह जाता है। स्व का बोध न होने का अर्थ अपनी भावनाओं, समझ और आध्यात्मिक आकांक्षाओं से भी अनजान होना है।

अध्याय 1. खण्ड 5. मंत्र 16

तीन लोकों (लोकों) का उल्लेख किया गया है : मनुष्यों का; पूर्वजों (पितृ) का; और देवताओं का। मनुष्यों का लोक पुत्र प्राप्ति से जीता जाता है, किसी अनुष्ठान से नहीं। पितरों का लोक अच्छे कर्मों से जीता जाता है। देवताओं का लोक ज्ञान (या प्रज्ञा) से जीता जाता है। चूंकि देवताओं का लोक इन तीनों में सर्वश्रेष्ठ है, इसलिए एक व्यक्ति को ज्ञान (विद्या) प्राप्त करना चाहिए।

आज के सन्दर्भ में, 'पुत्र प्राप्ति' का अर्थ श्रेष्ठ चरित्र वाली संतान (पुत्र या पुत्री) का होना अथवा अगली पीढ़ी का पोषण करना मानना होगा।

अध्याय 2. खण्ड 1. मंत्र 20

मकड़ी द्वारा बनाए गए धागे के साथ घूमने और आग से निकलने वाली छोटी-छोटी चिंगारियों की उत्कृष्ट उपमाओं को इस प्रकार समझा जा सकता है – ब्रह्म से ही सभी अंग, सभी संसार, सभी देवता, सभी प्राणी उद्भित होते हैं। इसका पवित्र नाम, *उपनिषद्*, सत्यों का सत्य (*सत्यस्य सत्य*) है। यही वास्तविक सत्य है, या वास्तविक के पीछे का वास्तविक है।

अध्याय 2. खण्ड 3. मंत्र 6

नेति, नेति – यह नहीं, यह नहीं; अभी तक नहीं, अभी तक नहीं; ऐसा नहीं, ऐसा नहीं।

ब्रह्म को केवल ऐसे निषेधात्मक वाक्यांशों से ही समझने का प्रयास किया जा सकता है।

'नेति-नेति' विषय पर एक लेख में सी. जिनराजादास अपनी पुस्तक *Mediator* (पृ. 76-77) में लिखते है :

"केवल तभी जब हम अकेले खड़े होते हैं, सभी स्तरों की सभी चीजों से पूरी तरह से वंचित, किसी पर भी भरोसा नहीं करते हुए, यहां तक कि ईश्वर पर भी नहीं, तभी हम वास्तविकता की सच्ची प्रकृति की झलक पा सकेंगे। तब इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि जो "दिव्यता की दहलीज पर है उसका मार्गदर्शन करने के लिए *लाइट ऑन दि पाथ* में इन तीन अंतिम नियमों के साथ समापन होता है-

उस चीज़ को दृढ़ता से पकड़ो जिसका न तो कोई सार है और न ही कोई अस्तित्व।

केवल वही आवाज़ सुनो जो ध्वनि-विहीन है।

केवल उसी को देखो जो आंतरिक और बाह्य इंद्रियों के लिए समान रूप से अदृश्य है।"

अध्याय 2. खण्ड 4. मंत्र 5

ऋषि याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी को सिखाते हैं कि एक व्यक्ति

अपने बेटे, पत्नी, परिवार और अन्यों, देवताओं से इन प्राणियों या चीजों के लिए नहीं, बल्कि स्व (आत्मा) के लिए प्रेम करता है। इसलिए ध्यान के द्वारा तथा पुत्र, परिवार, धन आदि सभी वस्तुओं से अनासक्ति द्वारा केवल आत्मा का ही बोध करना है।

अध्याय 2. खण्ड 4. मंत्र 14

जिसे जानने से प्रत्येक चीज को जान लिया जाता है, अर्थात द्वैत समाप्त हो जाता है, को जानना चाहिए। जो जानने योग्य है उसे जाना नहीं जा सकता, लेकिन एक व्यक्ति वह बन सकता है। तुम ब्रह्म को नहीं जान सकते क्योंकि ब्रह्म ज्ञाता है, विषय है। वह वस्तु नहीं बन सकता। किंतु, तुम ब्रह्म बन सकते हो – अर्थात, बोध कर सकते हो कि तुम ब्रह्म हो।

अध्याय 3. खण्ड 1. मंत्र 1, 2

यह संपूर्ण अध्याय 3 राजा जनक के दरबार में ऋषियों की एक सभा के बीच उत्कृष्ट दार्शनिक चर्चा को समर्पित है। प्रमुख उपस्थित ऋषि याज्ञवल्क्य हैं। एक हजार गायें, प्रत्येक गाय स्वर्ण के दस पद (एक पद = 1/3 औंस लगभग = 9.45 ग्राम), प्रत्येक गाय के प्रत्येक सींग पर पांच पद के साथ, ऋषि को देने के लिए रखी गई हैं। जनक ने घोषणा की कि जो भी ब्रह्मनिष्ठ (ब्रह्म-ज्ञानी, या ब्रह्म का ज्ञाता) है, वह इन गायों को यहां से ले जा सकता है। अन्य किसी भी ऋषि ने साहस नहीं किया, तब याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य सामश्रवा से इन गायों को ले जाने के लिए कहा। तब अन्य ऋषि क्रोधित हो गये। एक ऋषि अश्वल ने जनक को संबोधित करते हुए कहा कि क्या याज्ञवल्क्य स्वयं को सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म-ज्ञानी मानते हैं। याज्ञवल्क्य बोले, कि वह अन्य सभी उपस्थित ब्रह्मनिष्ठों को प्रणाम करते हैं, किंतु उन्हें इन गायों

की आवश्यकता है। तब अश्वल ने कहा कि जब तक वह उसके प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर नहीं दे देते, वह गायों को नहीं ले जा सकते। कुछ प्रश्न और उनके उत्तर इस प्रकार हैं :

मंत्र	प्रश्न	उत्तर
मंत्र. 4	किस साधन द्वारा यज्ञकर्ता दिन और रात्रि के पकड़ से परे जाता है?	सूर्य,जो वास्तविक पुरोहित है, के द्वारा? नेत्र, सूर्य (अंतर्दृष्टि) है।
मंत्र. 5	किस साधन द्वारा यज्ञकर्ता शुक्ल और कृष्ण पक्ष से परे जाता है?	वायु (प्राणशक्ति) द्वारा। प्राणशक्ति और चंद्रमा एक है।
मंत्र. 6	आकाश बिना किसी आधार के है, तो एक व्यक्ति किसके द्वारा स्वर्ग को जाता है?	मन के द्वारा। चंद्रमा के द्वारा। मन ब्रह्म है।
मंत्र. 9	कितने देवों द्वारा यह ब्रह्मा (पुरोहित) दाएं ओर से यज्ञ की रक्षा करता है?	एक के द्वारा, अर्थात मन द्वारा। मन असीम है, और असीम विश्वदेव हैं।

दि सिक्रेट डॉक्टरीन (खंड II, पृ. 639 fn.) में शंकराचार्य को उद्धृत करते हुए यह कहा गया है :

"चंद्रमा मन है, और सूर्य समझ (बुद्धि) है। मन और समझ (मनस और बुद्धि) मानव अंगों के देवता हैं," जैसे चंद्रमा और सूर्य ग्रहीय वृहद-जगत (Macrocosm) के देवता हैं।

अध्याय 3. खण्ड 2. मंत्र 1 से 9

ऋषि आर्तभाग ग्रहों (अंगों), अतिग्रहों (अंगों की वस्तुएं जो उन अंगों

को नियंत्रित करती हैं), के संबंध में कुछ प्रश्न पूछते हैं, जो बंधन का कारण बनते हैं।

उत्तर आता है : आठ ग्रह (अंग) हैं – प्राण (नाक), वाच (वाणी), जिह्वा, आंख, कान, मन, हाथ और त्वचा। उनकी संबंधित वस्तुएं हैं – अपान (गंध), नाम, स्वाद, रूप, ध्वनि, इच्छा, कार्य और स्पर्श।

अध्याय 3. खण्ड 2. मंत्र 10

प्रश्न. सभी अभिव्यक्त वस्तुएं मृत्यु का भोजन हैं और वह कौन सा देवता है जिसका भोजन मृत्यु है?

उत्तर. अग्नि, मृत्यु है – अग्नि जल का भोजन है।

अध्याय 3. खण्ड 2. मंत्र 13

आर्तभाग ने पूछा कि जब (मृत्यु के बाद) सभी अंग, इंद्रियां और शरीर आदि विघटित होकर तत्त्वों में विलीन हो जाते हैं तो मनुष्य कहां रहता है? अथवा किस आधार पर उसे पुनः शरीर और अंग आदि प्राप्त होते हैं?

याज्ञवल्क्य ने कहा, "इस प्रश्न का उत्तर भीड़ में नहीं दिया जा सकता, मुझे अपना हाथ दीजिए और आप और मैं अलग से बात कर सकते हैं।" फिर वे एक अलग स्थान पर जाते हैं और याज्ञवल्क्य ने बताया कि मनुष्य का केवल कर्म ही रहता है, जिसका अर्थ है कि उसके कर्मों का प्रभाव, चाहे वह अच्छा या बुरा उसके द्वारा किए गए कर्म की प्रकृति के अनुसार ही, उसका अगला जीवन बनता है। तब आर्तभाग चुप हो गए।

अध्याय 3. खण्ड 6. मंत्र 1

ऋषि गार्गी ने कुछ प्रश्न पूछे और याज्ञवल्क्य ने उनके उत्तर दिए।

प्रश्न	उत्तर
सभी वस्तुएं जल से व्याप्त हैं, फिर जल किससे व्याप्त है?	हवा से।
वायु किससे व्याप्त है?	अंतरिक्ष (आकाश) से।
आकाश किससे व्याप्त है?	गंधर्वों से।
गंधर्व किससे व्याप्त है?	आदित्य (सूर्य) से।
सूर्य किससे व्याप्त है?	चंद्रमा से।

इसी प्रकार – चंद्रमा तारों से; तारे देवलोक से; देवलोक इंद्र से; इंद्र प्रजापति लोक से; प्रजापति लोक ब्रह्मलोक (हिरण्यगर्भ) से व्याप्त हैं।

फिर जब गार्गी ने पूछा – ब्रह्मलोक किससे व्याप्त है, तो याज्ञवल्क्य ने कहा कि प्रश्न को बहुत दूर तक खींचने से तुम्हारा सिर गिर जायेगा (अर्थात मन विचलित या भ्रमित हो जायेगा)। तब गार्गी चुप रही।

जब बुद्ध से पूछा गया कि निर्वाण प्राप्त करने के बाद मनुष्य जीवित रहता है या नहीं; बुद्ध ने उत्तर नहीं दिया क्योंकि कोई भी उत्तर प्रश्न कर्ता के मन को विचलित कर सकता था।

अध्याय 3. खण्ड 8. मंत्र 1, 2

गार्गी ने याज्ञवल्क्य को यह कहकर चुनौती दी कि वह दो प्रश्न पूछेंगी और यदि याज्ञवल्क्य इन दोनों का उत्तर दे देते है, तो कोई भी ऋषि उनसे जीत नहीं सकता। ये प्रश्न धनुष पर चढ़ाए तीर की तरह चुभने वाले होंगे।

पहला प्रश्न (मंत्र. 3) : जो दिशाओं (स्वर्ग) के ऊपर है, पृथ्वी के नीचे है और जो ये स्वर्ग और पृथ्वी हैं और इनके बीच में, जो था, है, और रहेगा, वह किससे व्याप्त है?

मंत्र 4 में, याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं कि ये सभी आकाश (अव्यक्त आकाश) से व्याप्त हैं।

मंत्र 6 में गार्गी दूसरा प्रश्न पूछती है जो पहले प्रश्न की पुनरावृत्ति है। तब याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं कि सभी चीजें आकाश से व्याप्त हैं और उसमें स्वयं जोड़ते हैं – यह आकाश किससे व्याप्त है – इसका उत्तर वह मंत्र 8 से 11 में देतें है, जिसका सारांश इस प्रकार है:

'यह आकाश उससे व्याप्त है जिसे अक्षर (अपरिवर्तनीय) कहा जाता है। यह न छोटा है, न दीर्घ है, न किसी रंग का है, न तैलीय है, न छाया है, न अंधकार है, न वायु है, न आकाश है, न स्वाद है, न गंध है, न अंग है, न प्राण है, न मापने योग्य है, न अनुभव करने वाला है, न आगंतुक है, न खाने वाला है, न ही किसी के द्वारा खाया हुआ है; इसका वर्णन नहीं किया जा सकता – नेति, नेति। उस अपरिवर्तनीय के शासन के तहत, सूर्य और चंद्रमा, स्वर्ग और पृथ्वी भी अपनी स्थिति बनाए रखते हैं। क्षण, मुहूर्त (48 मिनट के बराबर), दिन, रात, पखवाड़ा, मास, ऋतु और वर्ष अपने स्थान पर रहते हैं। नदियां और पर्वत भी उसी से स्थापित होते हैं।'

इसका अर्थ है कि संपूर्ण व्यक्त विश्व उसके प्रभाव के तहत व्यवस्था में है।

फिर मंत्र 10 में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जो मनुष्य इस अक्षर को जाने बिना सभी अनुष्ठान, यज्ञ, तप आदि हजारों वर्षों तक भी करता है, तो वह पाता है कि ये सभी नाशवान हैं, अर्थात इन सभी का प्रभाव अनित्य है और इस संसार को छोड़ने के बाद वह दुखी भी रहता है। परन्तु जो अक्षर (ब्रह्म) को जानकर इस संसार से चला जाता है, वह ब्रह्मज्ञानी (ब्रह्म में स्थित) रहता है।

फिर मंत्र 11 में ब्रह्म की और व्याख्या करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह कभी दिखाई नहीं देता लेकिन साक्षी है, कभी सुना नहीं जाता लेकिन सुनने वाला है, कभी सोचा नहीं जाता लेकिन विचारक है, कभी जाना नहीं जाता लेकिन ज्ञाता है। इस अक्षर के अतिरिक्त कोई अन्य साक्षी, श्रोता, विचारक या ज्ञाता नहीं है। इसी अक्षर से आकाश व्याप्त है।

इसके बाद गार्गी ने अन्य ऋषियों को सम्बोधित करके कहा कि वे अपने को भाग्यशाली समझें और याज्ञवल्क्य को प्रणाम करें; उनमें से कोई भी उनसे नहीं जीत सकता।

अध्याय 3. खण्ड 9. मंत्र 1 से 17

शाकल्य के पुत्र विदग्ध पूछताछ जारी रखते हैं।

मंत्र 26 में याज्ञवल्क्य बताते हैं कि इस आत्मा को नेति, नेति ('न यह, न यह', या 'न अभी, न अभी' या 'ऐसा नहीं, ऐसा नहीं') के रूप में वर्णित किया गया है। यह अगोचर, कभी न बूझा जाने वाला, अविनाशी,

अनासक्त, बंधन-मुक्त है। यह कभी दर्द नहीं अनुभव करता और इसे कभी चोट नहीं लगती।

याज्ञवल्क्य ने विदग्ध से उस सत्ता के बारे में पूछा जो केवल उपनिषदों से ही जाना जाता है, जो उन प्राणियों को प्रक्षेपित करता है और उन्हें अपने में समाहित कर लेता है और उसी समय में उनके परे है। "यदि तुम स्पष्टतया न बता सके तो तुम्हारा सिर गिर जायेगा।" विदग्ध उस सत्ता को नहीं जाने और नहीं बता पाए।

उसके बाद वहां उपस्थित किसी भी ऋषि ने याज्ञवल्क्य से आगे कोई प्रश्न पूछने का साहस नहीं किया।

मंत्र 28 (7) में याज्ञवल्क्य दूसरों को बताते हैं कि मृत्यु के बाद, एक व्यक्ति ज्ञान, आनंद, ब्रह्म (विज्ञानमानन्दं ब्रह्म) से उत्पन्न (पुनर्जन्म) होता है, जो धन से विमुक्त होने वाले का सर्वोच्च लक्ष्य (परायण) है और साथ ही उसका जिसने ब्रह्म का बोध किया है और उस में रहता है।

अध्याय 4. खण्ड 1. मंत्र 1

राजा जनक याज्ञवल्क्य से पूछते हैं कि क्या वह जानवरों के लिए आये हैं या कुछ सूक्ष्म प्रश्नों के लिए। याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं – 'दोनों के लिए'। (इसका अर्थ यह है कि सूक्ष्म या गहन कार्यों में लगे रहने पर भी सांसारिक संपत्ति को नकारा नहीं जाता है)।

अध्याय 4. खण्ड 2. मंत्र 4

आत्मा वह है जिसे नेति-नेति द्वारा वर्णन किया जाता है। यह अगोचर

है क्योंकि इसका कभी भी आभास नहीं होता; इसका कभी क्षय नहीं होता; अनासक्त क्योंकि यह कभी भी आसक्त नहीं होता, बंधन-मुक्त। यह कभी दर्द नहीं अनुभव करता, इसे कभी चोट नहीं लगती।

अध्याय 4. खण्ड 3. मंत्र 21

जिस प्रकार अपनी पत्नी द्वारा पूर्णतः आलिंगित पुरुष, बाहरी या आंतरिक, कुछ भी नहीं जानता है, उसी प्रकार परमात्मा द्वारा पूर्णतः आलिंगित, यह आत्मा बाहरी या आंतरिक, कुछ भी नहीं जानता है। अर्थात उसके रूप में सभी इच्छित वस्तुएं प्राप्त हो गई हैं, वह सभी इच्छाओं से मुक्त और शोक से रहित रहता है।

(किसी भी सांसारिक सुख और संपत्ति को नकारा नहीं जाता है और इन्हें निचले स्तर पर, सूक्ष्म वास्तविकताओं की, निरंतरता माना जाता है)

(एक अन्य स्थान पर कहा गया है : 'पुरुष को स्त्री का आलिंगन करने में जो आनंद होता है, उससे हज़ार गुना आनन्द उसे गंधर्व-संगीत में मिलता है, और गंधर्व-संगीत में मिले आनंद से अनंत गुना आनंद उसे ब्रह्म का आलिंगन करने में, अर्थात ब्रह्म का बोध होने पर, मिलता है'।)

अध्याय 4. खण्ड 4. मंत्र 5 : खण्ड 4

स्थानांतरगमन (या पुनर्जन्म) की प्रक्रिया का वर्णन करता है।

मंत्र 5 में वर्णन किया गया है : जो जैसा कर्म करता है, वैसा ही बन जाता है – अच्छा करने से यह अच्छा हो जाता है, बुरा करने से यह बुरा हो जाता है – कुछ दूसरे लोग कहते हैं कि, 'उस आत्मा की पहचान केवल इच्छा

से होती है। जैसी उसकी इच्छा, वैसे उसके कर्म। जैसा उसके कर्म होते हैं, उसे वैसा ही प्राप्त होता है।'

जो जैसा करता है, जैसा आचरण करता है, वैसा बन जाता है – "यथा कारी, यथा चारी, तथा भवति"।

अध्याय 4. खण्ड 4. मंत्र 10

जो लोग अज्ञान (अनुष्ठान) की पूजा करते हैं (अनुष्ठान करते हैं) वे चकाचौंध वाले अंधकार (अज्ञान) में प्रवेश करते हैं। उससे भी अधिक अंधकार में वे लोग प्रवेश करते हैं जो ज्ञान के प्रति समर्पित हैं (अर्थात वेदों के संस्कार संबंधी या अनुष्ठानिक भाग का ज्ञान)। यह मंत्र ईशोपनिषद में भी आता है।

अध्याय 4. खण्ड 4. मंत्र 23

ब्रह्म के ज्ञाता की शाश्वत महिमा का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

वह (कार्य के माध्यम से) न तो बढ़ता है और न ही घटता है, बुरे कार्यों से अछूता, आत्म-नियंत्रित, शांत, अपने आप में लीन, सहनशील और एकाग्र, अपने शरीर में आत्मा को देखता है, वह सभी को स्वयं के रूप में देखता है। वह सभी बुराइयों से परे है, सभी बुराइयों को भस्म कर देता है। (यह गीता में वर्णित 'वासुदेव' के समान है)

वह पापरहित, निष्कलंक, संशय-मुक्त हो जाता है और ब्राह्मण (ब्रह्म का ज्ञाता) हो जाता है। याज्ञवल्क्य ने कहा, "हे! जनक, तुमने उसे (ब्रह्म या ब्रह्म-ज्ञान को) प्राप्त कर लिया है।"

ब्रह्म का बोध होने की इस अवस्था को प्लोटिनस ने "अकेले की अकेले तक उड़ान" (The flight of the alone to the Alone) के रूप में वर्णित किया है।

अध्याय 5. खण्ड 1. मंत्र 1

ॐ। पूर्णमदः, पूर्णमिदं, पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

अर्थ : वह (ब्रह्म) पूर्ण है; यह (विश्व) पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण आता है। पूर्ण में से पूर्ण लेते हुए भी पूर्ण बना रहता है।

'पूर्ण' शब्द का अनुवाद 'असीम' या 'अनंत' के रूप में भी किया जा सकता है।

यह मंत्र ईशोपनिषद में भी आता है।

अध्याय 5. खण्ड 2. मंत्र 1, 2, 3

प्रजापति के पुत्रों के तीन वर्ग – देवता, मनुष्य और असुर ने छात्रों के रूप में प्रजापति के साथ संयम पूर्वक रहने के बाद उनसे कहा कि वह उन्हें शिक्षा दें। ब्रह्मा ने 'दा' कहा और उनसे पूछा कि क्या वे समझे हैं। उन्होंने कहा, 'हां'; तब ब्रह्मा ने उनसे पूछा कि वे क्या समझते हैं।

देवताओं ने कहा कि वे 'दम' समझते हैं। क्योंकि वे स्वभाव से ही उपद्रवी हैं, इसलिए उन्हें स्वयं को नियंत्रित करना चाहिए। मनुष्यों ने कहा कि वे 'दत्त' (दान देना) समझते हैं क्योंकि वे स्वभाव से लोभी (या कंजूस) हैं, इसलिए उन्हें दान देना चाहिए। असुरों ने कहा कि वे 'दया' (दयालु होना)

समझते हैं क्योंकि वे स्वभाव से क्रूर हैं, इसलिए उन्हें दयालु बनना चाहिए।

प्रजापति ने कहा कि वे सभी अच्छी तरह से समझ गए हैं।

यह ध्वनि 'डा' या 'दा' बादलों की गड़गड़ाहट के रूप में व्यक्त होती है – दा, दा, दा और सभी को स्व-नियंत्रित, परोपकारी और दयालु होने की याद दिलाती है। मनुष्यों को इन तीनों गुणों का अभ्यास करना चाहिए क्योंकि उनमें अनियंत्रण, लोभ और क्रूरता ये तीनों प्रवृत्तियां होती हैं।

यह मंत्र दर्शाता है कि यदि कोई व्यक्ति अपने दोषों के प्रति सचेत रहे तो संक्षिप्त सलाह से भी उसे उन दोषों से दूर किया जा सकता है। गीता में कहा गया है कि काम, क्रोध और लोभ नरक के तीन द्वार हैं इसलिए इनका त्याग करें।

अध्याय 5. खण्ड 5. मंत्र 1, 2

सत्य ब्रह्म है, सूर्य सत्य है, यह दाहिनी आंख में स्थित है; दोनों एक दूसरे पर प्रतिष्ठित होते हैं। दाहिनी आंख अंतर्दृष्टि को दर्शाती है।

अध्याय 5. खण्ड 15

सत्य का मुख स्वर्ण कलश से ढका हुआ है। हे! पूषन (जगत के पोषक, सूर्य) इसे हटा दो, ताकि मैं, जिसकी वास्तविकता सत्य है, उसे देख सकूं (सत्य भौतिक आकर्षण से ढक जाता है)।

अध्याय 6. खण्ड 2. मंत्र 15, 16 – दो मार्ग हैं :

I. जो लोग सत्य-ब्रह्म का ध्यान करते हैं – सूर्य (अंतर्दृष्टि) के मार्ग का

अनुसरण करते हैं, वे ब्रह्मलोक जाते हैं और वापस नहीं लौटते हैं।

II. जो लोग यज्ञ, दान, तप करते हैं वे चंद्रमा पर जाते हैं – वहां भोजन बनते हैं और देवता उनका भोग कर हर्षित होते हैं – यह चंद्रमा का मार्ग है। अतीत (प्रभाव) समाप्त हो जाने पर वे वर्षा के माध्यम से लौट आते हैं और भोजन बन जाते हैं – अर्थात उनका पुनर्जन्म होता है।

जो इन दो मार्गों को नहीं जानते वह कीट-पतंगे आदि बन जाते हैं।

भगवद् गीता के अध्याय 8 के श्लोक 24 से 26 में दो मार्गों का उल्लेख है – पहला अग्नि, प्रकाश, दिन का मार्ग, शुक्ल पक्ष, उत्तरायण के छः महीने का मार्ग जिसके द्वारा वह ब्रह्म तक जाता है और वापस नहीं लौटता; दूसरा, धुएं का मार्ग, रात का समय, अंधेरे पखवाड़े, दक्षिणायन के छः महीने का मार्ग – जिसके द्वारा जो जाता है, वह फिर से लौटता है। ये दो प्रकाश और अंधकार के शाश्वत मार्ग हैं।

महायान बौद्ध धर्म की पुस्तक *दि वॉयस ऑफ दि साइलेंस* में मोक्ष वाले प्रथम मार्ग को मोक्ष-पश्चात फिर से दो मार्गों में विभाजित किया गया है, अर्थात, निर्वाण और निर्वाण का परित्याग – धर्मकाया और निर्माणकाया।

अपनी पुस्तक *The Hidden Life in Free masonry* में सी. डब्ल्यू. लेडबीटर ने मार्गों के बारे में इस प्रकार लिखा है : 'कहा जाता है कि चंद्रमा का मार्ग सामान्य मनुष्य के जीवन का प्रतीक है, जो इच्छा की वस्तुओं से जुड़ा रहता है और मृत्यु के समय अनिच्छा से उनसे अलग होता है। एस्ट्रल और स्वर्ग के संसार में रहने के बाद एक अवधि के बाद वह प्रक्रिया को दोहराने के लिए पृथ्वी पर लौटता है। यह अंतरालों के बाद पुनर्जन्म का मार्ग है। सूर्य का मार्ग, गुप्त-साधक (Occult Aspirant), आध्यात्मिक

इच्छाओं वाले मनुष्य का है, जो जीवन को केवल इसलिए महत्व देता है कि वह दूसरों के साथ-साथ स्वयं के उच्च स्व को क्या दे सकता है। उसका पुनर्जन्म भी होता है, लेकिन प्रायः बिना किसी अंतराल के, या बहुत कम अंतराल के बाद। अग्नि का मार्ग आरोहण का मार्ग है, जहां से अब आवश्यकता के नियम के तहत कोई पुनर्जन्म नहीं होता है, बल्कि केवल जीवात्मा के चुनाव पर – केवल संसार की सहायता करने के लिए ऐसा जीवात्मा पुनर्जन्म लेता है' (पृ. 275)।

निष्कर्ष

हमारे सभी ऋषियों ने कहा कि गहरे स्तर पर हम सभी उच्चतम वास्तविकता के साथ एक हैं। इससे हमारे और हमारी परंपराओं के संबंध में पूरी विनम्रता आनी चाहिए। उपनिषदों के सभी चार महान कथन किसी न किसी रूप में इसी बात पर जोर देते हैं। उनका मुख्य बिंदु यह है कि हमें स्वयं को गलत समझने की आवश्यकता नहीं है अर्थात हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि हम जैसे हैं वैसे ही हैं।

चार महान कथन (महावाक्य) हैं :

1. *अहम् ब्रह्मास्मि* – (बृहदारण्यक उपनिषद् में अध्याय 1, खण्ड 4, मंत्र 10)
2. *तत्त्वमसि* – (छांदोग्योपनिषद में अध्याय 6, खंड 8, मंत्र 7)
3. *अयम् आत्मा ब्रह्म* – (मांडूक्य उपनिषद् में अध्याय 1, मंत्र 2 और 5)
4. *प्रज्ञानम् ब्रह्म* – (मैत्रेय उपनिषद् में अध्याय 3, खंड 4, मंत्र 3)

प्रारंभिक उपनिषदों में भक्ति, प्रेम आदि का कोई उल्लेख नहीं है

क्योंकि इनमें दो की आवश्यकता होती है। जब तक दूसरा न हो तब तक तुम किससे प्रेम करोगे, किसकी भक्ति करोगे? इसलिए इन उपनिषदों में ध्यान और बोध पर जोर है लेकिन प्रार्थना पर नहीं। प्रार्थना करने के लिए मेरे अलावा किसी अन्य चीज़ के पहचान की आवश्यकता होती है। यहां जोर इस बात पर है कि दूसरा कोई है ही नहीं।

जिद्दू कृष्णमूर्ति ने भी कहा था कि, 'दूसरा मनुष्य तुम स्वयं ही हो'। रमण महर्षि ने भी कहा कि, 'कोई दूसरा नहीं है।'

उपनिषद् किसी भी प्रकार के ज्ञान, वास्तविकता के किसी भी स्तर, सुख के किसी भी स्तर के विरुद्ध नहीं हैं। लेकिन वे बताते हैं कि इन सबके सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतर स्तर होते हैं और ये सूक्ष्मतर स्तर अधिक महत्वपूर्ण होते हैं।

उपनिषदों में समझ के कुछ मुख्य बिंदु निम्नलिखित हैं :

1. पूछताछ – कोहम – मैं कौन हूं?; स्वयं की प्रकृति, ब्रह्म।
2. व्यक्त जगत को नकारा नहीं जा सकता लेकिन वास्तविकता के विभिन्न स्तर हैं।
3. तत्त्व-बोध के ज्ञान पर बल।
4. ब्रह्म बाहर अलग नहीं है।
5. प्रत्येक चीज ब्रह्म है।
6. उद्भव होता है – सृजन नहीं।
7. सूर्य और चंद्रमा के मार्ग।
8. कोई प्रार्थना/भक्ति नहीं – बल्कि ज्ञान/बोध।
9. ब्रह्मलोक कैसे प्राप्त करें?
10. ऋषि लोग पदार्थ पर आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करते हैं जबकि

शाब्दिक विचारधारा वाले व्यक्ति आध्यात्मिक कथनों पर भौतिक दृष्टि से विचार करते हैं।

11. सभी देवता और दानव हमारे अन्दर ही हैं।
12. सभी तीन स्तर के ज्ञान, अर्थात : स्व-ज्ञान (self-knowledge), आत्म-ज्ञान (जीवात्मा का ज्ञान, Self-knowledge) और परमात्मा का ज्ञान (SELF-Knowledge) महत्वपूर्ण हैं।

कृष्ण, बुद्ध और ईसा मसीह, सभी ने कहा कि परम का वर्णन नहीं किया जा सकता है, लेकिन उन्होंने हमें ऊपर खींचने या उठाने के लिए कुछ कहने का प्रयास किया। ब्रह्म या परमात्मा को जाना नहीं जा सकता, लेकिन एक व्यक्ति स्व-अनुभूति या बोध से ब्रह्म बन सकता है।

जीवन का अमृत

परिचय

ब्लावत्सकी ने अपने एक लेख 'महात्मा और चेला' में कहा है कि उनके महात्माओं का ज्ञान और सीख बहुत अधिक है और उनके जीवन की व्यक्तिगत पवित्रता और भी महान है – फिर भी वे मर्त्य मनुष्य हैं और उनमें से कोई भी 1000 वर्ष की आयु का नहीं है जैसा कि कुछ लोग कल्पना करते हैं। चार्ल्स जॉन्स्टन ने एक वार्तालाप में ब्लावत्सकी से उनके महात्मा की आयु पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया, "मैं ठीक से नहीं बता सकती क्योंकि मैं जानती नहीं, किन्तु मैं इतना बताऊंगी कि जब मैं पहली बार उनसे मिली तो मैं 20 वर्ष की थी। वह उस समय पूर्ण स्वस्थ और परिपक्व पुरुष (in Prime Manhood) थे। अब मैं एक बूढ़ी स्त्री हूं किन्तु वह तब से एक दिन भी अधिक आयु के नहीं लगते। वह अब भी पूर्ण स्वस्थ और परिपक्व पुरुष हैं। बस इतना ही मैं कह सकती हूं। आप अपना निर्णय स्वयं बना लें।" फिर जब जॉन्स्टन ने यह पूछा कि क्या महात्मा लोग जीवन का अमृत ढूंढ़ लिए हैं? तब ब्लावत्सकी ने गम्भीरता से उत्तर दिया, "यह नीति कथा नहीं है। यह केवल एक गुह्य प्रक्रिया, जिससे आयु का बढ़ना और देह का क्षरण अधिक समय तक रुकता है, को ढंकने का आवरण है। ... रहस्य यह है; प्रत्येक मनुष्य वातावरण की परिस्थितियों के अनुसार एक समय आता है जब, मृत्यु की ओर खिंचता है। यदि उसने अपनी जीवनी शक्ति को बर्बाद कर दिया है तो उसके लिए कोई बचाव नहीं होता; किन्तु यदि उसने नियम के अनुसार जीवन जिया है तो वह उसी देह में बहुत समय तक रह सकता है।"

इस विषय पर जो विवरण आगे दिया जा रहा है, वह ऋषियों के दिनों से लेकर थिऑसोफिकल सोसाइटी के बनने तक, गुह्य विद्या में दीक्षा देने से

संबंधित अत्यंत गुप्त और अधिकतम सख़्ती से सुरक्षित रहस्यों में से एक है। ये कुछ तथ्य विज्ञान तथा मानव के लाभ के लिए, विशेषकर उन कुछ लोगों के लिए सामने लाये गए, जो लोग व्यक्तिगत रूप से प्रयोग करने में पर्याप्त साहसी हों। ये जीवन को सामान्य से बहुत अधिक लम्बा करने की गुह्य विधियों के चौंकाने वाले ब्यौरे हैं।

"जीवन का अमृत" की परंपरा को कबालिस्टों और कीमियागरों के पास होना कहा जाता है। महान रहस्य से अनभिज्ञ, एशिया के गुप्त प्रथाओं के अवनत अवशेष, आब-ए-हयात या जीवन का जल, के रूपक को एक तथ्य मानते हैं। "तीखा और तीक्ष्ण अर्क", जिसके द्वारा जनोनी (Zanoni) ने अपने अस्तित्व का नवीनीकरण किया, की अभी भी आधुनिक कल्पितों (visionaries) की कल्पना को – भविष्य की एक सम्भाव्य वैज्ञानिक शोध के रूप में – उत्तेजित करती है।

थिऑसोफी के दृष्टिकोण से, यद्यपि घोषित तथ्य सही है, किन्तु तथ्य का अनुभव करने के लिए ऊपर लिखी गई धारणा और कार्यविधि को झूठा माना गया है। थिऑसोफिकल गुह्य विद्या में यह दावा किया गया है कि ऐसे जीवित बुद्धिमान व्यक्ति हैं जिनके पास आधुनिक विज्ञान के उच्चतम विचारों की तुलना में निरीक्षण के लिए असीमित विस्तार का क्षेत्र है। किन्तु वे श्रेष्ठतर बुद्धिमान व्यक्ति भी असीमित विस्तार के क्षेत्र में, केवल आकाश के अलावा, किसी अन्य स्थायी चीज को खोजने में असफल रहे हैं। इसलिए ध्यान पूर्वक विचार, पाठक को आसानी से आगे तार्किक निष्कर्ष का सुझाव देगा कि एक विश्व, जो अपनी स्थितियों में वास्तविक रूप से अस्थायी है, में कुछ भी स्थायी नहीं हो सकता है। इसलिए, कोई भी संभव पदार्थ-सार, चाहे उसको अनंतता की गहराइयों से निकाला गया हो; अपनी पृथ्वी या किसी दूसरी पर, दवाओं का कोई भी काल्पनिक मिश्रण चाहे वह मिश्रण उच्चतम

बुद्धिमान व्यक्तियों द्वारा तैयार किया गया हो; जीवन और अनुशासन की कोई प्रणाली चाहे वह दृढ़ संकल्प और कौशल से निर्देशित की गयी हो, संभवतया अपरिवर्तनीयता (या अचल स्थिति) उत्पन्न नहीं कर सकती। क्योंकि सौर प्रणालियों के विश्व में, जहां भी और जैसे भी अनुसंधान किया गया हो, आस्तिकों द्वारा दिए गए भौतिक अर्थ में अपरिवर्तनीयता के लिए "अनास्तित्व" या,"अस्तित्व-विहीनता" की आवश्यकता होती है।

परिणाम स्वरूप, यह देखा जाएगा कि "अमरत्व" की सामान्य आदर्श धारणा न केवल वास्तविकता में गलत है, बल्कि यह एक भौतिक और पराभौतिक असंभावना है। किंतु मानवीय जीवन की अवधि को वास्तव में इतना लम्बा कर देना संभव है कि वह उन लोगों को जादुई और अविश्वसनीय लगेगा जो लोग हमारे अस्तित्व के विस्तार को अधिक से अधिक कुछ सौ वर्षों तक ही सीमित मानते हैं। यों कहें कि हम मृत्यु के धक्के को तोड़ सकते हैं, और मरने के बजाय, अंधकार में एक अचानक डुबकी को अधिक प्रज्वलित प्रकाश में जाने में बदल सकते हैं। और इसको इतना क्रमिक बनाया जा सकता है कि अस्तित्व की एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाने में घर्षण न्यूनतम हो, जिससे व्यावहारिक रूप से इसका भान भी न हो। यह बिल्कुल भिन्न विषय है, और गुप्त विज्ञान (Occult Science) की पहुंच में है। इसमें, और ऐसे ही दूसरे मामलों में भी उचित ढंग से निर्देशित साधनों को अपना लक्ष्य प्राप्त होगा, और कारण प्रभाव उत्पन्न करते हैं। निःसन्देह केवल यह प्रश्न रहता है कि, ये कारण क्या हैं और कैसे उनको, अपनी बारी में, उत्पन्न किया जाये। गुह्य विधि के इस पक्ष से, जहां तक आज्ञा है, परदे को कैसे हटाया जाए, यही वर्तमान लेख का उद्देश्य है।

हम *आइसिस अनवेल्ड* और अन्य रहस्यवादी कृतियों में दिए गए दो थिऑसोफिक सिद्धांतों को याद करते हुए आधार देखें – अर्थात, (अ) अंतिम

रूप में ब्रह्माण्ड एक है – अनगिनत परिवर्तनों तथा अभिव्यक्तियों में एक, और (ब) तथाकथित मनुष्य एक "यौगिक अस्तित्व" है – मिश्रण, तथाकथित पदार्थीय जीवित इकाइयों का पुंज केवल बाह्य वैज्ञानिक भाव में ही नहीं, किंतु गुह्य भाव में भी आपस में घुले-मिले सात रूपों या हिस्सों का क्रमिक प्राणी है। इसको और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते हैं कि अधिक एथेरियल (ethereal) रूप उसी आयाम के प्रतिरूप हैं – प्रत्येक सूक्ष्मतर अगले अधिक ठोस के अंतर-परमाणुविक (inter-atomic) स्थान के अन्दर रहता है। दर्पण में प्रतिबिंबित वास्तविक मनुष्य सचमुच में कई मनुष्य हैं, या यौगिक मनुष्य के कई हिस्से; प्रत्येक दूसरे का प्रतिरूप, किंतु प्रत्येक की "परमाणुविक स्थिति" इस तरह बनी होती है कि इसके परमाणु अगले "अधिक ठोस" रूप के परमाणुओं में अंतर्भेद (interpenetrate) करते हैं।

यदि आप "जीवन का अमृत" पीना चाहते हैं, और एक हजार वर्ष या ऐसा लम्बा जीवन जीना चाहते हैं तो इस तरह की संरचना के आधार पर आगे समझना होगा। क्योंकि गुह्य विज्ञान इस बात की क्षीणतम संभावित आशा नहीं देता कि वांछित परिणाम किसी अन्य ढंग से प्राप्त हो सकेगा; जबकि आधुनिक विज्ञान इस पर हंसता है।

प्रक्रिया, परिणाम और प्रयोजन

अतः हम उस बिन्दु पर पहुंचे हैं जहां अक्षरशः, न कि लाक्षणिक, बाहरी खोल जिसको मर्त लच्छा या शरीर जाना जाता है, उसको तोड़ कर, उसमें से चूज़े की तरह, अपने अगले परिधान के साथ बाहर आना होगा। यह "अगला" परिधान आध्यात्मिक नहीं है किंतु केवल एक अधिक एथेरियल रूप है। एक लम्बे प्रशिक्षण और तैयारी द्वारा इस वातावरण में, एक जीवन के

लिए शरीर को अनुकूल करके, जिस समय में एक निश्चित प्रक्रिया (जिसका संकेत आगे दिया गया है) से हमने बाहरी खोल को क्रमिक रूप से समाप्त किया है, हमें इस शारीरिक रूपांतरण के लिए तैयारी करनी है।

इसको हम कैसे करें? प्रथमतः हमारे पास वास्तविक, दृश्यमान, पदार्थीय शरीर – तथाकथित मनुष्य है; यद्यपि, वास्तव में उसका केवल बाहरी खोल – जिस पर काम करना है। हम मन में यह तथ्य रखें कि विज्ञान सिखाता है कि हम लगभग सात वर्षों में अपनी खाल को प्रभावशाली ढंग से बदल देते हैं जैसे कि कोई सांप करता है, और यह इतना धीरे-धीरे तथा अगोचर होता है, कि यदि विज्ञान ने वर्षों तक अध्ययन और निरीक्षण करके न बताया होता, तो किसी को भी इस तथ्य का न्यूनतम संदेह नहीं होता।

इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि शरीर पर कोई कट या चोट, चाहे वह कितना भी गहरा क्यों न हो, उसमें क्षति की मरम्मत करने और उसे पुनः जोड़ने की प्रवृत्ति होती है; खाल के एक क्षतिग्रस्त टुकड़े की जगह शीघ्र ही दूसरा बन जाता है। इसलिए यदि एक जीवित मनुष्य की खाल को अंशतः उधेड़ा जाय तो, कभी-कभी वह मनुष्य बचा रह सकता है और नई खाल से ढंक जाएगा। इस प्रकार हमारा एस्ट्रल, जीवंत शरीर (vital body) – सात में से चौथा (दूसरे को आकर्षित और आत्मसात करके) और जो भौतिक शरीर की तुलना में अत्यधिक एथेरियल है – उसको ऐसा बनाया जा सकता है कि वह अपने कणों को वायुमण्डलीय परिवर्तनों के लिए कड़ा कर सके। इसको इस तरह विकसित करने की सफलता में, और इसको दृश्य शरीर से पृथक करने में ही पूर्ण रहस्य है; तथा जब इसके सामान्यतया अदृश्य परमाणु अपने को ठोस बनाते हुए सघन द्रव्यमान में बदलते हैं, हमारे दृश्य ढांचे के कणों को धीरे-धीरे त्याग कर जिससे वे समाप्त होकर गायब हो जाएं, इसके

पहले कि नए समूह को विकसित करने और उनका स्थान लेने का समय मिल सके।

इन शरीरों में से प्रत्येक अपनी बारी में अपने पूर्ववर्ती और अधिक सघन शरीर के बाद बचा रहता है, और तब मरता है। छठवां अपवाद है जब यह सातवें के साथ मिश्रित होता है।

हम एशिया के लोगों में एक लोकोक्ति है, शायद हिन्दुओं द्वारा इसके गुह्य अर्थ को न जानते हुए दोहराती हुई। देवता लोग प्रत्येक मनुष्य के कान में फुसफुसाए कि – तुम केवल – यदि इच्छा करो – "अमर" हो। इसके साथ एक पश्चिमी लेखक की एक दूसरी लोकोक्ति को जोडें – कि यदि कोई मनुष्य एक क्षण के लिए भी अनुभव कर ले कि उसको किसी दिन मर जाना है, तो वह उसी क्षण मर जाएगा। बुद्धिमान लोग यह अनुभव करेंगें कि ठीक से समझी हुई इन दो लोकोक्तियों के बीच 'लम्बी अवधि के जीवन' का पूरा रहस्य प्रकट हो जाता है। हम तभी मरते हैं जब हमारी इच्छा शक्ति जीवित रहने के लिए पर्याप्त दृढ़ नहीं रह जाती। बहुतायत मामलों में, मृत्यु तभी आती है जब हमारे भौतिक स्थितियों में तीव्र परिवर्तन के साथ यातना और जीवनीक थकावट, इतनी प्रचंड हो जाती है, कि एक क्षण के लिए हमारी "जीवन पर पकड़" या अस्तित्व में बने रहने की इच्छा शक्ति कमजोर हो जाती है। तब तक बीमारी कितनी भी गंभीर हो, पीड़ा कितनी भी तेज हो, हम केवल बीमार या चोटिल रहते हैं, जैसा भी मामला हो।

प्रसन्नता, डर, दर्द, शोक, या ऐसे दूसरे कारणों से अचानक मृत्यु को यह व्याख्यायित करता है। जीवन का कार्य पूरा हो जाने का भाव, स्वयं के अस्तित्व के अर्थहीन हो जाने का भाव, यदि दृढ़ता से अनुभव हुआ, तो वह उतने ही निश्चित रूप से मृत्यु उत्पन्न करता है, जैसे विष या राइफल की

गोली। दूसरी ओर, जीवन बने रहने का दृढ़ संकल्प, वास्तव में, कइयों को गंभीर रोगों के संकटकाल में से भी पूर्ण सुरक्षा में ले गया।

तब, प्रथमतः, बने रहने और जारी रहने की धारणा की निश्चितता के लिए दृढ़ विचार और इच्छा-शक्ति अवश्य होने चाहिए। उसके बिना, अन्य सभी व्यर्थ है। और उद्देश्य के फलोत्पादक होने के लिए, एक समय में केवल एक क्षणस्थायी संकल्प, एक छोटी अवधि की उत्कट इच्छा नहीं, किंतु बिना एक क्षण में ढिलाई के जितना अधिक हो सके, एक स्थायी और लगातार एकाग्रता से तनाव बना रहना चाहिए। एक शब्द में, "अमर" होने वाले व्यक्ति को रात और दिन स्वयं को स्वयं के विरुद्ध रक्षा करते हुए सावधान होना चाहिए। जीवित रहना – जीवित रहना – जीवित रहना – उसका अडिग संकल्प होना चाहिए। उसको, जितना कम से कम संभव हो सके, इससे मुड़ना चाहिए। यह कहा जा सकता है कि यह स्वार्थपरता का अत्यंत सघन रूप है – यह कि यह परोपकार और वैराग्य तथा मानवता के कल्याण के हमारे थिऑसोफिकल कार्य के बिल्कुल विपरीत है। संकुचित दृष्टिकोण से ऐसा विचार ठीक प्रतीत होगा। किंतु भलाई करने के लिए, जैसा अन्य प्रत्येक चीज़ में है, एक मनुष्य को कार्य करने के लिए समय और पदार्थ उपलब्ध होने चाहिए, और यह उन शक्तियों को प्राप्त करने का एक आवश्यक साधन है, जिसके द्वारा, उन शक्तियों के न होने की तुलना में, अधिक भलाई असीम रूप से की जा सकती है।

कर्नल अल्काट ने अपने *बौद्ध प्रश्नोत्तरी* (*Buddhist Catechism*) में दृढ़ इच्छा-शक्ति की रचनात्मक या पुनर्रचनात्मक शक्ति की मार्मिकता से व्याख्या की है। वहां पर वह – निस्संदेह, दक्षिणी बौद्ध धर्म के अनुयायियों की ओर से – बताते हैं कि यह जीवित बने रहने की इच्छा, यदि वर्तमान जीवन में नहीं बुझ गयी हो, तो यह दैहिक मृत्यु की खाई के परे छलांग लगाती है, तथा

स्कन्धों को पुनः जोड़ती है, या वह व्यक्ति जिन गुण-समूहों से बना था उनको नए व्यक्तित्व में बनाती है। इसलिए मनुष्य, वस्तुनिष्ठ अस्तित्व के लिए अपनी अतृप्त इच्छाओं के कारण पुनर्जन्म लेता है। कर्नल अल्काट इसको इस ढंग से प्रस्तुत करते हैं :

प्रश्न 123. मनुष्य में वह क्या है जो उसको एक स्थायी वैयक्तिकता (individuality) की धारणा देता है?

उत्तर – तनहा, या अस्तित्व के लिए अतृप्त इच्छा। प्राणी ने जो कार्य किया उसके लिए उसे भविष्य में पुरस्कार या दंड अवश्य मिलना ही चाहिए, तथा तनहा रखते हुए वह कर्म के प्रभाव से पुनर्जन्म लेगा।

प्रश्न 124. वह क्या है जो पुनर्जन्म लेता है?

उत्तर – स्कन्धों का एक नया समुच्चय, या मरते हुए व्यक्ति की अंतिम इच्छा द्वारा बनाई हुई वैयक्तिकता।

प्रश्न 128. किस कारण से पांच स्कन्धों के संयोजन (combination) में विभेद होता है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से भिन्न बनता है?

उत्तर – पूर्व जन्म में प्रत्येक व्यक्ति के कर्म।

प्रश्न 129. वह बल या ऊर्जा क्या है, जो कर्म के मार्गदर्शन में नया प्राणी उत्पन्न करने के लिए कार्य करती है?

उत्तर – तनहा – "जीने की दृढ़ इच्छा।"

जब इन पर स्वामित्व प्राप्त कर लिया जाता है, तब उनके प्रयोग के अवसर आएंगे, क्योंकि एक क्षण ऐसा आता है जब आगे ध्यान और प्रयास

की आवश्यकता नहीं रहती – ऐसा क्षण जब घुमाव-बिन्दु से सुरक्षा पूर्वक गुजरना हो जाता है। वर्तमान में जैसे हम आकांक्षी के बारे में, न कि उन्नत चेला के संबंध में विचार करते हैं, पहले स्तर पर निश्चित दृढ संकल्प, और स्वयं पर स्वयं द्वारा एक बुद्धिमानी पूर्वक एकाग्रता, इतना ही सब नितांत आवश्यक है। इससे यह विचार नहीं होना चाहिए कि प्रत्याशी को दूसरों की अवहेलना में अमानवीय या क्रूर होना पड़ता है। ऐसा धृष्ट स्वार्थपूर्ण ढंग उसको वैसा ही हानिकारक होगा जैसा कि इसके विपरीत अपनी भौतिक इच्छाओं को संतुष्ट करने के लिए जीवनप्रद ऊर्जा (vital energy) को खर्च करना। जो सब उससे आवश्यक है, बस केवल इतना कि एक शुद्ध निष्क्रिय रुझान। जब तक घुमाव-बिंदु नहीं आ जाता, उसे अपनी ऊर्जा को किसी भी प्रयोजन के लिए प्रचुर या उत्कठ भक्ति में फैलाना या बिखेरना नहीं चाहिए, चाहे वह प्रयोजन कितना भी उत्तम, कितना भी अच्छा, कितना भी उन्नत क्यों न हो। पाठक को सत्यनिष्ठा से आश्वासन दिया जा सकता है कि यह कई ढंगों में अपना पुरस्कार लाएगा – कदाचित दूसरे जीवन में, कदाचित इस संसार में, किंतु जिस अस्तित्व को बनाये रखने की इच्छा की जा रही है, उसको छोटा करेगा, जैसे स्वयं-भोग (self-indulgence) तथा व्यसन करेंगे। इसी कारण संसार के सही महान व्यक्ति (निःसंदेह, मूल्यहीन साहसिक व्यक्ति जिन्होंने अधिक शक्ति को बुरे कार्यों के लिए प्रयोग किया, इस विचार से बाहर हैं) – शहीद, नायक, धर्मों के संस्थापक, राष्ट्रों को स्वतंत्र कराने वाले, समाज-सुधार के नेताओं में से बहुत कम लोग ही – कभी लम्बी आयु वाले "सिद्धों के भ्रातृ संघ" के सदस्य बन सके, जिन सिद्ध लोगों पर कुछ लोगों द्वारा लम्बे वर्षों तक स्वार्थपरता का दोष लगाया जाता रहा। (और इसलिए आधुनिक भारत के योगियों और फकीरों – उनमें से अधिकतम मर्त्य-अक्षरी प्रथा के अनुसार अब कार्य कर रहे हैं, से अपेक्षा की जाती है, कि वे प्रत्येक अंतरीय भावना या भावावेश के प्रति पूर्णतया मृत प्रतीत हों, यदि

उनको अपने व्यवसाय के सिद्धांतों के अनुसार जीवन जीता हुआ माना जाएगा।) उनके हृदय की शुद्धता, उनकी आकांक्षाओं की महानता, स्व-त्याग के प्रति उनकी उदासीनता के बावज़ूद, वे लम्बी आयु नहीं जी सके, क्योंकि वे घडी चूक गए थे।

सिनेट की पुस्तक *ऑकल्ट वर्ल्ड* (*Occult World*) के पृष्ठ 151 पर लेखक के अधिक अपशब्द प्राप्त, और इससे भी अधिक संदेह किए हुए पत्र-व्यवहारी उनको आश्वासन देते हैं कि "उसके स्तर का कोई भी 'बुलवर' के 'जनोनी' की तरह कठोर नहीं है। ... 'हृदय-विहीन नैतिक रूप से सूखी मम्मी', जैसा कि कुछ लोग हमारे बारे में कल्पना करेंगे" और आगे जोड़ते हैं कि उनमें से बहुत कम ही लोग "गंभीर कविता के ग्रंथ के पन्नों के बीच सुखाई पैन्सी जैसी भूमिका निभाने की परवाह करेंगे।" किंतु हमारे सिद्ध यह कहना छोड़ देते हैं कि यदि वह एक या दो अधिक ऊंचे स्तर के हैं तो उनको कई वर्षों तक अपने को मम्मी जैसा बनने की प्रक्रिया में लगाना पड़ेगा, यदि वे अपने लम्बे जीवन के प्रयास को स्वेच्छा से नहीं त्याग देंगे और मर जायेंगे।

वे समय-समय पर उन शक्तियों का प्रयोग किए हों जिनको संसार जादुई कहता है; वे मनुष्य का विद्युतीकरण किये और अपने उत्कठ तथा स्व-समर्पित दृढ इच्छा शक्ति से प्रकृति को अधीन किये हो सकते हैं; उनके पास तथाकथित अतिमानवीय (superhuman) समझ हो सकती है; यहां तक कि उनको हमारे अपने गुह्य भ्रातृ संघ का ज्ञान हो, और उनसे समन्वय भी हो; किंतु जान-बूझ कर अपनी जीवनप्रद ऊर्जा को स्वयं की बजाय, दूसरों की भलाई के लिए प्रयोग करने का संकल्प लिया हो, तो उन्होंने जीवन का परित्याग कर दिया है; और क्रॉस या पाड़ पर नष्ट होते हुए या हाथ में तलवार लेकर युद्ध-क्षेत्र में गिरते हुए, या जीवन के उद्देश्य को सफतला पूर्वक प्राप्त करके थक गए हों, अपने कमरे में मृत्यु-शैया पर उन सभी को समान

रुप से यही अंत में कराह करना पड़ता है : "मेरे ईश्वर, मेरे ईश्वर, आपने मुझे क्यों छोड़ दिया है?"

यहां तक तो ठीक है। किंतु जीने की इच्छा, चाहे कितनी भी शक्तिशाली हो, हमने देखा है कि, सांसारिक जीवन के सामान्य ढंग में, विघटन के घटकों को रोका नहीं जा सकता। निराश, ब्रह्माण्डीय तत्त्वों का बार-बार बदलाव लाने के लिए नवीकृत संघर्ष, उस दृढ इच्छा शक्ति के बावज़ूद जो उनको रोक रही है – उसी तरह जैसे एक बेलगाम घोड़ों की जोड़ा, उनको नियंत्रित कर रहे दृढ चालक के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हों, और समग्र रुप से इतने शक्तिशाली हों, कि बिना तैयारी किये शरीर के अन्दर अप्रशिक्षित मानवीय इच्छा शक्ति के अधिकतम प्रयास अंततः व्यर्थ हो जाते हैं। अत्यंत बहादुर सिपाही की उच्चतम निर्भयता; तड़पते प्रेमी की तीव्र इच्छा; असंतुष्ट कंजूस की भूखी लालच; कठोरतम धर्मांध की संदेह मुक्त श्रद्धा; साहसी बहादुर रेड इंडियन या अर्ध-प्रशिक्षित हिंदू योगी की दर्द के प्रति अभ्यास की हुई असंवेदनशीलता; अत्यंत शांत विचारक का अधिकतम सुचिंतित दर्शन – ये सभी समान रूप से अंत में असफल हो जाते हैं। वास्तव में संदेहवादी इसके विपरीत दलील देंगे कि, अनुभव में यह देखा जाता है कि अत्यंत सौम्य और अत्यंत ढुलमुल मन तथा अत्यंत कमजोर भौतिक देह वाले प्रायः मृत्यु को अधिक देर तक रोके प्रतीत होते हैं, उनकी तुलना में जो उच्च आत्मबल तथा हठी अहंमानी (egoistic) की शक्तिशाली इच्छा शक्ति के मनुष्य हैं, और जो लौह-शरीर वाले श्रमिक, योद्धा तथा खिलाड़ी हैं। वास्तविकता में इन प्रतीयमान विरोधाभासी घटनाओं के रहस्य की कुंजी उन चीजों की सही धारणा है जो पहले कही गई हैं। यदि ठोस "बाह्य खोल" का विकास दृढ इच्छा शक्ति के सामानांतर और बराबर दर से होता है तो यह तर्कसंगत लगता है कि ठोस शरीर को इच्छा शक्ति से जीत पाने के उद्देश्य का कोई लाभ नहीं मिलता। उन्नत ब्रीचलोडेर की प्राप्ति एक आधुनिक सेना

को शत्रु के ऊपर परम श्रेष्ठता नहीं देगा यदि शत्रु सेना भी उनको प्राप्त कर ले। परिणाम स्वरूप यह उनको जो इस विषय पर ऐसा सोचते हैं कि दृश्य संसार में "एक शक्तिशाली और दृढ स्वभाव" के लिए प्रशिक्षण, "ठोस" और तथाकथित जंतु-ढांचे के समानांतर विकास के बिना व्यर्थ होता है, यह स्पष्ट होगा कि ऐसा करना वर्तमान उद्देश्य को विफल कर देगा, इस तथ्य के कारण कि इसके अपने कार्य ने शत्रु को अपने हथियारों के बराबर हथियारों से लैस कर दिया है। विघटन के संवेग का बल उसका प्रतिरोध करती इच्छा-शक्ति के बराबर हो जायेगा; और संचयी होते हुए इच्छा-शक्ति को दबा कर अंत में उस पर विजयी हो जाएगा। दूसरी ओर, यह हो सकता है कि एक कमजोर तथा अविकसित भौतिक ढांचे में रह रही एक प्रतीयमान कमजोर और ढुलमुल इच्छा-शक्ति को किसी अतृप्त इच्छा से ऐसी मजबूती मिले (उदाहरण के लिए एक मां की अपने पितृविहीन बच्चों के लिए उनके साथ रहने और उनको सम्बल प्रदान करने वाली दिल की तड़पन) – कि एक छोटे समय के लिए यह अस्थायी रूप से शरीर के भौतिक घटकों (throes) से बेहतर हो कर उनको दबा कर पराजित कर दे।

तब इस संसार में निरंतर अस्तित्व के लिए प्रथम शर्त का पूरा मूल कारण है (अ) दृढ़ इच्छाशक्ति का इतना विकास कि वह एक निश्चित ब्रह्माण्डीय कार्यप्रणाली में एक विशेष अवधि पर ठोस और स्पर्शनीय जंतु ढांचे को बनाये हुए परमाणुओं की गति तीव्र हो जाने की अनुवांशिक वृत्तियों, के ऊपर विजय प्राप्त कर ले; और (ब) उस जंतु ढांचे के ठोस कार्य को इतना कमजोर कर दे कि उसको इच्छाशक्ति के द्वारा वश्य (amenable) कर दे। एक सेना को हराने के लिए तुम्हें उसको हतोत्साहित करना और अव्यवस्था में अवश्य डालना चाहिए।

तब यह करना, सभी अनुष्ठानों, संस्कारों, व्रतों, प्रार्थनाओं, ध्यान, दीक्षाओं तथा विभिन्न गुह्य पूर्वी मतों द्वारा स्व-अनुशासन की प्रक्रियाओं को मनवाने का वास्तविक उद्देश्य है, उस शुद्ध उन्नत आकांक्षा की कार्यप्रणाली जो वास्तविक सिद्धत्व की उच्चतर अवस्थाओं को ले जाती है, से नीचे की ओर के डरावने तथा घृणास्पद अनुष्ठान जिसमें हो कर "वाम-हस्त-मार्ग" के अनुयायी को, सभी समय अपना समत्व बनाये हुए, गुजरना होता है। इन प्रक्रियाओं के अपने गुण और अपने अवगुण, अपने अलग उपयोग और दुरुपयोग, अपने आवश्यक और अनावश्यक हिस्से, अपने विभिन्न पर्दे, स्वांग तथा भवंरजाल होते हैं। किंतु सभी में, विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा प्रायोजित परिणाम को पहुंचा जाता है। दृढ़ इच्छाशक्ति को मजबूत, उत्साहित और निर्देशित किया जाता है, तथा उसके कार्य का प्रतिरोध करने वाले तत्त्वों को हतोत्साहित किया जाता है। अब किसी को भी जिसने विभिन्न विकास-सिद्धांतो पर विचार किया है, किसी गुप्त स्रोत से नहीं, किंतु सामान्य वैज्ञानिक सर्वसुलभ पुस्तकों से – प्रजातियों की आदतों में नवीनतम बदलाव की परिकल्पना से – जैसे उदाहरण के लिए न्यूजीलैंड के सुग्गे द्वारा मांसाहारी आदत प्राप्त करना – से अग्नि-धुंध (Fire Mist) सिद्धांत द्वारा उपलब्ध आकाश और शाश्वता में पीछे की ओर दूरतम झलक तक, यह स्पष्ट होगा कि वे सभी एक आधार पर स्थित हैं। वह आधार है, कि एक काल्पनिक इकाई को एक बार दिए गए आवेग में निरंतर बने रहने की वृत्ति होती है; और परिणामस्वरुप एक निश्चित समय और निश्चित स्थान पर कुछ चीज़ द्वारा किसी चीज को "करना" स्वयं को दूसरे समयों और स्थानों पर दोहराने की प्रवृत्ति रखता है।

अनुवांशिकता तथा पूर्वजता (atavism) का ऐसा मान्य तर्क है। वही चीजें हमारे सामान्य आचार में लागू होती हैं, इससे साफ होगा कि हमारी आदतें – बुरी या अच्छी, जैसे भी हो बड़ी आसानी से प्राप्त होती हैं,

और इसपर प्रश्न नहीं उठेगा कि एक नियम की तरह यह नैतिक तथा बौद्धिक स्तर में उतना ही लागू होता है जितना भौतिक संसार पर।

आगे, इतिहास तथा विज्ञान हमें साफ सिखाते हैं कि कुछ भौतिक आदतें, कुछ नैतिक तथा बौद्धिक परिणामों में सहायक होती हैं। कभी भी शाकाहारियों का एक विजेता राष्ट्र नहीं रहा। आर्यों के पुराने समय में भी, हम यह नहीं सीखते कि वे ऋषि, जिनके विद्या और अभ्यास से हम गुप्त विद्या का ज्ञान प्राप्त करते हैं, कभी भी क्षत्रिय (सेना) जाति को शिकार करने या एक मांसाहारी भोजन से मना किए हों। संसार की वास्तविक स्थिति की राजनीतिक व्यवस्था में वे एक निश्चित स्थान को भरते रहे, ऋषि लोग उनमें हस्तक्षेप करने के लिए उतना ही कम सोचे जैसे जंगल के चीते की आदतों में। वह ऋषियों के स्वयं के कार्य को प्रभावित नहीं करता था।

लम्बी अवधि के आयु के आकांक्षी को दो खतरों के प्रति सावधान रहना चाहिए। उसे विशेष रूप से अशुद्ध और पाशविक विचारों से सतर्क रहना ही चाहिए। क्योंकि विज्ञान दिखाता है कि विचार गतिमान होते हैं, और स्नायु-कार्य द्वारा विकसित बाहर की ओर फैलते विचार-बल, भौतिक मनुष्य के आणविक (molecular) संबंधों को प्रभावित करते हैं। अंतरीय मनुष्य, उसकी अंग प्रणाली कितनी भी सूक्ष्म हो गई हो, फिर भी वास्तविक, न कि काल्पनिक, कणों से बनी होती है, तथा अभी भी इस नियम के तहत है कि एक "कार्य" में स्वयं को दोहराने की वृत्ति होती है; ठोस "खोल" जिसके संपर्क में और अन्दर वे हैं, उसमे एक समरूप कार्य उठाने के लिए वृत्ति। दूसरे शब्दों में, विचार कार्य को उत्तेजित करते हैं।

दूसरी ओर, कुछ कार्यों में शुद्ध विचारों के प्रतिकूल वास्तविक भौतिक स्थितियां उत्पन्न करने की वृत्ति होती है, इसलिए ऐसे कार्य अंतरीय मनुष्य की श्रेष्ठता के विकास के लिए वांछित अवस्था के प्रतिकूल होते हैं।

व्यावहारिक प्रक्रिया पर फिर देखें। एक सामान्य स्वस्थ शरीर में सामान्य स्वस्थ मन, प्रारम्भ करने के लिए अच्छा बिंदु है। स्व-अनुशासन के लिए निर्धारित कार्य-प्रणाली यहां प्रारम्भ होती है। संक्षेप में कह सकते हैं कि इसका सार, एक नैतिक, मानसिक और भौतिक विकास की समानांतर प्रक्रिया में है – इसमें से एक, दूसरे के बिना व्यर्थ होता है। भौतिक मनुष्य को और अधिक एथेरियल तथा संवेदनशील; मानसिक मनुष्य को और अधिक मर्मज्ञ तथा गंभीर; नैतिक मनुष्य को और अधिक स्व-निषेधक तथा दार्शनिक बनना ही चाहिए। और यहां यह कह सकते हैं कि संयम का सभी भाव – यद्यपि स्व-थोपित भी – व्यर्थ है। सभी "अच्छाई" जो भौतिक बल, धमकियों या रिश्वतों (चाहे भौतिक या तथाकथित "आध्यात्मिक" प्रकृति के) के कारण होती हैं, वे उस मनुष्य, जिसमें ये दिखती हैं, के लिए न केवल पूर्णतया व्यर्थ होती हैं, इसका पाखंड संसार के नैतिक वातावरण को विषाक्त करता है, किंतु प्रभावी होने के लिए "अच्छा" या "शुद्ध" होने की इच्छा स्वाभाविक होनी चाहिए। ऐसा स्व-आवेग अन्दर से अवश्य होना चाहिए, कुछ उच्चतर के लिए एक वास्तविक पसंद होनी चाहिए, न कि कानून के डर के कारण बुराई से परहेज़; लोक-मत के भय द्वारा बाध्य संयम नहीं; प्रशंसा के लिए प्रेम या एक काल्पनिक भविष्य के जीवन में आने वाले परिणामों के भय से परोपकार करना नहीं।

कार्य के पुनरीकरण की प्रवृत्तियों के सिद्धांत – जैसा पहले बात की गई है – के संबंध में, गुप्त विद्या द्वारा दीर्घायु के लिए संस्तुत स्व-अनुशासन की कार्यप्रणाली का केवल एक ही मार्ग है, जो अस्पष्ट "विचारों" का एक काल्पनिक सिद्धांत नहीं है, किंतु वास्तव में एक वैज्ञानिक ढंग से प्रकल्पित अभ्यास की प्रणाली है। यह ऐसी प्रणाली है जिसके द्वारा सात आयामी मनुष्य में स्थित कई मनुष्यों के प्रत्येक कण को आवेग मिलता है, और निश्चित उद्देश्य के लिए अपनी स्वतंत्र-इच्छा से प्रसन्नतापूर्वक आवश्यक कार्य

करने की आदत पड़ती है। प्रत्येक का अभ्यास और एक चीज़ को प्रसन्नतापूर्वक उत्तम ढंग से करना ही चाहिए। यह नियम विशेष रूप से मनुष्य के विकास में लागू होता है। "गुण" अपने में बहुत अच्छा हो सकता है – यह भव्यतम परिणाम को ले जा सकता है। किंतु प्रभावी बनने के लिए "गुण" को प्रसन्न-वदंता (cheerfully) के साथ अभ्यास करना चाहिए, अनिच्छा या दर्द के साथ नहीं। उक्त विचार के परिणामस्वरूप, दीर्घ आयु के अभ्यर्थी को अपनी प्रगति के आरंभ में अपनी भौतिक इच्छाओं का त्याग प्रारम्भ करना चाहिए, सही या गलत के किसी भावुक सिद्धांत से नहीं, किंतु निम्नलिखित अच्छे कारण के लिए। जैसा कि प्रसिद्ध और अब स्थापित वैज्ञानिक सिद्धांत के अनुसार, उसका दृश्य पदार्थीय ढांचा अपने कणों का सर्वदा पुनर्नवीनीकरण कर रहा है। एक साधक, जब अपनी इच्छाओं की संतुष्टि (gratification) से बच रहा है, एक निश्चित अवधि – जिसमें वे कण जो बुराई के मनुष्य को बनाए थे, और जो उसको एक बुरी पूर्ववृत्ति (predisposition) दिए थे – के अंत में निर्गत (depart) हो गए होंगे। साथ ही, ऐसे कार्यों का अनुपयोग (disuse) पुराने कणों की जगह उन्हीं कार्यों को दोहराने की प्रवृत्ति वाले नए कणों के प्रवेश को अवरुद्ध करेगा। जब कि यह विशेष परिणाम कुछ "बुराइयों" के संबंध में है, "अशिष्ट" कार्यों से बचने का सामान्य परिणाम होगा – जिसको सापेक्ष घनत्व कह सकते हैं उसको तथा बाह्य खोल के जुटने (coherence) को कम करना (इसके कम-प्रयुक्त अणुओं के परिणाम स्वरूप); जबकि इसके वास्तविक घटकों में कमी की मात्रा (यदि स्तर और भार से प्रयास किया जाए) की पूर्ति और अधिक एथेरियल कणों के प्रवेश से होगी।

किन भौतिक इच्छाओं को परित्यक्त करना है और किस क्रम में? प्रथम और सर्वोपरि, उसको सभी प्रकार की मदिरा (alcohol) को आवश्य ही छोड़ना चाहिए; क्योंकि जबकि यह कोई पोषण नहीं देता, न ही यहां तक

कि "भौतिक" ढांचे के सबसे मोटे तत्त्वों को कोई प्रत्यक्ष सुख (ऐसी मिठास या सुवास जो मदिरा के स्वाद आदि से मिले के परे, जिसके लिए मदिरा स्वयं में अनावश्यक है) भी देता है, यह कार्य की हिंसा प्रेरित करता है, जीवन की एक हड़बड़ी, जिसका तनाव केवल बहुत मंद, मोटे तथा सघन तत्त्व द्वारा ही बना रह सकता है, और जो प्रतिक्रिया के सुप्रसिद्ध नियम के कार्यवाई द्वारा आसपास के संसार से ऐसे तत्त्वों को बटोरने की वृत्ति रखते हैं, और इसलिए हमारे वांछित उद्देश्य को सीधा प्रभावहीन करता है।

अगला मांस-भक्षण आता है, और ठीक उसी कारण से, एक छोटे अंश में। यह जीवन के संवेग (rapidity), कार्य की ऊर्जा, और वासना की हिंसा को बढ़ाता है। यह एक योद्धा, जिसको लड़ना और मरना है, उसके लिए अच्छा हो सकता है, किंतु होने वाले ऋषि, जिसको बने रहना है, उसके लिए नहीं।

अगले क्रम में यौन इच्छाएं आती हैं; ऊर्जा (जीवनप्रद, बल) को कई विभिन्न तरीकों से, प्राथमिक के परे दूसरी नलिकाओं में अधिक मोड़ना, (उदहारण के लिए, आशा, ईर्ष्या आदि में ऊर्जा की बर्बादी), जो संसार के मूल पदार्थ के कुछ ठोस गुण के प्रति प्रत्यक्ष आकर्षण हैं, इस सहज कारण से कि अधिकतम भौतिक सुख देने वाली संवेदनाएं केवल उसी स्तर के घनत्व में संभव होती हैं। इसके साथ ही और इनके विस्तार में सभी तथा दूसरी इन्द्रिय-सन्तुष्टियों {जिसमें न केवल वही चीजें जिनको सामान्यतया "ख़राब" माना जाता है, किंतु वे सभी जिनको आमतौर पर "निर्दोष" (innocent) समझा जाता है, फिर भी जिनमें शारीरिक सुख देने की अपात्रता होती है – दूसरों के लिए अधिकतम अहानिकर और न्यूनतम "ठोस" होना उनके लिए मापदंड होगा जिनको प्रत्येक मामले में सबसे अंत में छोड़ना है} – के परे नैतिक शुद्धिकरण अवश्य करना चाहिए।

न ही यह कल्पना करनी चाहिए कि "आत्मसंयम" या "तप" जैसा कि बहुतायत मामलों में सामान्यतया समझा जाता है, से एथेरियलीकरण (etherealizing) प्रक्रिया को शीघ्रता से करने में अधिक सहायता मिलेगी। यह वह चट्टान है जिस पर कई पूर्वी गुह्य मत स्थापित किये गए हैं, और जिसके कारण वे निकृष्ट अंधविश्वासों में पतित हो गए हैं। पश्चिमी संन्यासी और पूर्वी योगी, जो यह सोचते हैं कि वे अपने विचार को अपनी नाभि पर एकाग्र करके, या एक पैर पर खड़ा होकर शक्ति के शीर्षबिंदु पर पहुंचेंगें, वे ऐसा अभ्यास कर रहे हैं जिससे केवल दृढ इच्छाशक्ति को मजबूत करने के अलावा अन्य कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, जिस इच्छा शक्ति को कभी-कभी अत्यंत खोटे उद्देश्यों के लिए प्रयोग किया जाता है। ये एकतरफा और क्षुद्र विकास के उदाहरण हैं। जब तक तुम्हें भोजन की आवश्यकता है, तब तक उपवास करने का कोई उपयोग नहीं है। स्वास्थ्य को कोई हानि पहुंचाए बिना भोजन की इच्छा समाप्त होना इस बात का संकेत है कि इसको कमतर और सर्वदा घटती मात्रा में लेना चाहिए जब तक जीवित रहने के अनुकूल न्यूनतम सीमा न हो जाए। अंत में एक ऐसी अवस्था आएगी जब केवल पानी की ही आवश्यकता रहेगी।

जब तक तुम्हारे हृदय में अनैतिकता के लिए भूख है तब तक इससे बचने का दीर्घायु के इस विशेष उद्देश्य के लिए कोई प्रयोजन नहीं है; और उसी तरह सभी दूसरी अतृप्त अन्दर की लालसाओं के लिए भी। अन्दर की इच्छा से मुक्त होना वास्तविक चीज है, और वास्तविक चीज का नक़ल करना केवल धृष्ट पाखंड तथा व्यर्थ की दासता है।

इसी प्रकार हृदय की नैतिक शुद्धता के साथ भी है। अत्यंत खोटे झुकावों/वृत्तियों को पहले समाप्त हो जाना चाहिए – तब दूसरी सभी। प्रथम लोभ, तब भय, तब ईर्ष्या, सांसारिक गर्व, अनुदारता, घृणा; सबके अंत में

महत्वाकांक्षा और कुतूहल को क्रमशः अवश्य छोड़ना ही चाहिए। साथ ही साथ अधिक एथेरियल और मनुष्य के तथाकथित "आध्यात्मिक" हिस्सों को मजबूत करते रहना चाहिए। ज्ञात से अज्ञात का विचार और ध्यान का अभ्यास तथा प्रोत्साहन अवश्य करना चाहिए। ध्यान, अंतरीय मनुष्य की "असीमित की और बाहर जाने" के लिए अकथनीय तड़प है, जो पुराने काल में आराधना (या भक्ति) का वास्तविक अर्थ था, किंतु इसका नाम अब बिगाड़ कर प्रार्थना, स्तुति,और पश्चाताप के नाम से जाने हुए स्वांग का दिखावा कर दिया गया है। प्रशिक्षण की सभी स्तरों में से इस आश्वासन कि ब्रह्माण्ड में सभी ठीक है, तथा इसलिए इसके एक भाग के रूप में तुम्हारे साथ भी सब ठीक ही है – के साथ चेतना का संतुलन अवश्य बनाए रखना चाहिए। यदि संभव हो तो जीवन की प्रक्रिया में हड़बड़ी न करके उसको धीमा करना चाहिए; इसके विपरीत करने से दूसरों के लिए और कदाचित तुम्हारे लिए भी दूसरे आयामों में अच्छा हो सकता है, किंतु यह इसमें तुम्हारे विघटन को शीघ्रता से करेगा।

न ही इस प्रथम अवस्था में बाहरी चीजों की अनदेखी करना चाहिए। याद रखें कि, यद्यपि, एक सिद्ध व्यक्ति साधारण मन वालों को अस्तित्व में अमर होते हुए प्रतीत होते है, वे भी बाह्य माध्यमों से अभेद्य नहीं होते हैं। जीवन को लम्बा करने का प्रशिक्षण, स्वयं में, किसी को दुर्घटनाओं से सुरक्षित नहीं करता है। जहां तक कोई भौतिक तैयारी होती है, तलवार अभी भी काट सकती है, बीमारी प्रवेश कर सकती है, विष गड़बड़ी कर सकता है। सिद्ध व्यक्ति साधारण मनुष्यों की तुलना में साधारण खतरों से अधिक सुरक्षित हो सकता है, किंतु वह ऐसा अपने बेहतर ज्ञान, धीरज, शांत स्वभाव तथा गहरी सोच जो उसके लम्बे बने अस्तित्व तथा इसके आवश्यक सहवर्तिओं (concomitants) से योग्य बनकर प्राप्त हुए हैं, के कारण है; न कि स्वयं प्रक्रिया में किसी परिरक्षक (preservative) शक्ति के कारण।

वह एक खाली लंगूर की तुलना में राइफल लिए मनुष्य की तरह सुरक्षित है; इस भाव में सुरक्षित नहीं कि जैसे मनुष्य की तुलना में देवता सुरक्षित माने जाते हैं।

यदि ऐसा उच्च सिद्ध के लिए है, तो कितना अधिक आवश्यक है कि नौसिखिया को न केवल बचना चाहिए किंतु उसको स्वयं के लिए आवश्यक जीवन की अवधि को सुनिश्चित करके मृत्यु कही जाने वाली घटना पर विजय प्राप्त करने की प्रक्रिया को पूरा करने के लिए सभी संभव साधनों का उपयोग करना चाहिए। यह कहा जा सकता है कि उच्चतर सिद्ध लोग उसको क्यों नहीं बचाते? शायद वे कुछ हद तक करते हैं, किंतु बच्चे को, अकेले चलना सीखना चाहिए; उसको सुरक्षा के विषय में अपने प्रयासों में स्वतंत्र बनाने के लिए, नहीं तो उसके विकास के लिए एक आवश्यक तत्त्व – उत्तरदायित्व का भाव – नष्ट हो जायेगा। एक मनुष्य को यदि अचूक हथियारों से लैस करके और अभेद्य कवच पहनाकर युद्ध करने के लिए भेजा जाए तो उसमें किस साहस तथा व्यवहार को प्रकट करना होगा? इसलिए नौसिखिये को जहां तक संभव हो, आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा निर्धारित स्वास्थ्य संबंधी नियमों की प्रत्येक कसौटी को स्वयं पूरा करना चाहिए। शुद्ध वायु, शुद्ध पानी, शुद्ध भोजन, हल्का व्यायाम, नियमित दिनचर्या, सुखदायी व्यवसाय तथा परिवेश – ये सभी, यदि अपरिहार्य नहीं, तो कम से कम उसकी प्रगति में उपयोगी होंगे। कम से कम इनको सुनिश्चित करने के लिए ही, जितना अधिक हो सके नीरवता तथा एकांत के लिए, सभी युगों के देवताओं, ऋषियों, गुप्त विद्या के साधकों द्वारा गांव की निस्तब्धता में, ठंडी गुफाओं में, जंगलों की गहराइयों में, मरुस्थल के विस्तार में, या पर्वतों की ऊंचाइयों पर जितना संभव था, शरण लिया जाता था। क्या यह इस बात को नहीं सुझाता कि देवता लोग "ऊंचे स्थान" को सर्वदा पसंद किये; और यह कि पृथ्वी पर गुप्त भ्रातृ संघ

(Occult Brotherhood) की उच्चतम शाखा पृथ्वी के सबसे ऊंचे पर्वत पठार पर रहती है?

नौसिखिए को औषधियों की सहायता तथा अच्छे चिकित्सीय पथ्य का तिरस्कार नहीं करना चाहिए। वह अभी भी साधारण नश्वर (mortal) है, और उसको एक साधारण नश्वर के सहायता की आवश्यकता है।

"फिर भी, यदि मान लिया जाए कि सभी वांछित शर्तें या जिनको वांछित समझा गया है, पूरी कर ली गई हैं, तो अगला पद क्या है?" पाठक पूछेगा। यदि कोई स्वधर्म त्याग (backslidings) या असावधानी नहीं हुई है तो निम्नलिखित भौतिक परिणाम आएंगे :–

प्रथम, नौसिखिया आध्यात्मिक तथा शुद्ध चीजों में अधिक सुख अनुभव करेगा। उत्तरोत्तर रूप से अशिष्ट तथा पदार्थीय व्यवसाय न केवल उसको अरुचिकर या निषिद्ध हो जायेंगे, बल्कि सहजता से और अक्षरशः निषेधक (repulsive) होंगे। वह प्रकृति के सहज संवेदनाओं में अधिक सुख अनुभव करेगा – जैसा उसने एक बच्चे की तरह भावना का अनुभव किया रहा होगा। वह अधिक हल्के दिल का, आश्वस्त, प्रसन्न महसूस करेगा। उसको सावधानी रखनी पड़ेगी कि नवीनीकृत यौवन की संवेदना उसको भटकाएं नहीं, अन्यथा उसे अपने पुराने खोटे जीवन में तथा और अधिक रसातल में भी गिरने का खतरा होगा। "क्रिया और प्रतिक्रिया बराबर होते हैं।"

अब भोजन की इच्छा समाप्त होनी शुरू होगी। इसको धीरे-धीरे जाने दें – उपवास की आवश्यकता नहीं है। वह खाओ जिसकी तुम आवश्यकता अनुभव करते हो। अत्यंत सादा और साधारण भोजन ही रुचिकर लगेगा। प्रायः फल और दूध सर्वोत्तम लगेंगे। अब तक तुम अपने भोजन के गुण को

सरल करते रहे हो, धीरे-धीरे, और बहुत धीरे-धीरे – जैसा तुम अपने को इसकी मात्रा कम करने में सक्षम पावोगे। तुम पूछोगे कि "क्या एक मनुष्य बिना भोजन के रह सकता है?" नहीं, किंतु इसके पहले कि तुम हंसी उड़ाओ, इंगित प्रक्रिया की विशेषता पर विचार करो। यह एक कुख्यात तथ्य है कि निम्नतम तथा सरलतम कई जीवों में कोई मलत्याग नहीं होता है। सामान्य गिनी-कृमि इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण है। इसकी अंग प्रणाली बहुत जटिल होती है, किंतु इसमें कोई द्रवित नलिका (ejaculatory duct) नहीं होती। यह मानव शरीर के जो सभी तुच्छतम तत्त्व का उपभोग करता है, उसका इसके बढ़त तथा वंश-वृद्धि में उपयोग होता है। मानवीय तंतु में रहते हुए, यह कोई पचाया भोजन बाहर नहीं निकालता। मानव नौसिखिया अपने विकास के एक निश्चित स्तर पर कुछ उसी अनुरूप वाली अवस्था में होता है, इन अंतरों के साथ कि वह मलत्याग करता है किंतु अपने चर्म-कूपों में से, और पदार्थ के दूसरे एथेरियलीकृत कण उन्हीं चर्म-कूपों द्वारा, उसमें प्रवेश करते हैं, उसके संबल में योगदान करते हुए।* अन्यथा, सभी भोजन और पेय उसके भौतिक शरीर के उन "मोटे" हिस्सों, जो अभी भी रक्त के माध्यम से अपने छल्लीदार-बेकार अंश की मरम्मत के लिए बचे हैं, को संतुलन में रखने के लिए मात्र पर्याप्त है। बाद में, उसके ढांचे में कोष-विकास की प्रक्रिया में एक बदलाव आएगा; अधिक अच्छे के लिए एक बदलाव, इसके प्रतिकूल बीमारी में अधिक बुरे के लिए – वह सर्व जीवंत और संवेदनशील हो जाएगा तथा ईथर (आकाश) से पोषण प्राप्त कर लेगा। किंतु वह काल नौसिखिया के लिए अभी बहुत दूर है।

*वह संसार में जन्म के पूर्व एक भ्रूण की भौतिक अवस्था के समान अवस्था में है।

कदाचित, उस अवधि के आने के बहुत पहले, अदीक्षित के लिए दूसरे, अविश्वसनीय की अपेक्षा कम आश्चर्यजनक नहीं, परिणाम नौसिखिया को उसके कठिन कार्य में साहस तथा ढाढ़स देने के लिए आ गए होंगे। एक निर्दोष और शुद्धता के जीवन द्वारा प्रदत्त सुख और संतुष्टि जिसको सैकड़ों लेखकों ने (इसके वास्तविक मूल कारण की अज्ञानता में) बताया है, को दुहराना एक स्वयंसिद्ध सत्य ही होगा। किंतु प्रायः प्रक्रिया के प्रारम्भ में ही, नौसिखिया द्वारा बिना आशा तथा बिना विचार किए, कुछ वास्तविक भौतिक परिणाम घटित होते हैं। कुछ दीर्घकालीन रोग, जो अभी तक निराशाजनक लगता था, उपकारक मोड़ ले सकता है; या उसके स्वयं में उपचारिक मेस्मेरिक (mesmeric) शक्ति विकसित हो सकती है; अथवा उसके इन्द्रियों में अभी तक अज्ञात कुछ तीक्ष्णता आकर उसको हर्ष दे सकती है। इन चीजों का औचित्य न तो चमत्कार होता है, न ही समझने में कठिन है। प्रथमतः, जीवनीप्रद ऊर्जा की दिशा में अचानक बदलाव (जिसको, उसे और उसके स्रोत को हम चाहे किसी भी दृष्टि से देखें, दर्शन के सभी सम्प्रदायों ने अत्यंत गूढ़ तथा प्रेरक शक्ति की तरह माना है) से कुछ प्रकार का परिणाम अवश्य उत्पन्न करेगा। दूसरे, जैसा पहले कहा जा चुका है, थिऑसोफी यह दिखाती है कि एक मनुष्य में, एक-दूसरे में व्याप्त कई मनुष्य होते हैं, और इस दृष्टिकोण से, यह स्वाभाविक है कि उनमें से सघनतम और अत्यंत ठोस को उत्तरोत्तर एथेरियलीकरण करने से, दूसरे मनुष्य (शरीर) अक्षरशः अधिक स्वतंत्र हो जाते हैं।

किंतु महान रहस्य का दूसरा हिस्सा है जिसका हम प्रसंगवश उल्लेख करते हैं, और जिसको अब एक लम्बे युगों की श्रृंखला में, पहली बार संसार को देने की आज्ञा मिली है, क्योंकि अब इसके लिए समय आ गया है।

शिक्षित पाठक को फिर से यह याद दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि महान अन्वेषणों में से एक जिसने डार्विन का नाम अमर कर दिया, वह नियम है कि एक अंग प्रणाली में अपने जनक के कार्य को, अपने जीवन के समरूप अवधि में, जीवन के माप से निकटता के अनुपात में अधिक निश्चित और पूर्णता के साथ, दोहराने की प्रवृत्ति सर्वदा होती है। इसका एक परिणाम होता है, कि, सामान्यतः, संगठित प्राणी आमतौर पर (औसतन) अपने जनक की जैसी अवधि पर मरते हैं। यह सही है कि किसी प्रजाति के अलग-अलग व्यक्ति के मरने की वास्तविक आयु में बड़ा अंतर होता है। ऐसा करने में मुख्य घटक रोग, दुर्घटनाएं तथा अकाल होते हैं। किन्तु, प्रत्येक प्रजाति में, एक सुपरिचित सीमा होती है जिसके अन्दर प्रजाति-जीवन (Race-life) होता है, और यह नहीं जाना जाता कि कोई भी उस सीमा से अधिक जीवित रह सके। यह नियम मानव प्रजाति और किसी अन्य प्रजाति पर भी लागू होता है। अब, यदि यह माना जाए कि सभी स्वास्थ्य की शर्तें पूरी कर ली गई हैं, तथा औसत ढांचे वाले एक व्यक्ति द्वारा प्रत्येक दुर्घटना और रोग से अपना बचाव कर लिया गया है, फिर भी कुछ विशेष मामले में, जैसा कि चिकित्सक जानते हैं, कि एक समय आता है जब शरीर के कण उस अनुवांशिक प्रवृत्ति, जो अनिवार्य रूप से विघटन को ले जाएगी, का अनुभव करेंगे तथा उस प्रवृत्ति का पालन करेंगे। किसी भी मननशील व्यक्ति को यह स्पष्ट होगा कि, यदि किसी प्रक्रिया द्वारा इस महत्त्वपूर्ण संकटकाल से एक बार पूरी तरह गुजर जाया जाए, तो आगामी "मृत्यु" का खतरा उसी अनुपात में कम होगा जितने वर्ष आगे बढ़े हैं। इसको कोई साधारण मन और बिना तैयार मन तथा शरीर नहीं कर सकता है, किंतु कभी-कभी ऐसा दृढ़ इच्छा शक्ति तथा विशेष रूप से तैयारी किए व्यक्ति के ढांचे के लिए संभव होता है। अनुवांशिक झुकाव को अनुभव करने के लिए मोटे कण कम संख्या में उपस्थित हैं – प्रबलित (reinforced) "अंतरीय मनुष्यों" (जिनकी सामान्य

अवधि स्वाभाविक मृत्यु में भी हमेशा अधिक बड़ी होती है) की सहायता दृष्य बाह्य खोल को उपलब्ध है, तथा सम्पूर्ण को दिशा देने और उपयोग करने के लिए अभ्यास की हुई एवं अदम्य इच्छा शक्ति भी है।

इस संबंध में हम यह भी देख सकते हैं कि आधुनिक विज्ञान तथा विशेष रूप से मनोविज्ञान मानवीय इच्छा शक्ति के बारे में क्या कहते हैं।

"दीर्घ आयु को निर्धारित करने में इच्छा शक्ति का बल एक प्रबल फलदायक तत्त्व है। बिना किसी बहस के इस एक बिंदु को मानना पड़ेगा कि प्रत्येक ढंग से समान तथा समरूप परिस्थितियों में रह रहे दो व्यक्तियों में वह एक जो अधिक साहस तथा धैर्य वाला है, अधिक लंबी आयु का होगा। यह सीखने के लिए किसी को चिकित्सा शास्त्र का अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं है – कि मनुष्य जो मर जाते हैं, जीवित रह सकते थे यदि वे जीने का संकल्प कर लिए होते, और यह कि असंख्य जो अशक्त हैं, सशक्त हो सकते हैं यदि ऐसा प्रण करने के लिए उनके पास जन्मजात या अर्जित इच्छाशक्ति हो। वे जिनके पास जीवन के लिए उपकारक (favorable) कोई दूसरा गुण नहीं है, जिनके शारीरिक अंग लगभग सभी रोग ग्रस्त हो गए हैं, जिनका प्रत्येक दिन दर्द का दिन है, जो जीवन को क्षीण करने वाले प्रभावों से घिरे हुए है, फिर भी वे केवल दृढ़ संकल्प शक्ति द्वारा जीवित रहते हैं।" – डॉक्टर जॉर्ज एम. बेयर्ड।

उस समय से आगे, आकांक्षी का मार्ग अधिक स्पष्ट होता है। उसने "देवढ़ी के निवासी" (the Dweller of the Threshold) – अपने प्रजाति के अनुवांशिक शत्रु – को विजित कर लिया है, और निर्वाण की ओर जाने में यद्यपि अभी भी हमेशा नए खतरों का सामना होगा, वह विजय से प्रफुल्लित है, तथा नए आत्मविश्वास और उसको अनुमोदित करने वाली नई शक्ति के साथ, वह परिपूर्णता की ओर आगे बढ़ सकता है।

क्योंकि यह याद रखना चाहिए कि प्रत्येक जगह प्रकृति नियम द्वारा कार्य करती है, और यह कि शुद्धिकरण की प्रक्रिया, जिसका दृश्य भौतिक शरीर में वर्णन किया गया है, अंतरीय शरीरों में भी होती है, हालांकि यह वैज्ञानिक को नहीं दिखाई देती। सभी परिवर्तन पर है, अधिक एथेरियल शरीरों का कायापलट (metamorphoses), ठोस शरीर की वृत्ति का अनुकरण करता है, यद्यपि क्रमिक रूप से बढ़ी अवधि में, आसपास के ब्रह्माण्ड के साथ अधिक विस्तृत क्षेत्र के संबंधों को प्राप्त करते हुए, उस बिंदु तक जब अत्यंत विरल हुई वैयक्तिकता, अंत में निर्वाण में अनंत समग्रता (INFINITE TOTALITY) में विलीन हो जाती है।

ऊपर वर्णित प्रक्रिया से, यह अनुमान किया जा सकता है कि क्यों "सिद्ध" लोग साधारण जीवन में कदाचित ही देखे जाते हैं; क्योंकि, उनके शरीरों के एथेरियलीकरण तथा उनकी शक्तियों के विकास के साथ ही, उनमें साधारण सांसारिक जीवन के चीजों के लिए बढ़ती हुई अरुचि, और एक तरह से "घृणा" उत्पन्न होती है। जैसे एक भगोड़ा (fugitive) जो अपने भागने में क्रमिक रूप से, सबसे भारी सामग्री से आरम्भ कर के, उन सामग्री को फ़ेंक देता है जो उसकी प्रगति में रुकावट पैदा करते हैं, उसी तरह "मृत्यु" को टालने का आकांक्षी वह सब त्यागता है जिस पर मृत्य की पकड़ बन सकती है। निषेध (negation) की प्रगति में प्रत्येक छोड़ दी गई चीज एक सहायता होती है। जैसा पहले कहा गया कि सिद्ध लोग "अमर" नहीं बन जाते, उस अर्थ में जिसमे यह सामान्यता समझा जाता है। उस समय, जब उसकी प्रजाति की मृत्यु-सीमा को पार कर लिया जाता है, तब या लगभग तब तक, वह वास्तव में सामान्य भाव में मर गया होता है, अर्थात उसने स्वयं को सभी या लगभग सभी ऐसे पदार्थीय कणों जो मरने की व्यथा में विघटन को मजबूर किये होंगे, से अलग कर लिया है। अपनी दीक्षा के सम्पूर्ण अवधि में वह धीरे-धीरे मर रहा था। विनाश दो बार नहीं हो सकता। उसने विघटन

की सौम्य प्रक्रिया को कई वर्षों तक केवल फैला दिया है, जिसको दूसरे लोग एक संक्षिप्त क्षण से कुछ घंटों तक ही सहते हैं। वास्तव में उच्चतम सिद्ध, संसार के लिए मरा हुआ, तथा संसार के प्रति बिल्कुल अचैतन्य है; जहां तक भावुकता जा सकती है, वह इसके सुखों से बेखबर, इसके संतापों से बेपरवाह होता है क्योंकि कर्त्तव्य का दृढ़ भाव उसको इसके अस्तित्व के प्रति कभी भी अंधा नहीं करता है। क्योंकि विस्तृत क्षेत्र को खुलती हुई नई एथेरियल इन्द्रियां हमारी इन्द्रियों के लिए संबंध में उसी तरह हैं जैसे अनंत से हमारा संबंध अल्प है। नई इच्छाएं और आनंद, नए खतरे और नई रुकावटें, नई संवेदनाओं तथा नई अनुभूति के साथ और दूर धुंधलके में, उठती हैं – अक्षरशः तथा रूपक दोनों भावों में – हमारी गंदी छोटी पृथ्वी उनके द्वारा नीचे छोड़ दी जाती है जो वास्तव में "देवताओं से जुड़ने के लिए चले गए हैं"।

यह पूछा जा सकता है कि जीवन के सभी सुखों के इस स्वनिषेध, सांसारिक रुचियों को उदासी से छोड़ देने, अप्राप्त प्रतीत होने वाले अज्ञात लक्ष्य की ओर खींचने, के बदले में उसे क्या मिलता है? ... इसका केवल यह दोहरा उत्तर दिया जा सकता है: (प्रथम) शक्ति का भान स्वयं में अत्यंत उत्तम सुख है, और आगे की प्रगति में नए साधनों से इसका प्रयोग निरंतर आनंद देता है, और (द्वितीय) जैसा पहले कहा जा चुका है – केवल यही मार्ग है जिसके द्वारा क्षीणतम वैज्ञानिक संभावना है कि "मृत्यु" को टाला जा सकता है, सतत स्मृति प्राप्त की जा सकती है, असीम प्रज्ञता या बुद्धिमत्ता प्राप्त हो सकती है, और इसलिए मानव जाति की बहुत बड़ी सहायता करना संभव होता है, जब एक बार सिद्ध मनुष्य ने घुमाव बिंदु को सुरक्षापूर्वक पार कर लिया है। भौतिक और पराभौतिक तर्क इस तथ्य को आवश्यक मानता है और पुष्टि करता है कि केवल धीरे-धीरे अनंत में अवशोषित होते हुए ही, भाग सम्पूर्ण को जान सकता है, और यह कि जो अभी कुछ चीज है उसका केवल अनुभव कर सकता है, जान सकता है, तथा प्रत्येक चीज का आनंद ले

सकता है जब वह उस अपरिवर्तनीय वृत्त के भंवर में परम समग्रता (Absolute Totality) - जिसमें हमारा ज्ञान अज्ञान बनता है और प्रत्येक चीज स्वयं में कुछ नहीं (NOTHING) से पहचानी जाती है - में खो जाता है।

क्या "जीवित रहने" की इच्छा स्वार्थ है?

इस "जीवन का अमृत" लेख में लिखे अनुच्छेद "जीना, जीना, जीना ही – अडिग संकल्प होना चाहिए" पर प्रायः सतही और बिना समझे पाठक बहस करते हैं कि गुह्य विद्या की शिक्षाएं स्वार्थपरता की अत्यंत केन्द्रीभूत रूप हैं। यह निर्णय करने के लिए कि इस तरह के आलोचक सही या गलत हैं, "स्वार्थपरता" का अर्थ जांचना होगा।

एक स्थापित प्राधिकारी (established authority) के अनुसार, स्वार्थपरता है: "एक व्यक्ति द्वारा एकमात्र अपना ही लाभ या प्रसन्नता देखना; वह परम स्वप्रेम या स्व-प्राथमिकता जो उस व्यक्ति को केवल अपने लाभ, शक्ति, या प्रसन्नता को बढ़ाने के प्रयोजन की ओर ले जाती है, बिना दूसरों की कोई परवाह किए।"

संक्षेप में, एक परम स्वार्थी व्यक्ति वह है जो केवल अपनी परवाह करता है, किसी अन्य की नहीं, या, दूसरे शब्दों में, एक व्यक्ति जो इतना अधिक अपने व्यक्तित्व के महत्व में डूबा है कि उसके लिए वही सभी विचारों, इच्छाओं और आकांक्षाओं का शीर्ष है, तथा जिसके परे पूरा रिक्त है। तब क्या एक गुप्त विद्याविद (occultist) को "स्वार्थी" कहा जा सकता है जब वह जीने की इच्छा इस भाव से करता है जिससे वह शब्द इस लेख "जीवन का अमृत" में प्रयोग किया गया है? यह बारंबार बताया गया है कि गुप्त ज्ञान के प्रत्येक आकांक्षी का अंतिम लक्ष्य निर्वाण या मुक्ति है, जब एक

अलग व्यक्ति सभी माया की उपाधियों से मुक्त हो कर परमात्मा के साथ एक हो जाता है। उस उद्देश्य के लिए, माया का प्रत्येक पर्दा जो व्यक्तिगत अलगाव का भाव, सब (THE ALL) से पृथकता की भावना पैदा करता है, उसको अलग करके फाड़ देना ही चाहिए, या दूसरे शब्दों में, आकांक्षी को धीरे-धीरे स्वार्थपरता के सभी भाव, जिससे हम सभी कम या अधिक प्रभावित होते हैं, को त्याग देना चाहिए। ब्रह्माण्डीय विकास के नियम का अध्ययन हमको सिखाता है कि जितना अधिक उच्च विकास, उतना अधिक यह एकात्मकता (unity) की ओर पहुंचता है। वास्तव में प्रकृति की परम संभावना एकात्मकता है, और वे लोग जो घमंड तथा स्वार्थपरता से उसके उद्देश्यों के विपरीत जाते हैं, केवल विनाश का दंड ही पाते हैं। इस प्रकार गुप्त विद्याविद जानता है कि निःस्वार्थपरता तथा सार्वभौमिक परोपकार की भावना हमारे अस्तित्व के अंतर्निहित नियम हैं, और हमारे ऊपर माया द्वारा बनाई हुई स्वार्थपरता की जंजीरों को नष्ट करने के लिए वह पूरा प्रयत्न करता है। अच्छाई और बुराई, ईश्वर और शैतान, सुर और असुर, देव और दैत्य के बीच संघर्ष, जिसका वर्णन सभी राष्ट्रों और प्रजातियों के पवित्र ग्रंथों में किया गया है, वह निःस्वार्थ और स्वार्थ के आवेगों के बीच युद्ध का प्रतीक है, जो युद्ध उस एक मनुष्य के अन्दर होता है जो प्रकृति के उच्चतर उद्देश्यों का अनुसरण करता है तब तक जब स्वार्थपरता से बनी निम्न पाशविक वृत्तियां पूरी विजित हो जाती हैं, तथा शत्रु को सर्वथा हरा कर मिटा दिया जाता है। विभिन्न थिऑसोफिकल और अन्य गुह्य लेखनों में यह प्रायः बताया गया है कि एक साधारण मनुष्य जो ब्रह्माण्डीय विकास की कार्यप्रणाली में प्रकृति के साथ काम करता है और एक गुप्त विद्याविद के बीच अंतर यह है, कि गुप्त विद्याविद अपने श्रेष्ठतर ज्ञान द्वारा प्रशिक्षण तथा अनुशासन की ऐसी विधियां अपनाता है जो विकास की उस प्रक्रिया को तेज करती हैं, और इस प्रकार वह अपेक्षाकृत कम समय में शीर्ष पर पहुंचता है जहां पहुंचने में साधारण

मनुष्य को शायद अरबों वर्ष लग जाएंगे। संक्षिप्त में, कुछ हजार वर्षों में ही वह उस प्रकार के विकास पर पहुंचता है, जहां सामान्य मानवता मन्वंतर के छठे या सातवें परिक्रमा काल में पहुंचेगी। यह साफ है कि एक औसत मनुष्य एक जीवन में या एक जन्म में महात्मा नहीं बन सकता। अब वे लोग जो देवाचन और मृत्यु के बाद की स्थितियों से सम्बंधित गुप्त शिक्षाओं का अध्ययन किए हैं, याद करेंगें कि दो पुनर्जन्मों के बीच आत्मनिष्ठ अस्तित्व की एक बड़ी अवधि होती है। ऐसी देवाचनिक अवधियों की संख्या जितनी अधिक होगी, उतना ही विकास होने में, वर्ष अधिक लगेंगे। इसलिए गुप्त विद्याविद का मुख्य उद्देश्य है अपने को इस तरह नियंत्रित करना कि वह अपने भविष्य की अवस्थाओं को नियमित (regulate) करे, और उसके द्वारा दो पुनर्जन्मों के बीच के देवाचनिक अस्तित्व को छोटा करे। उसकी प्रगति की कार्यप्रणाली में एक ऐसा समय आता है जब एक भौतिक मृत्यु और उसके अगले पुनर्जन्म के बीच कोई देवाचन नहीं होता, किंतु एक प्रकार की आध्यात्मिक सुषुप्ति, या ऐसा कहें कि मृत्यु के धक्के से अवाक होकर एक अचेतावस्था में पड़ता है, जिससे वह धीरे-धीरे वापस होता है और अपने प्रयोजन को जारी रखने के लिए स्वयं को पुनर्जन्म लिया पाता है। इस सुषुप्ति की अवधि, उसकी उन्नति के स्तर पर निर्भर होकर कर, पच्चीस से दो सौ वर्षों तक भिन्न हो सकती है। किन्तु इस अवधि को भी समय की एक बर्बादी ही कहा जा सकता है, और इसलिए उसका सारा परिश्रम इस अवधि को इतना छोटा कर देने में निर्देशित होता है जिससे धीरे-धीरे एक ऐसा बिंदु आता है जब अस्तित्व की एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाने का आभास लगभग नहीं होता। उसका यह अंतिम जन्म होता है, या यों कहा जाए कि, मृत्यु का धक्का उसको अब अवाक नहीं करता है। इसी विचार को "जीवन का अमृत" लेख का लेखक बताना चाहता है जब वह कहता है:

उस समय या लगभग उस समय जब प्रजाति के मृत्यु की सीमा लांघ ली जाती है, वह साधारण भाव में वास्तव में मर गया है, अर्थात, उसने अपने को ऐसे सभी पदार्थीय कणों से मुक्त कर लिया है, जो मरने की व्यथा विघटन को मजबूर किए होते। वह अपनी दीक्षा की पूरी अवधि में धीरे-धीरे मरता रहा। विनाश दो बार नहीं हो सकता, उसने केवल विघटन की मंद प्रक्रिया को कई वर्षों में विस्तृत किया है, जिसको दूसरे लोग एक लघु क्षण से कुछ घंटों में ही सहते हैं। उच्चतम सिद्ध मनुष्य, वास्तव में, संसार के प्रति मरा हुआ तथा पूर्ण अचेत होता है; वह उसके सुखों से बेखबर, उसके कष्टों से बेपरवाह है, जहां तक भावुकता जा सकती है, क्योंकि कर्त्तव्य का भाव उसके अस्तित्व के प्रति उसे कभी अंधा नहीं छोड़ता।

जैसा इस लेख और अन्य कृतियों में बताया गया है कि गुप्त विद्याविद परमाणुओं के उत्सर्जन तथा आकर्षण की प्रक्रिया को नियंत्रित करता है। इस साधन द्वारा वह अपने शरीर के सभी पुराने मोटे कणों से धीरे-धीरे छुटकारा पा जाता है, और उनकी जगह अधिक महीन तथा अधिक एथेरियल कणों को रखते हुए, तब तक जब अंत में पहले वाला स्थूल शरीर पूरी तरह मृत और विघटित हो गया है, और वह अपने कार्य के लिए उपयुक्त पूरी तरह अपने द्वारा निर्मित शरीर में रहता है। वह शरीर उसके प्रयोजनों के लिए आवश्यक है; जैसा "जीवन का अमृत" कहता है :–

जैसा प्रत्येक अन्य चीज में, अच्छा करने के लिए, एक मनुष्य के पास समय तथा कार्य करने की सामग्री उपलब्ध होनी चाहिए, और यह उन शक्तियों, जिनके द्वारा असीम अच्छाई की जा सकती है, को प्राप्त करने का साधन है। जब इनमें एक बार प्रवीणता हो जाती है, तो उनको उपयोग करने के अवसर आते हैं।

उस प्रयोजन के लिए व्यावहारिक निर्देश देते हुए लेख आगे बताता है:–

भौतिक मनुष्य को अधिक एथेरियल तथा संवेदनशील; मानसिक मनुष्य को अधिक मर्मज्ञ तथा गहन; नैतिक मनुष्य को अधिक स्व-निषेधी तथा दार्शनिक अवश्य बनाना चाहिए।

प्रत्येक सिद्ध मनुष्य उचित स्तर पर अपने निर्धारित कार्य को हम सभी के आध्यात्मिक उत्थान के लिए करते हैं – और लेख में वर्णित दीर्घायु की प्रक्रिया उस लक्ष्य के लिए केवल साधन है, इसलिए यह प्रक्रिया बिल्कुल ही स्वार्थपूर्ण न होकर अत्यंत निःस्वार्थ और परोपकारी उद्देश्य के लिए है, जिसके लिए एक मनुष्य परिश्रम कर सकता है।

(एच. पी. ब्लावत्सकी की पुस्तक *Five Years of Theosophy* के लेख *The "Elixir of Life"* की सामग्री से)

ध्यान – वैज्ञानिक और व्यावहारिक समझ

ध्यान और इसका उद्देश्य

अधिकतर लोग जानते हैं कि ध्यान के अभ्यास से भावना और मानसिक स्तर पर कई लाभदायक प्रभाव होते हैं और साथ ही भौतिक शरीर में भी लाभ का अनुभव किया जाता है। मोटे तौर से ध्यान के दो स्तर हैं – आध्यात्मिक ध्यान और सामान्य ध्यान। आम तौर पर लोग जानना चाहते हैं कि ध्यान कैसे करें, लेकिन ध्यान क्या है यह समझे बिना यह सीखना असंभव है कि ध्यान कैसे किया जाता है। वर्तमान समय में "ध्यान" शब्द का अलग–अलग लोगों के लिए अलग-अलग अर्थ है। कुछ लोग इसका उपयोग तुच्छ और यहां तक कि बेतुकी चीजों को दर्शाने के लिए करते हैं। ध्यान क्या है इसे जानने का कारण परोपकारी होना चाहिए। ऐसा कारण मानव मन को प्रबुद्ध (enlighten) करने और उस अंधकार तथा अज्ञान को दूर करने के लिए होना चाहिए जिसके तहत वह अब लिपटा हुआ है। हमें अपने मन की नहीं, बल्कि मानवीय मन (Human Mind) की प्रबुद्धता की चिंता करनी चाहिए।

आध्यात्मिक ध्यान का अभ्यास करने से पहले उस व्यक्ति को यह निर्णय करना चाहिए कि ध्यान से उसको जो क्षमताएं मिलेगी उनका वह किस लिये उपयोग करेगा। यदि केवल अपने स्वार्थ के लिए उपयोग करना है तो यह अच्छा है कि ऐसे ध्यान का अभ्यास न किया जाए। दूसरी और यदि उसका यह उद्देश्य है कि प्राप्त क्षमताओं का मानवता के कल्याण के लिए उपयोग करेगा तो उसको गंभीरतापूर्वक ध्यान का अभ्यास प्रारंभ कर देना चाहिए।

कभी-कभी किसी को शब्द की उत्पत्ति के अर्थ के बारे में अंतर्दृष्टि मिल सकती है। अंग्रेजी शब्द meditation लैटिन से आया है, जहां यह क्रिया *meditari* से लिया गया है, जिसका अर्थ है 'बार-बार ठीक करना।' इसका संबंध medical एवं *medicine* शब्द से है। शब्द का इंडो-यूरोपीय मूल *med* है, जिससे ग्रीक क्रिया *medesthai* भी आती है, जिसका अर्थ है 'सावधान रहना' या 'सचेतन रहना' और अंग्रेजी शब्द *meet* का अर्थ है 'परिस्थितियों और आवश्यकताओं के लिए सटीक रूप से अनुकूलित', जैसा कि धार्मिक वाक्यांश में है 'मिलें, ठीक, और हमारा परम कर्त्तव्य।' ये व्युत्पत्ति संबंधी तथ्य ध्यान के बारे में चार विचारोत्तेजक बातें प्रकट करते हैं।

सबसे पहले, ध्यान हमारी बीमारियों को ठीक करने की एक प्रक्रिया है – न कि, या कम से कम मुख्य रूप से, हमारे शरीर की बीमारियों को नहीं – बल्कि हमारे मन की बीमारियों को दूर करने की। यह हमें स्वस्थ बनाने के लिए आध्यात्मिक ध्यान है। मजे की बात है कि अंग्रेजी के शब्द *heal*, *health*, *whole*, और *holy* भी एक ही मूल से बने हैं। जब हम संपूर्ण (whole) होते हैं, या समूचा होते हैं और खंडित नहीं होते, तो हम शरीर में स्वस्थ और आत्मा में पवित्र होते हैं। और salvation, जो आत्मबोध या मुक्ति के लिए पश्चिमी शब्द है, जिसकी ओर ध्यान ले जाता है, एक लैटिन शब्द से आया है जिसका अर्थ है 'स्वस्थ' (healthy), ग्रीक शब्द *holos,* 'whole' और संस्कृत शब्द *सर्व* से संबंधित है जिसका अर्थ है 'संपूर्ण' या 'समूचा'। ध्यान हमारी बीमारियों को ठीक करने, उपचार की प्रक्रिया है, जो हमें संपूर्ण (*whole*) बनाती है।

दूसरा, ध्यान ऐसी प्रक्रिया नहीं है जो केवल एक बार होती है और जिसे कभी दोहराने की आवश्यकता नहीं होती। व्याकरणविद् लैटिन क्रिया (verb) *meditari*, जिससे *meditation* आता है, को एक 'बारंबार'

क्रिया कहते हैं, यानी एक क्रिया जो बार-बार या आवर्ती कार्य को व्यक्त करती है। अत: इसका अर्थ केवल 'ठीक करना' नहीं, बल्कि 'बार-बार ठीक करना' है।

तीसरा, ध्यान, जैसा कि ग्रीक क्रिया *medesthai* से पता चलता है, किसी चीज़ के प्रति सचेत रहने की एक प्रक्रिया है। सही सचेतनता या स्मरण (स्मृति) बुद्ध द्वारा सिखाए गए महान आठ आयामी पथ के चरणों में से एक है। और प्लेटो ने पूर्ववत 'स्मरण' या 'स्मृति' की उस प्रक्रिया के रूप में बात की जिसके द्वारा हम अपनी भूलने की बीमारी से उबरते हैं: हम भूल गए हैं कि हम कौन हैं और हम यहां क्यों हैं? ध्यान, जिसका अर्थ है सचेत रहना और स्मरण करना, वह तरीका है जिससे हम उस सबसे महत्वपूर्ण तथ्य को याद करते हैं।

चौथा, ध्यान हमारे जीवन में सभी चीजों को – हमारी परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरूप – ठीक से बनाने की प्रक्रिया है। ध्यान संसार से विमुख होना नहीं है, न ही इसके अभ्यास के लिए यह आवश्यक है कि हम विमुख हों। एच. पी. ब्लावत्सकी की, आध्यात्मिक जीवन के लिए मार्गदर्शक पुस्तक *दि वॉयस ऑफ दि साइलेन्स* में, दो मार्गों की पहचान की गई है: आंख का खुला सिद्धांत और हृदय का गुप्त सिद्धांत। ध्यान एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा मन को 'हीरक जीवात्मा', हमारे वास्तविक स्वरूप, की ओर आकर्षित किया जाता है, वह दोनों मार्गों पर लागू होता है। यह बहुत अनुकूल, सही और हमारा परम कर्त्तव्य है कि हमें सब समय और सभी स्थानों पर यह याद रखना चाहिए कि हम कौन हैं और हम यहां क्यों हैं। ध्यान जीवन जीने में एक सहायक है, उससे पलायन में नहीं (*Living Theosophy* by John Algeo)।

ध्यान को विभिन्न आयामों में समझा जा सकता है। मूलतः यह मन

को शांत करना और एक शांति तथा निस्तब्धता की अवस्था बनाना है। ध्यान परिपूर्ण शांति है – शरीर का मौन, वाणी का मौन और मन का मौन। इस प्रकार का ध्यान सांसारिक जीवन के लिए भी लाभदायक है। आध्यात्मिक ध्यान का अभ्यास, अपने निम्न स्वभाव का अपने उच्च स्वभाव के प्रकाश में अध्ययन करना और उसको उच्च स्वभाव के साथ समरसता में लाना है। यह एकाग्रता और मनन है। यह अपने अहं को त्यागना है और अपने अंतरीय स्व से एक होना है और उस अंतरीय स्व द्वारा सभी जीवन के साथ एक होना है। ध्यान एक संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ है गति का बंद होना, एकाग्रता। एक ढंग से यह मन को, इंद्रियों की शक्तियों से मुक्त करना है और अन्य विचार-धाराओं से अलग करके एक विचार-धारा को उठाना है। ध्यान एक अच्छा लाभदायक प्रयास है जो एक महान उद्देश्य की ओर ले जाता है। यह व्यक्तिगत विचार का विनाशक भी होता है।

ध्यान के दो पक्ष हैं – मन को शांत करना और अपने को स्वयं के अस्तित्व की जड़ तथा स्रोत के अन्दर केंद्रित करना। मन को शांत करने का अर्थ है कि मन में जो लगातार विचारों की धाराएं प्रवाहित होती हैं, जो मन से ही प्रवाहित होती प्रतीत होती हैं, उनको हटा देना। यह करने का एक उपयोगी तरीका है कि अपने को प्रकृति के साथ अनुभव करने का प्रयास किया जाए। तब जब विचार आएंगे तो उनको केवल एक निरपेक्ष भाव से देखा जाए, उन में उलझा न जाए तथा अन्य सह विचारों पर न खिंचा जाय। ध्यान हमारी स्वाभाविक गहनतम अवस्था है – हमारी शुद्ध चेतना – जिसको हम अनुभव करते हैं जब हमारे मन का व्यस्त होना बंद हो जाता है; यह हमारे लिए कठिन मालूम होता है क्योंकि यह 'कुछ नहीं करना' है – यह केवल 'होना है' जो हम हैं।

ध्यान, योग-विज्ञान का अभिन्न अंग है और यह स्वयं में एक योग है।

यह मन की गहराई और चौड़ाई को बढ़ाना है और तब यह पूरे विश्व को आलंगित करने के लिए सक्षम हो जाता है।

योग की एक पहली आवश्यकता है कि अपने आंतरिक जीवन की वास्तविकता और शक्ति की अधिक समझ प्राप्त किया जाए। आध्यात्मिक स्तर के ध्यान में अटूट चेतना का कार्य होना चाहिए, जिसमें जो विचार उत्पन्न होते हैं वे चेतना की शांति और एकता की अवस्था को बाधित नहीं करते हैं, साथ ही इसकी ऊर्जा प्रकाश की तरह विकिरित होती हुई और इसके क्षेत्र में जो भी आता है उसको प्रकाशित कर देती है।

एनी बेसेंट ने कहा, "जीवात्मा के लिए ध्यान वही है जो शरीर के लिए भोजन है।" एक अन्य स्थान पर वह कहती है, "ध्यान मन को स्थिर शांत रूप से ईश्वर पर जमाना है, जिससे निम्न मन शांत हो जाता है और वर्तमान में रिक्त छोड़ दिया जाता है, ताकि जीवात्मा, इससे पलायन कर, दिव्य परिपूर्णता के मनन में उठता है, और अपने भीतर दिव्य छवि प्रतिबिंबित करता है।"

एच. पी. ब्लावत्सकी *दि की टू थिऑसोफी* में कहती हैं, "ध्यान मौन या *अनकही* (*unuttered*) प्रार्थना है, या, जैसा कि प्लेटो ने व्यक्त किया है: 'जीवात्मा का परमात्मा की ओर उत्कट मोड़; स्वयं के लिए कोई विशेष अच्छा नहीं मांगना (जैसा कि प्रार्थना के सामान्य अर्थ में) किंतु स्वयं अच्छा के लिए – 'सार्वभौमिक सर्वोच्च अच्छा' के लिए।'"

एच. पी. ब्लावत्सकी ने यह भी कहा, "ध्यान अनंत के लिए आंतरिक स्व की अवर्णनीय लालसा है।"

जे. एल. वेजवुड कहते हैं, "ध्यान में – जाग्रत चेतना में, यानी मन को

उसकी सामान्य गतिविधि की स्थिति में, परम-चेतना (superconsciousness) की कुछ अनुभूति लाने का प्रयास – शामिल है। ... यह मन और भावनाओं का आदर्श की ओर तक पहुंचना, और बंदी निचली चेतना के दरवाजों का उस आदर्श के प्रभाव के लिए खुलना है।"

ध्यान का उद्देश्य व्यक्तिगत मन की ध्रुवीयता (polarity) में परिवर्तन करना है, ताकि अब से यह भावनाओं और इंद्रियों के प्रति स्वतः से अनुक्रियाशील (responsive) न हो, बल्कि स्वाभाविक रूप से, प्रोत्साहन और दिशा के लिए, दिव्य स्व – सभी का मूल – की ओर मुड़ जाता हो।

ध्यान प्रज्ञा प्रथा के महान सिद्धांतों को समावेशन की प्रक्रिया है ताकि वे हमारे हिस्से बन जाएं और केवल मानसिक अमूर्तता या कपोल-कल्पना न रहें।

ध्यान में कोई समय नहीं होता है, क्योंकि इस स्तर पर चेतना की अवस्थाओं का कोई अनुक्रमण (succession) नहीं होता।

आध्यात्मिक स्तर के ध्यान का उद्देश्य है – आत्मानुभति, आत्म-बोध, स्व-रूपांतरण। एक संत के शब्दों में, 'हमें वह बनना है जो हम हैं', हमें अपने अन्दर दिव्य स्व को खोजना है और उसके साथ एक होना है। इस प्रकार ध्यान का अंतिम उद्देश्य वही होता है जो योग का होता है, अपने व्यक्तिगत स्व के द्वारा अपने वृहत्तर स्व का अनुभव, एकत्व का अनुभव करना जिसको हम ईश्वर या प्रकृति या परम वास्तविकता की तरह सोच सकते हैं और उसके साथ एक हो जाना। जब उसे प्राप्त किया जाता है और समझा जाता है तब एक और अधिक खोज हमारी प्रतीक्षा करती है। यह है कि अपने गहनतम स्व के साथ एक होने पर हम रहस्यमय रूप से सभी दूसरे जीवित प्राणियों और चीजों के गहनतम स्व के साथ एक हो जाते हैं।

पतंजलि के *योगसूत्र* के अनुसार, 'पुरुष' अपने स्वरूप में स्थापित हो जाता है।

ध्यान के इन गुणों को मन की प्रकृति तथा उसमें निहित प्रक्रिया की उचित वैज्ञानिक समझ द्वारा और तब उस प्रक्रिया को चैतन्य रूप से अपना करके ही प्राप्त किया जा सकता है।

हमारे मन के दो पंख हैं – विचार और भावना। सामान्यत: ये दोनों पंख दैनिक जीवन की वस्तुओं और घटनाओं की ओर केंद्रित होकर उनके चारों तरफ घूमते रहते हैं। ध्यान, इन दोनों पंखों को स्वतंत्र कर देने, उनकी मजबूती से वृद्धि की एक विधि है, जिससे एक दिन वे 'अकेले से **अकेले** की ओर' अपदार्थीय उड़ान भर सकें।

ध्यान जिसका हम चैतन्य रूप से अभ्यास करने का प्रयत्न करते हैं वह शुद्ध प्रकृति – जो हमारे अस्तित्व का आधार, सही आधार है – के असली ध्यान के लिए केवल एक तैयारी है। ध्यान चेतना की सीमाओं को तोड़ देता है; यह विचार द्वारा उत्पन्न सोचने और भावना की प्रक्रिया को तोड़ देता है।

बुद्ध का अष्टांग मार्ग इंगित करता है कि ध्यान पूर्ण जागृति, प्रज्ञा की स्थिति की ओर ले जाता है। "बुद्ध" शब्द का अर्थ है "जागृत"। यह उस व्यक्ति को संदर्भित करता है जिसकी चेतना स्वप्न, अकर्मण्यता, तंद्रा, आलस्य की स्थिति में नहीं है, अपने आप पर ही सीमित नहीं है, बल्कि जो पूरी तरह से जागृत है, जिसका अर्थ है कि इसमें असाधारण स्पष्टता और महान गहराई है और यह किसी भी प्रकार के परिसीमन से ग्रस्त नहीं है। न केवल बाहरी रूप और बाहरी अस्तित्व के प्रति, बल्कि आंतरिक प्रकृति, आंतरिक अस्तित्व के प्रति भी पूरी तरह से जागृत, जागरूक, संवेदनशील होना – सीखना ही ध्यान है। ध्यान कोई ऐसी दिनचर्या नहीं है जिसे करना है,

और फिर दैनिक जीवन में स्वार्थ तथा तुच्छता की ओर केवल लौटना है।

हम इस पर थोड़ा विचार कर सकते हैं कि जागृत होने का क्या अर्थ है। स्व की प्रकृति ही चेतना है। यह चेतना, शुद्ध, असीम जागरूकता है – जो विभिन्न वाहनों या शरीरों को अपने पास ले लेती है। चेतना शब्द का अर्थ ही जागरूक होना है। सही जीव, भीतर का स्व, अचेतन नहीं है; यह जागरूकता, सर्वोच्च बुद्धिमत्ता (प्रज्ञान) है। इसलिए, जागृत होना सच्चे स्व की खोज के समान है, और ध्यान आंतरिक अस्तित्व की खोज है।

विकासवादी प्रक्रिया में चेतना का जागरण बाहरी उत्तेजना (stimulation) के माध्यम से होता है। लेकिन एक अवस्था आ जाती है जब चेतना को बिना किसी उत्तेजना के जागृत रहना पड़ता है, और 'घर' वापसी की यात्रा शुरू हो जाती है। आध्यात्मिक मार्ग पर चलने के इच्छुक किसी भी मनुष्य के सामने सबसे बड़ी चुनौती यह है कि क्या वह बिना उत्तेजना के जागृत रह सकता है? ध्यान उन सभी अनुभवों, जो भविष्य के पुनर्जन्मों के माध्यम से आएंगे और जो बाहर से उत्तेजना लाएंगे, की प्रतीक्षा किए बिना जागरूक होना सीखना है।

हमें यह समझना चाहिए कि कोई मृत पदार्थ नहीं है। सब कुछ चेतना है, ऊर्जा जो चेतना है।

जागृत होने का अर्थ है, न केवल बाहरी, बल्कि आंतरिक, सार के प्रति जागरूक होना; न केवल रूप का, बल्कि *आत्मा* का, गहराई में मूलभूत स्वभाव का भी। जागृति, स्पष्टता की एक अवस्था है। यह कोई अस्पष्ट धारणा नहीं है, बल्कि बड़ी गहराई और तीक्ष्ण स्पष्टता है।

जिद्दू कृष्णमूर्ति के वर्णनों से कुछ बिंदु

- ध्यान जीवन की महानतम कलाओं में से एक – कदाचित महानतम कला है, और एक व्यक्ति किसी दूसरे से संभवतः यह सीख नहीं सकता। ध्यान किसी भी जगह हो सकता है।
- ध्यान एक कठिन कार्य है – इसमें उच्चतम अनुशासन की आवश्यकता होती है जो लगातार सजगता से आती है।
- एक सदाचारी जीवन की नींव डाले बिना, ध्यान केवल एक पलायन हो जाता है और उसका कोई मूल्य नहीं होता है – सदाचारी जीवन, सामाजिक नैतिकता का अनुसरण करना नहीं है, किंतु ईर्ष्या, लालच और शक्ति की लालसा – जो सभी शत्रुता उत्पन्न करती है, उन सभी से स्वतंत्रता है।
- ध्यान प्रेम की गति है।
- ध्यान दैनिक जीवन से कोई भिन्न चीज नहीं है।
- ध्यान किसी उद्देश्य के लिए साधन नहीं है – यह साधन और उद्देश्य दोनों है।
- ध्यान सांसारिक ज्ञान में इधर उधर घूमते हुए और उससे स्वतंत्र होते हुए एक अज्ञात में प्रवेश करना है।
- ध्यान मन की एक अवस्था है जिसमें कोई धारणा या सूत्र नहीं होता और इसलिए पूर्ण स्वतंत्रता है – केवल एक ऐसे मन में ही बिना खोजे और बिना आमंत्रित किए आनंद आता है।
- ध्यान यह देखना है कि 'क्या है' और उसके परे जाना है। ध्यान की अनुभूति में कोई वस्तु नहीं होती है और इसलिए कोई अनुभव नहीं होता।
- ध्यान कभी भी समय में नहीं है; और समय कभी भी उत्परिवर्तन (mutation) नहीं ला सकता।

- ध्यान आनंद के लिए एक व्यक्तिगत मामला नहीं है – इसका अर्थ है मन और हृदय का पूर्ण और मौलिक परिवर्तन। ध्यान समझ का पुष्पीकरण है – यह छुपी और खुली चेतना की समझ है, और एक ऐसी गति है जो सभी विचार और भावनाओं से परे होती है।
- ध्यान मन में एक प्रकाश है जो कार्य के मार्ग को प्रकाशित करता है और जिस प्रकाश के बिना कोई प्रेम नहीं होता।
- ध्यान कुछ शब्दों का, कुछ प्रार्थनाओं का बार-बार उच्चारण करना नहीं है।
- ध्यान ऊर्जा की पूरी उन्मुक्ति है।
- प्रेम का पुष्पीकरण ध्यान है।
- ध्यान वास्तव में बहुत सरल होता है, हम लोग उसके चारों तरफ विचारों का एक जाल बुनकर उसको जटिल कर देते हैं।
- ध्यान अज्ञात पर और उसकी गति है।
- एक ऐसा मन जो पूर्णतया मौन हो उसका ध्यान एक आशीर्वाद होता है जिसको मनुष्य सर्वदा ढूंढ रहा है – उस मौन में मौन के प्रत्येक गुण होते हैं। ध्यान मौन का कार्य है।
- ध्यान का न कोई आरंभ और न ही कोई अंत होता है; इसमें कोई सफलता या असफलता नहीं होती, कुछ प्राप्त करना या त्यागना नहीं होता है। यह अंतहीन गति है, इसलिए समय और स्थान से ऊपर है।
- ध्यान, विचारों से स्वतंत्रता है; और सत्य के परमानंद में एक गति है।
- ध्यान मन की एक ऐसी अवस्था है जो प्रत्येक चीज की संपूर्णता को देखता है न कि उसके हिस्सों को।

- ध्यान एक विनाश है; या उन लोगों के लिए खतरा है जो एक सतही जीवन और काल्पनिक तथा मिथकीय जीवन जीने की इच्छा रखते हैं। ध्यान जो मृत्यु लाता है वह नवीन की अमरता से संबंधित होता है।

जिद्दू कृष्णमूर्ति ने कहा है, "सचेत ध्यान, ध्यान नहीं है। सही ध्यान है – दैनिक जीवन में शुद्ध, यथार्थ और सही जीवन जीना जहां पर कोई संघर्ष नहीं होता है, जहां पर संसार में सभी प्राणियों के प्रति स्नेह, दायित्व की भावना होती है – इसलिए एक दूसरे का कोई प्रभुत्व या शोषण नहीं होता। इसलिए ध्यान कभी सचेत रूप से नहीं हो सकता।" हमारे पूरे जीवन को ध्यान का एक कार्य बन जाना होता है।

ध्यान को कभी मन का एक बंधा बंधाया कार्य नहीं बनने देना चाहिए। यह मन की आदतन अवस्था बन जाना चाहिए जिसमें मन स्वाभाविक रूप से वापस आकर अंतरीय जीवन की वास्तविकता पर विचार करे, जब भी वह बाह्य सांसारिक कार्यों से स्वतंत्र हो।

इसलिए अपने पूर्ण और व्यावहारिक आयाम में – ध्यान, एक अचेतन (unconscious) अभ्यास हो जाता है या दूसरे शब्दों में एक प्रयासहीन, विकल्पहीन सजगता का ध्यानपूर्ण जीवन होता है। तब ध्यान होता है, इसका अभ्यास करना नहीं होता है।

ध्यान क्या नहीं है?

- सम्मोहन।
- काल्पनिक अर्थात पारलौकिक धारणाएं।
- ध्यान में शरीर को छोड़ना।

- व्यक्तिगत अर्थ में जो हम चाहते हैं उसको प्राप्त करने का मार्ग।
- संगीत को सुनना, यद्यपि संगीत एक तैयारी की प्रक्रिया हो सकती है।
- भावनाओं की क्रिया, यद्यपि ध्यान भावनाओं को अधिक प्रभावित करता है।
- सोचना – शब्दों या चित्रों के रूप में विचारों की श्रृंखला के अर्थ में।
- एकाग्रता – यद्यपि एकाग्रता आवश्यक है।

ध्यान की तैयारी एवं उसका अभ्यास

ध्यान जीवात्मा की उच्चतम क्रिया है और उचित सतत तैयारी के बिना, इसको अव्यवस्थित रूप से तथा संयोगवश नहीं किया जा सकता है।

एक गहरे विचार की ओर आदतन झुकाव और यदि संभव हो तो कुछ निश्चित धैर्यपूर्वक अध्ययन से ध्यान के अभ्यास में अर्द्धचेतन रूप से अधिकतम सहायता मिलती है।

ध्यान के अभ्यास में नियमित होना महत्वपूर्ण है। एक छोटी अवधि, जैसे बीस मिनट के लिए प्रतिदिन ध्यान करना अधिक अच्छा है इसकी तुलना में कि एक दिन 1 या 2 घंटे का ध्यान किया जाए और अगले कुछ दिनों में कोई ध्यान नहीं किया जाए। प्रारंभ में उसी स्थान और उसी समय में प्रतिदिन ध्यान करना सहायक होगा। उचित सुखासन में सिर और रीढ़ की हड्डी को सीधा रखते हुए, स्नायु और शरीर को विश्राम की अवस्था में रखना आवश्यक है। गरिष्ठ भोजन के बाद ध्यान बिल्कुल न करें। कुछ क्षणों के लिए पढ़ने और विचार के बाद धीरे-धीरे ध्यान शुरू करें और ध्यान समाप्त होने के बाद धीरे-धीरे वापस आ जाएं और आंख खोल लें तथा कुछ क्षणों

तक शांत और स्थिर बने रहे। एच. पी. ब्लावत्सकी ने अपने अंतरीय समूह को को दी गई शिक्षाओं में बताया कि ध्यान के लिए प्रातःकाल सूर्योदय का समय सर्वोत्तम है, या सूर्योदय के बाद विषम (odd) घंटे। कभी भी सूर्योदय के बाद सम (even) घंटों को न लें, सर्वदा विषम घंटे (सूर्योदय के बाद तीसरा, या पांचवां) ही लें, देवों के घंटे। रात का समय ध्यान के लिए ठीक नहीं होता क्योंकि हमारा शरीर थका रहता है। ध्यान में सिर नहीं ढका होना चाहिए। समाधि में यह ढका होता है (*Esoteric Instructions*, पृ. 296-297)।

ध्यान में अवरोध

बाह्य अवरोध – घर में उचित स्थान न होना, घर के अन्य सदस्यों का दृष्टिकोण, दैनिक व्यवसाय आदि।

आंतरिक अवरोध – मानसिक अवस्थाएं जैसे पश्चाताप, उत्सुकता, चिंता, स्वप्रेम, शोक, विषाद, आतुरता इत्यादि।

सिद्धांतों का जीवन जीते हुए, दूसरों के प्रति सद्भावना के साथ, स्व-अतिभोग (self indulgence) को शुद्ध करते हुए, आसक्ति-रहित होते हुए और अपने परम प्रिय पर सोचते हुए और उससे भी महत्वपूर्ण है, *अभ्यास* तथा *वैराग्य* द्वारा इन आंतरिक अवरोधों को हटाया जा सकता है।

ध्यान के प्रकार – संक्षिप्त विवरण के साथ

ध्यान एक व्यक्तिगत चीज है और प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी विधि प्राप्त कर अपनाना चाहिए जो उसके लिए सर्वोत्तम है। जितने विभिन्न स्वभावों, रुझानों और वृत्तियों के स्त्री-पुरुष हैं, उतने ही अधिक प्रकार की ध्यान की विधियां हो सकती हैं। एक व्यक्ति अपनी वर्तमान मानसिक अवस्था के अनुसार एक विशेष विधि को चुन सकता है और बाद में अपनी

आंतरिक मानसिक अवस्था में बदलाव के अनुसार ध्यान की विधि को बदल सकता है।

सभी विधियों में पवित्र शब्द या कुछ गहरे सांसों द्वारा ध्यान शुरू किया जा सकता है जिससे मन और शरीर स्थिर हो जाएं।

ध्यान की कुछ महत्वपूर्ण विधियां निम्न प्रकार की है :

1. शरीरों पर ध्यान

यह किसी मंत्र जैसे, "असतो मा सदगमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतम गमय।" से प्रारम्भ किया जा सकता है। तब शरीरों और उनकी क्रियाओं से स्वयं का निषेध करते हुए स्वयं को वास्तविक दिव्य आत्मा, अन्दर की आत्मा कहना।

2. ध्यान का आह्वान

मैं समग्र रूप से प्रेम, आनंद और शांति का केंद्र बनूं।
असतो मा सदगमय – मुझे असत्य से सत्य की ओर ले चलो।
तमसो मा ज्योतिर्गमय – मुझे अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलो।
मृत्योर्मा अमृतम गमय – मुझे नश्वरता से अमरता की ओर ले चलो।

3. एक ही विचार पर ध्यान

एक ही विचार पर धैर्यपूर्वक ध्यान केंद्रित करने से प्रज्ञा की प्राप्ति होती है। ... उच्च स्व की ओर आकांक्षा दैनिक ध्यान का हिस्सा होनी चाहिए; हमारे अस्तित्व के उच्चतर स्तरों की ओर बढ़ना, *जो तब तक नहीं*

पाया जा सकता जब तक कि उनके लिए प्रयास न किया जाए (*A Book of Quotations* – Robert Crosbie, पृ. 38-39)।

4. प्रेम और सद्भावना पर ध्यान

प्रेम और सद्भावना के अपने केंद्र को सभी प्राणियों – घर में, नगर में, देश में, संसार में, विश्व में, स्वर्ग संसार में तथा ईश्वर तक – तक धीरे धीरे विस्तृत करते हुए।

5. सदगुणों पर ध्यान

हर माह में एक गुण – जैसे स्थिरता, दृढ़ता, निःस्वार्थता, करुणा, सहानुभूति, शिष्टता, प्रसन्नता, धैर्य, वाणी पर नियंत्रण, साहस, विवेक और उदारता – पर ध्यान।

6. बुद्ध के चार ध्यान

मैत्री (प्रेम), करुणा, मुदिता (हर्ष) और उपेक्षा (समत्व) पर ध्यान।

7. महात्मा, ईसा मसीह, बुद्ध, कृष्ण आदि की प्रकृति पर ध्यान

8. जागरूकता (Awareness) द्वारा ध्यान

ध्यान भावनाओं और विचारशील मन के प्रति जागरूक होने, मन को स्थिर करने और स्व जो जागरूक है उसके प्रति जागरूक होने से किया जाता है।

9. योगसूत्र में ध्यान चरण

योग मन के परिवर्तनों को रोकना है।

योग के आठ अंग: पांच बाह्य अंग – संयम (यम); पालन (नियम); अंग-विन्यास (आसन); प्राणशक्ति को संरेखित (align) करना (प्राणायाम); इन्द्रियों को अंतर्मुखी करना (प्रत्याहार)।

तीन आंतरिक अंग: एकाग्रता (धारणा); ध्यान; पर्यवेक्षक की अनुपस्थिति, वास्तव में चेतना की गहरी परतों में गोता लगाने की एक प्रक्रिया (समाधि)।

ज्ञान का प्रकाश (प्रज्ञा) तब प्रकट होता है जब चेतना आवरण से मुक्त हो जाती है।

10. एच. पी. ब्लावत्सकी द्वारा ध्यान का आरेख (Diagram)

पहले आकाश में विस्तार और समय में अनंत द्वारा एकता पर विचार करें। फिर चेतना की अवस्थाओं के संदर्भ में इस पर ठीक से और लगातार ध्यान करें। तब चेतना की सामान्य स्थिति को इसके द्वारा ढाला जाना चाहिए। इसमें तीन अर्जन (Acquisition) और पांच वंचन (Deprivation) हैं।

11. हृदय के विस्तार और शुद्धि के लिए थोड़ा सा ध्यान

आंखें बंद कर लें। मन में किसी अति प्रिय व्यक्ति/वस्तु के चेहरे का चित्रण करें। अपने हृदय को दीप्त होने दें और अपने संपूर्ण स्व को उस

प्राणी/वस्तु की ओर जाने दें। अपने आस-पास के आभामय वातावरण को गुलाबी रोशनी से चित्रित करें और अपनी संपूर्ण आभा को दीप्त और विस्तृत होती हुई कल्पना करें। फिर पदार्थ की वस्तुओं को अपने प्रिय की वस्तुओं से प्रतिस्थापित करो। फिर दूसरों की जिनसे आप प्यार करते हैं या जिनकी सहायता करेंगे। किसी फूल, दृश्य आदि पर खुली आंखों से ध्यान करें। जीवन का गीत सुनें।

12. सचेतनता (mindfulness) के साथ ध्यान

दिनभर प्रत्येक गतिविधि में सचेतन रहना – स्वयं की नियमित गतिविधियों के द्वारा अन्य प्राणियों और चीजों के साथ अंतर्संबंध करते समय, तथा स्वयं की सामान्य गतिविधियों के दौरान मन में उठने वाले विचारों, भावनाओं और कार्यों के सभी अनुभूतियों को निरपेक्ष रूप से बिना किसी निर्णय और विश्लेषण इत्यादि के दृष्टा भाव से देखते रहना। इस प्रकार एक ध्यानमय (meditative) जीवन जीना।

तब ध्यान केवल किसी निश्चित समय की सामान्य गतिविधि नहीं रह जाना चाहिए।

13. प्रातः और सायं कुछ मिनटों का लघु ध्यान

प्रातः उठते ही, बिस्तर पर बैठें और कुछ मिनटों के लिए – परम (Supreme) का ध्यान करें, और गुरु का भी – इस मायावी दुनिया में उनके काम की नलिका (या माध्यम) बनने की कामना करें, एक अच्छा काम करने का संकल्प लें, सभी प्राणियों को शुभ विचार भेजें।

रात्रि में सोने जाने से पहले – रात्रि के उस समय से प्रातः तक दिन भर में किए गए सभी कार्यों (भौतिक, भावना और विचार के) का शीघ्रता से

पुनर्विलोकन करें, गलत कार्यों को पहचानें, अगले दिन ऐसा न दोहराने के लिए कहें – किंतु किसी भी पश्चाताप की भावना के बिना – सभी प्राणियों को शुभ विचार भेजें।

14. कुछ प्रकार के ध्यान विशेष उद्देश्य के लिए होते हैं

जैसे – वैराग्य विकसित करने के लिए और डर से मुक्त होने के लिए – श्मशान स्थल पर, स्वयं की बीमारी पर, वृद्धावस्था और मृत्यु इत्यादि पर, सांसारिक घटनाओं की अनित्यता की वास्तविकता इत्यादि पर ध्यान।

15. समूह ध्यान

अलग-अलग प्राणियों, दूसरे समूह और पूरी दुनिया में प्रेम और शांति के विचार भेजने के लिए समूह ध्यान का भी अभ्यास किया जाता है।

ध्यान में निहित अंतरीय प्रक्रिया

ध्यान की प्रक्रिया, हमारी भावनामय और मानसिक शरीरों को संगठित और विकसित करने के दृढ़ उद्देश्य से एक विचारपूर्ण निश्चित और वैज्ञानिक विधि है। यह प्रक्रिया भावनाओं और विचारों द्वारा धीरे-धीरे होती है, किंतु ठीक और नियमित ध्यान से परिणाम को शीघ्र लाया जा सकता है। ये शरीर अपनी संरचना के पदार्थों के अनुरूप आवृतियों से लगातार कम्पन करते रहते हैं। जब हम संकल्प (या दृढ़ इच्छा) शक्ति द्वारा मन को शांत करने का प्रयत्न करते हैं या उत्तम विचार पर मनन करते हैं, तब मानसिक शरीर के कंपन की विशेषताओं अर्थात उनकी आवृत्ति (frequency) और आयाम (amplitude) में बदलाव होता है जो उच्च आवृत्ति और छोटे

आयाम के बनते हैं। तब मानसिक शरीर का मूल मोटा पदार्थ प्रत्युत्तर में समसामयिक रूप से कंपन करने में अक्षम होता है, इसलिए यह ढीला हो जाता है और उस शरीर से बाहर फेंक दिया जाता है तथा उसके स्थान पर बाहर से मानसिक स्तर के ऐसे सूक्ष्म पदार्थ आ जाते हैं जो चेतना द्वारा प्रभावित कंपन की आवृत्ति के अनुरूप होते हैं। इस प्रकार मानसिक शरीर पुनः निर्मित होता है। चूंकि सभी शरीर एक दूसरे में प्रवेशित होते हैं, मानसिक शरीर के कंपन की विशेषताओं में परिवर्तन से नीचे की ओर भावना शरीर और ऊपर की ओर उच्च मन या कारण शरीर के कंपनों की आवृत्ति और आयाम भी प्रभावित होकर बदलते है। उसी प्रक्रिया से भावना शरीर का मोटा पदार्थ ढीला होकर बाहर निकलता है और बाहर से भावना स्तर का समुचित सूक्ष्म पदार्थ उस शरीर से जुड़ता है। नियमित और ठीक ध्यान के अभ्यास से एक अवधि के बाद इन शरीरों में उनके मोटे पदार्थ की जगह समुचित सूक्ष्म पदार्थ पक्की तरह जुड़ जाते हैं। इस प्रकार ये दोनों शरीर रूपांतरित होते हैं जिसके परिणाम स्वरूप ये खराब विचारों और खराब भावनाओं का प्रत्युत्तर देने में कम सक्षम और फिर अक्षम हो जाते हैं। और साथ ही उत्तम विचारों और उत्तम भावनाओं का प्रत्युत्तर देने में अधिक सक्षम हो जाते हैं। स्वप्न अच्छे हो जाते हैं या एकदम समाप्त हो जाते हैं। लिंग शरीर और भौतिक शरीर भी उसी तरह से प्रभावित होते हैं किंतु चूंकि भौतिक शरीर अधिक स्थूल होता है इसलिए साथ ही इसको हमें हल्के और सात्विक भोजन देने की भी आवश्यकता होती है। परिणाम स्वरूप जो परिवर्तन होते हैं उससे लिंग शरीर प्राण शक्ति के सुगम प्रवाह का एक वाहन हो जाता है और भौतिक शरीर हल्का, फुर्तीला, कम थकने वाला बनता है तथा कुछ शारीरिक व्याधियां भी ठीक या कम होने लगती हैं। मानसिक शरीर के सूक्ष्म कंपन ऊपर की ओर चलकर कारण शरीर को भी प्रभावित करते हैं, उसकी विशेषताओं को उसी ढंग से परिवर्तित करते हुए। कारण

शरीर अधिक प्रत्युत्तर देने में सक्षम हो जाता है – जिससे कभी-कभी बचपन की विस्मृत स्मृतियां या पिछले जन्मों की स्मृतियां भी प्रकट होती है। भौतिक शरीर की मृत्यु के बाद कारण शरीर जब देवाचन में रहता है तब वह गत जीवन के उत्तम विचारों को अधिकता से अपने अन्दर समाहित करता है, जिससे कारण शरीर अधिक विकसित और अच्छी क्षमता का बनता है और फिर अगले जीवन में अधिक क्षमता, आंतरिक शक्ति और बुद्धिमत्ता होती है। इस प्रकार नियमित और उचित ध्यान से मनुष्य स्वयं को एक अधिक अच्छा मानव बनाते हुए परिपूर्णता के लक्ष्य की ओर बढ़ता है।

ध्यान के परिणाम

किसी व्यक्ति को ध्यान के परिणाम स्वरूप स्वयं अपने लिए मानसिक और भावनात्मक अलौकिक शक्तियों, आनंद या प्रसन्नता की इच्छा नहीं होनी चाहिए, यद्यपि ये उचित समय में अपने आप आते हैं।

जब तक जीवन में किसी माप तक व्यवस्था और समरसता नहीं होती, जिसका अर्थ है स्वयं में शांति नहीं होती, तब तक एक प्रभावशाली और स्वयं के लिए संतोष पूर्ण जीवन जीना संभव नहीं है। ध्यान एक ऐसे माप की व्यवस्था और समरसता लाने में सहायक होता है।

ध्यान को कार्य से अलग नहीं किया जा सकता। लोग जानना चाहते हैं कि क्या वे ध्यान में सफल हुए हैं। यह किसी गुरु द्वारा आपको बताने की आवश्यकता नहीं है। यदि आप स्वयं को एक गहरे तथा अधिक गहरे स्तर पर हर चीज के साथ अधिक सामंजस्यपूर्ण होते हुए पाते हैं, जैसे-जैसे आप उस सामंजस्य में स्थिर होते जाते हैं, तो वह स्वयं-स्पष्ट प्रगति है। *भगवद् गीता* में कहा गया है कि बुद्धिमान व्यक्ति अचल होता है या वह ज्ञान में स्थापित (स्थितप्रज्ञ) होता है। वह महत्व और सामंजस्य के उस गहन स्तर में इतना

स्थापित है कि कोई भी उसे विचलित नहीं कर सकता है और प्रत्येक चीज जो वह करता है, वह सही कार्य होता है। संघर्ष में रहते हुए एक कोने में बैठकर 'ध्यान' करना और यह कल्पना करना कि एक व्यक्ति चेतना के उच्च स्तरों पर पहुंच गया है, का कोई अर्थ नहीं है। अधिक गहरे या उच्चतर स्तरों – गहरा और ऊंचा दोनों का अर्थ है अधिक आध्यात्मिक – का वास्तविक ज्ञान जीवन और संबंध को भिन्न बनाता है और सभी कार्यों को सही, प्रेमपूर्ण कार्य बनाता है। यही प्रज्ञा है। सच्चे अर्थों में ध्यान ऐसे प्रज्ञा की ओर ले जाता है।

ध्यान के नियमित अभ्यास के परिणाम होते हैं – धीरे-धीरे चरित्र का गहराना और शुद्ध होना; दृष्टिकोण का विस्तृत, उदार और शुद्ध होना; गरिमा और शक्ति में वृद्धि और साथ ही दूसरों की आवश्यकता के प्रति अत्यधिक संवेदनशील और सहानुभूतिपूर्ण प्रत्युत्तर – सही ध्यान से ये चारित्रिक गुण उत्पन्न होते हैं। हम अपने संकल्प शक्ति में एक अनुशासन, एक प्रकाशित मन, एक प्रज्ज्वलित हृदय भी देख सकते हैं और तब हम सही मार्ग पर हैं।

ध्यान जीवन की अंतरीय और उच्च स्तरों को वस्तुनिष्ठ करता है और उच्चतर वास्तविकताओं को हमारे लिए जीवंत बनाता है। हम उस स्तर पर देख, सुन और अनुभव करने लगते हैं जहां तक हमारे भौतिक शरीर और भौतिक इंद्रियां नहीं उठ सकते और अंत में, परम हर्ष के साथ – **हम जानते हैं।**

यह जीवात्मा का विकास होता है और प्रायः अन्दर के सभी विकासों का योग होता है। केवल स्वयं का निरीक्षण किया जा सकता है किंतु बहुत जल्दी-जल्दी नहीं। दूसरों के साथ तुलना की संस्तुति नहीं की जाती है।

किसी अंग की भौतिक गति से पहले सर्वदा कोई न कोई विचार, यहां तक कि सूक्ष्म भी, होता है। किसी अंग, मान लीजिए हाथ, की ऐसी किसी भी गति से पहले उत्पन्न विचार द्वारा, पीनियल ग्रंथि की आभा में अपने रंग के साथ कंपन उत्पन्न होता है। पीनियल ग्रंथि की यह स्पन्दनशील आभा शरीर के विभिन्न अंगों में कंपन पैदा करती है जिससे उनका अपकर्ष (degeneration) होता है जो बुढ़ापे (ageing) की प्रक्रिया का कारण है। मस्तिष्क में कंपन होने लगता है और फिर कंपन पूरे शरीर में फैल जाता है। प्रसन्नता और दर्द शक्तिशाली कंपन पैदा करते हैं और ये शरीर को थका देते हैं। प्रसन्नता और दर्द के शक्तिशाली कंपन मनुष्य की जान भी ले सकते हैं। नियमित ध्यान के अभ्यास के कारण, विचारों की उत्पत्ति कम हो जाती है और व्यक्ति समत्व (equanimity) में – दर्द और प्रसन्नता के प्रति उदासीन रहता है। इसलिए पीनियल ग्रंथि की आभा में कंपन भी कम हो जाता है, जिससे शरीर में कंपन और उसका अपकर्ष कम हो जाता है, जिससे बुढ़ापे की प्रक्रिया धीमी हो जाती है। यह कारक, ध्यान करने वाले व्यक्ति के शरीर को अधिक स्वस्थ रखने में भी सहायक होता है।

आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधान के कुछ परिणाम

ध्यान का प्रभाव अच्छे डीएनए को उत्पन्न करके और उनको फिर से बना कर भौतिक शरीर की मरम्मत करके और कायाकल्प करते हुए उसको स्वस्थ रखता है। गहरे ध्यान की अवस्था में मस्तिष्क 4-12 किंतु अधिकतर 7-8 हर्ट्स की विद्युत-चुम्बकीय तरंगे (जिनको थीटा और अल्फा तरंगे कहा जाता है) उत्पन्न करता है।

अधिकतर वैज्ञानिक अध्ययन, ध्यान का सीधा प्रभाव डीएनए और जीन पर दिखाते हैं, ध्यान तेलोमेरेस (telomerase) प्रक्रिया को बढ़ाकर

बुढ़ापे की प्रक्रिया को धीमा करता है। तेलोमेरेस एक एंजाइम है जो डीएनए की मरम्मत करता है। क्रोमोसोम में बार बार बनने वाले डीएनए की टोपी होती है जिसको तेलोमरिस (telomeres) कहा जाता है, वैसे ही जैसे जूते के फीते के किनारों पर धातु की एक टोपी होती है। उनका काम क्रोमोसोम को क्षरण होने से बचाना है – जिसका अर्थ है यह जींस को क्षरण से बचाते हैं क्योंकि जींस क्रोमोसोम में बंद होते हैं। प्रत्येक बार जब कोशिकाओं का विभाजन होता है, उनके तेलोमरिस छोटे हो जाते हैं। जब तेलोमरिस छोटे हो जाते हैं और अलग होकर गिर जाते हैं तब कोशिकाएं अपने को फिर नहीं बना सकती – यही है जिसको हम कोशिका की मृत्यु कह सकते हैं। इसके परिणाम स्वरूप बुढ़ापे की प्रक्रिया होती है। इस प्रकार बुढ़ापे की प्रक्रिया को तेज या धीमा करना तेलोमरिस पर निर्भर होता है। ध्यान तेलोमेरेस एंजाइम की क्रिया को बढ़ाने में सहायक होता है, तेलोमर टोपी को मजबूत करता है और उनके छोटे होने को रोकता है। इससे बुढ़ापे की प्रक्रिया धीमी हो जाती है।

हार्वर्ड विश्वविद्यालय के एक दूसरे अध्ययन में देखा गया कि ध्यान, जींस पर सीधा प्रभाव डालता है, उनकी क्रिया को बंद करके, भावना और भौतिक तनावों द्वारा उत्पन्न मुक्त कणों (free radicals) के खराब प्रभावों का प्रतिरोध करता है।

वर्ष 2008 में रिचर्ड जे डेविडसन और उनके समूह ने विस्कोंसिन – मैडिसन विश्वविद्यालय में एक फ्रांसीसी बौद्ध भिक्षु मैथ्यू रिकॉर्ड जो आण्विक जीव वैज्ञानिक हैं तथा कुछ और बुद्ध भिक्षुओं को शामिल कर प्रयोग करके अध्ययन का परिणाम प्रकाशित किया। इन वैज्ञानिकों ने लंबे समय से ध्यान का अभ्यास करने वाले 8 बौद्ध भिक्षुओं और 10 स्वैच्छिक छात्रों के सिर में 128 EEG (electroencephalography) इलेक्ट्रोडों के साथ स्कलकैप

लगाए। बौद्ध भिक्षुओं को ध्यान द्वारा 'विशुद्ध प्रेम, उदारता और करुणा' की अवस्था प्राप्त करने को कहा गया जबकि स्वैच्छिक छात्रों को यह कहा गया कि वे किसी ऐसे व्यक्ति जिसको वह चाहते हैं उसकी और सभी प्राणियों की भलाई के लिए अपने मन में गहरा भाव उत्पन्न करें। ध्यान के साथ ही बौद्ध भिक्षुओं में गामा बैंड (25 से 42 कम्पन प्रति सेकंड) के उच्च आवृत्ति की ईईजी (EEG) विद्युत क्रिया देखी गई जो उनके मस्तिष्क के बाहरी आवरण के सामने और बगल के हिस्सों में समरसता में थी। ऐसी क्रिया अत्यन्त क्रियाशील और फैले हुए न्यूरॉन्स के समूहों का नमूना (hallmark) सोची जाती है जो विशेष तौर से केंद्रित ध्यान के साथ होती है। वास्तव में इन भिक्षुओं में गामा क्रिया गैर-रोग की परिस्थितियों में अधिकतम, छात्रों की तुलना में 30 गुना अधिक देखी गई। इस प्रकार छात्रों और भिक्षुओं के बीच एक बड़ा अंतर देखा गया, भिक्षुओं में करुणा ध्यान की अवधि में गामा तरंगों द्वारा मस्तिष्क में उच्च आवृत्ति की क्रिया में अत्यधिक बढ़त देखी गई। एक और अधिक महत्वपूर्ण बात हुई कि जब भिक्षु ध्यान नहीं कर रहे थे, केवल सहज रूप से विश्राम कर रहे थे तब भी उनके मस्तिष्क की आधार क्रिया छात्रों की तुलना में एकदम अलग थी। अर्थात बौद्ध भिक्षु जो लंबे समय से ध्यान का अभ्यास करके मन – जो मस्तिष्क का अंतरीय आयाम है – को शांत, केंद्रित और विस्तृत कर रहे थे, उससे उनके मस्तिष्क – जो मन का बाहरी आयाम है – में बदलाव आया। जो भिक्षु जितना अधिक ध्यान का प्रशिक्षण किए थे उनमें उतना ही अधिक प्रभाव देखा गया। जब वैज्ञानिकों ने ऐसे बौद्ध भिक्षुओं के मस्तिष्क और नए ध्यान के अभ्यासकर्ताओं को जांचा तो पाया कि भिक्षुओं में मस्तिष्क का वह हिस्सा जो समानुभूति और प्रसन्नता से संबंधित होता है, स्पष्ट रूप से अधिक विकसित था।

यह सभी अनुसंधान प्रयोगों द्वारा दर्शाते हैं कि ध्यान का मनुष्य के शरीर के कोषों के स्तर पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है लेकिन उसकी ठीक

प्रक्रिया अभी भी अज्ञात है। प्रक्रिया की ऐसी पहेली की चाभी खोजने के लिए और अधिक अनुसंधान चल रहे हैं।

यह तो प्रयोगसिद्ध तथ्य है कि ध्यान एक व्यक्ति में तंत्रिका-जैविक (neurobiological) परिवर्तन लाता है। कई अनुसंधानकर्ता अब मानते हैं कि ध्यान के अभ्यास से चिकित्सीय प्रभाव होता है और ध्यान मनुष्य को समग्र तथा स्वस्थ जीवन जीने में सहायक होता है।

वैज्ञानिक अनुसंधान के ऐसे सभी परिणाम केवल भौतिक स्तर के ही कहे जा सकते हैं। आध्यात्मिक स्तर के परिणाम को ऐसे आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानों द्वारा अभी नहीं देखा जा सकता है। आध्यात्मिक परिणामों का केवल अनुभव ही किया जा सकता है।

त्याग का नियम

परिचय

"त्याग" या "बलिदान" के लिए अंग्रेजी शब्द 'sacrifice' लैटिन *sacrificio* से आया है – जिसका अर्थ है – "मैं पवित्र बनाता हूं।" किसी चीज़ का त्याग या बलिदान करना उसे भगवान को अर्पित करना है, जिससे वह चीज पवित्र हो जाती है। सच्चे त्याग में कुछ भी त्यागने का विचार बिल्कुल नहीं होना चाहिए। जब तक आप में अनुभूति है कि कोई चीज़ त्याग के लिए है तो वास्तव में ऐसा नहीं है; इसे बिल्कुल भी पवित्र नहीं बनाया गया है। जब आपके मन में किसी चीज को छोड़ने का कोई विचार न हो, क्योंकि चीजों की प्रकृति के अनुसार आप जिस तरह से महसूस करते हैं, उससे छोड़ने के अलावा आप और कुछ नहीं कर सकते; जब आपके भीतर जो कुछ है वह इसे ऐसा बना देता है कि पूरी दुनिया में आपके पास पूरी तरह से उसके सामने समर्पण करने के अलावा और कुछ नहीं है; शायद तब आप एक पूर्ण त्यागी या बलिदानी हैं।

महात्मा ने एक बार कहा था कि त्याग का नियम उतना ही महत्वपूर्ण है जितना पुनर्जन्म और कर्म का।

विकास के पूरे क्रम में एक नियम है जो अत्यंत पीड़ादायक रूप से स्पष्ट है, यहां तक कि मात्र नौसिखिए की आंखों के लिए भी, कि कोई भी वस्तु जो वास्तव में पाने लायक है, संबंधित त्याग के बिना उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

योग्यतम की उत्तरजीविता के लिए संघर्ष (the struggle for survival of the fittest) का डार्विन का नियम केवल निम्न पशु साम्राज्य

तक आंशिक रूप से लागू होता है। उच्च पशुओं और मनुष्य के मामले में त्याग का नियम इस नियम का स्थान ले लेता है।

गुप्त विद्या (occultism) की व्याख्या करते हुए एच. पी. ब्लावत्सकी कहती हैं, "गुप्त विद्या जादू नहीं है, यद्यपि जादू इसका एक उपकरण है। गुप्त विद्या भाव-मानसिक (psychic) या ज्ञान की (intellectual) शक्तियों का अधिग्रहण नहीं है, हालांकि दोनों ही इसके सेवक हैं। न ही गुप्त विद्या का लक्ष्य प्रसन्नता है, जैसा कि मनुष्य इस शब्द को समझता है; क्योंकि पहला कदम त्याग (sacrifice), दूसरा परित्याग (renunciation) है।"

फिर वह हमें बताती है कि यह (त्याग) वास्तव में क्या है – "यह जीवन का विज्ञान है, जीवन जीने की कला है।"

विकास में त्याग की भूमिका

मनुष्य का विकास बार-बार पुनर्जन्म लेते हुए होता है, पुनर्जन्म में वह इच्छा या तृष्णा द्वारा खींचा जाता है, और जिससे वह ज्ञान और त्याग द्वारा मुक्त हो जाता है तथा इस प्रकार की विकास-प्रक्रिया से मनुष्य शक्ति (potency) में दिव्य बन जाता है जैसे वह प्रसुप्ति (latency) में सर्वदा दिव्य रहा है।

सभ्य लोगों के विशाल जनसमूह के बीच, केवल एक अल्पसंख्यक वर्ग ही परवाह करता है, बड़े पैमाने पर राष्ट्र और मानवता के दृष्टिकोण की कल्पना कर सकता है – वे आदर्शवादी हैं जो पृथ्वी के नमक हैं, अपने तत्कालीन परिवेश की अपेक्षा एक बड़े आदर्श के लिए स्व-निषेध और स्व-त्याग करने में सक्षम हैं। उनके वर्ग से महान, उत्कृष्ट शख्सियतें – महान

संत, राजनेता, नेता, कलाकार, वैज्ञानिक, दार्शनिक – आते हैं। ये उस राष्ट्र, जिसने उन्हें जन्म दिया, की सीमाओं से परे हैं और संसार से संबंधित होते हैं। जीवन की पाठशाला से निकलकर, वे दक्ष लोगों की विशेष श्रेणी बनाते हैं।

आध्यात्मिक जीवन में किसी अन्य द्वारा हमें विश्वास या प्रेम या भक्ति के बारे में बताने से हमें बहुत कम प्राप्त होता है। हमें विश्वास और प्रेम के विभिन्न अनुभवों से स्वयं गुजरना होगा। एच. पी. ब्लावत्सकी लिखती हैं कि प्रज्ञा प्राप्त करने के लिए मनुष्य के पूरे जीवन के त्याग और समर्पण की आवश्यकता होती है।

एक महात्मा ने एक स्थान पर कहा था, कि निस्वार्थ होकर पगडंडी से घास-फूस साफ करने और बच्चे की प्रेमपूर्ण देखभाल करने से भी ब्रह्माण्डीय ऊर्जा आध्यात्मिक ऊर्जा में परिवर्तित हो जाती है। निस्वार्थ स्व-त्याग के छोटे-छोटे कार्यों से ऐसी आध्यात्मिक ऊर्जा बढ़ती है जो संसार को अस्तित्व में रखती है। इसीलिए कहा जाता है कि यज्ञ (या त्याग) संसार की नाभि (या सक्रिय करने वाली ऊर्जा का केंद्र) है। हमारे त्यागों से प्रकृति की परोपकारी शक्तियों का पोषण होता है जो बदले में उचित वर्षा और अन्य घटनाओं – जो भोजन और चारा पैदा करने के लिए मिट्टी का पोषण करती हैं – के माध्यम से मानवता का पोषण करती हैं।

एक धर्मग्रंथ कहता है कि **एक** यानी ईश्वर-तत्त्व ने इस ब्रह्माण्ड को व्यक्त करने के लिए स्वयं का बलिदान दिया और इसे बनाए रखने और पुनर्जीवित करने के लिए लगातार बलिदान करता रहता है।

दिव्यत्व त्याग (Kenosis), या मानसिक रूप से स्वयं को रिक्त कर देना, रहस्यवाद के केंद्र तक ले जाता है। ईश्वर लगातार अपने भीतर से अपना जीवन बाहर प्रवाहित करता रहता है और उस उड़ेलने से संसार बने

रहते हैं तथा पोषित होते हैं। लोगोस (ईश्वर) के रूप में उनके बारे में कहा जाता है – "तूने अपने ब्रह्माण्ड में अपने दिव्य जीवन की सांस छोड़ा ... उसी स्व-त्याग के द्वारा तू लगातार सारी सृष्टि को कायम रखता है... अति सत्य में तू मर रहा है ताकि हम जीवित रह सकें।" सूली पर चढ़ाया जाना, त्वचा का छेदन, हमेशा खुला पवित्र हृदय और ईसा मसीह के खुले घाव – ये सभी वाक्यांश अत्यंत स्व-समर्पण की मनोवृत्ति और स्थिति के रूपक तथा प्रतीक हैं। ऐसा स्व-रिक्त होना, ऐसा पूरी तरह से स्व-विस्मृति प्रेम, ऐसी व्यंजनापूर्ण (figurative) मृत्यु, अधिक प्रचुर जीवन के लिए आवश्यक है। अलग-अलग व्यक्तित्व, अहंकार और अधिकार की भावना के प्रति मरना, शाश्वत जीवन तक जीना है। यह मानव जीवन और उपलब्धि के संबंध में अब तक कहा गया सबसे बड़ा सत्य है, वास्तव में सबसे मूल्यवान मोती है। हम एक अनोखे नियम की उपस्थिति में हैं। महान प्रतिमान (exemplar), प्रेम के भगवान का अनुकरण करते हुए, हमें बड़ा जीवन जीने के लिए स्व-इच्छा के प्रति मरना ही चाहिए, और स्वयं को निस्वार्थ त्याग और सेवा में समर्पित करना चाहिए। स्व-विस्मृति समस्त आध्यात्मिकता का आधार है। अनोखे आध्यात्मिक नियम के तहत, स्व-समर्पण हानि नहीं, बल्कि नवीनीकरण लाता है। ईश्वर सर्वदा उच्च आयाम से स्व-नवीनीकृत होता है। सूर्य अपने अथाह वाह्य-प्रवाह के बावजूद स्वयं को समाप्त नहीं करता है, क्योंकि आनुपातिक अंतः-प्रवाह होता रहता है। इसी प्रकार, उच्च जीवन के आकांक्षी में निस्वार्थता हानि नहीं बल्कि पर्याप्तता और कभी-कभी प्रचुरता भी लाती है। यह वैसे है जैसे यदि एक गुलाब का समर्पण एक ऐसे पेड़ को पाने के लिए किया जाए जो सात बार सत्तर गुना तक खिलता है।

आध्यात्मिक पथ

दान जो त्याग है – जो भौतिक लाभ के लिए पदार्थीय वस्तुओं से

किया जाता है। *भगवद् गीता* में इसे *द्रव्य यज्ञ* कहा गया है। इससे भी महान, अधिक शक्तिशाली और कहीं अधिक लाभकारी आध्यात्मिक ज्ञान से किया गया यज्ञ है – जिसे *ज्ञान यज्ञ* कहा गया है।

महाचोहन ने लिखा, "हमारे सिद्धांत को तथाकथित नैतिक संहिता, या सत्यता, पवित्रता, स्व-निषेध, दान आदि के विचारों पर व्यावहारिक रूप से प्रतिक्रिया करने के लिए, हमें *थिऑसोफी* के ज्ञान का उपदेश देना और उसे लोकप्रिय बनाना होगा। अपने पड़ोसी को सही रास्ते पर ले जाने के लिए सर्वोत्तम साधनों के लिए स्व-त्यागमय काम करना, हमसे जितना संभव हो सके उतने ही अधिक अपने साथी-प्राणियों को इससे लाभान्वित कर सकना, यही सच्चा *थिऑसोफिस्ट* बनाता है" (महात्मा के पत्र - cr.edi. Appendix II, p.477)।

एच. पी. ब्लावत्सकी, *दि वॉयस ऑफ दि साइलेन्स* में अवैयक्तिकता (impersonality) के महत्व पर जोर देती है, "तुम्हें दोनों को एक में मिलाना होगा और व्यक्तिगत को अवैयक्तिक स्व में त्यागना होगा और इस प्रकार दोनों के बीच के मार्ग – अंतःकरण – को नष्ट करना होगा" (VOS, 222)। अवैयक्तिक स्व के लिए, जीवात्मा, हमारे स्वार्थ के छोटे क्षेत्र तक ही सीमित नहीं हो सकता है, बल्कि सार्वभौमिकों तक विस्तार करता है। यदि हम व्यक्तिगत देहात्मा और उसकी संकीर्ण चिंताओं तक ही सीमित रहेंगे तो हम उसकी (अवैयक्तिक स्व की) भव्यता और दायरे तक पहुंचने की आशा नहीं कर सकते। एच. पी. ब्लावत्सकी हमें बताती हैं कि "शाश्वत मनुष्य के लिए अवैयक्तिक में खोज करो और उसे ढूंढ लेने के बाद, भीतर देखो। तुम बुद्ध हो" (VOS, 116)।

एनी बेसेंट ने अपनी पुस्तक *Hints on the study of The*

Bhagavad Gita में तीन प्रकार के योग का वर्णन करते हुए, कहती हैं :

योग के तीन मुख्य साधन या रास्ते को, द्वितीयक अर्थ में, योग भी कहा जाता है; साधन भी योग कहलाने के हकदार हैं और साध्य भी। परित्याग (renunciation) का योग (संन्यास योग) है – इच्छा का परित्याग – 'परित्याग के योग से सामंजस्य करके, तुम मेरे पास आओगे' (गीता, ix, 28)। विवेक का योग (बुद्धि योग) है – ज्ञान का योग – 'मैं विवेक का योग देता हूं जिसके द्वारा वे मेरे पास आते हैं' (गीता, x, 10)। त्याग का योग है – कर्म का योग – 'वह योगियों का कर्मयोग है' (गीता, iii, 3)। (पृ. 79)।

इच्छा को छोड़ देना ही परित्याग है, परित्याग का योग है, भक्ति मार्ग है और यह आसान मार्ग बन जाता है जब एक बार परमात्मा की अनुभूति हो जाती है। परित्याग के योग में त्याग के योग के साथ कई बिंदु समान हैं, और प्रायः इससे भ्रांति होती है – वास्तव में दोनों शिक्षण में प्रायः इतने मिश्रित होते हैं कि उन्हें अलग करने की तुलना में एक साथ लेना आसान होता है। फिर भी एक अंतर है जो एक को दूसरे से अलग करता है; क्योंकि पहले, परित्याग के योग में, हमारे पास प्रेरक शक्ति के रूप में सर्वोच्च के प्रति प्रेम, भक्ति, उस एक वस्तु पर स्थिर इच्छा होती है; बाकी सब अपनी शक्ति खो देता है, और, जैसे कि, फोकस से बाहर हो जाता है, स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं देता है, और उनकी परवाह नहीं की जाती है।... प्रसन्नता अकेले एक वस्तु में पाई जाती है, और उसकी झलक जीवन को उसका स्वाद देती है। फिर वह 'शांति की ओर जाता है' (गीता, ii, 64)।

दूसरी ओर, त्याग के योग में, कर्म का मार्ग, जो बदल जाता है वह कर्म का उद्देश्य है; परिवर्तन इच्छा की दिशा में, इच्छा द्वारा प्रभुत्व (dominated) चेतना में नहीं है; लेकिन जिस भावना से कार्य किया जाता

है उसमें, *क्रिया* द्वारा प्रभुत्व चेतना है। यह त्याग है, यज्ञ के रूप में किया गया कार्य कर्म मार्ग की विशेषता है (पृ. 108-109)।

'मेरे लिए त्याग करो; मेरे सामने साष्टांग प्रणाम करो' (गीता, ix, 34)। अपना मन मुझमें समाहित कर लो, मेरे भक्त बनो, अतिशय प्रेम पूर्वक मेरी अर्चना कर मेरे लिए त्याग करो' (गीता, xviii, 65)। (पृ. 113-114)

शिष्य का जीवन अल्प परित्यागों की एक लंबी श्रृंखला है, दैनिक त्यागों की एक लंबी श्रृंखला है, एक व्यक्ति को समय में लगातार मरना है ताकि वह उच्चतर शाश्वतता में रह सके। बिना किसी प्रयास के साथ शिष्य का जीवन घर में, शहर में, कार्यालय में, बाजार में, मनुष्यों के सामान्य जीवन के बीच, जिया जाता है; और तब निस्संदेह परित्याग सामान्य हो जाता है। यदि हम त्याग का जीवन जीते हैं, यदि हम परित्याग का जीवन जीते हैं, यदि प्रतिदिन, लगन से, हम स्वयं को दूसरों के लिए उड़ेलते हैं, तो एक दिन हम स्वयं को पर्वत की चोटी पर पाएंगे, और पता करेंगें कि हमने महान परित्याग किया है, बिना यह स्वप्न में भी सोचे कि ऐसा कार्य संभव था।

केवल पीड़ा द्वारा ही हम परिपूर्णता और शुद्धता प्राप्त कर सकते हैं; केवल पीड़ा द्वारा ही हम अपने आप को उस अनाथ मानवता, जो आध्यात्मिक भोजन के लिए लगातार रोती है, के उपयुक्त सेवक बना सकते है। जीवन केवल तभी सार्थक है जब यह उन गुरुओं के चरणों में न्योछावर किया जाता है (*The Doctrine of the Heart* – Annie Besant, पृ. 26)।

आध्यात्मिक प्रगति हमेशा अच्छाई और स्व-त्याग के समान नहीं होती है, यद्यपि इन गुणों को उचित समय पर ऐसी प्रगति अवश्य लाना चाहिए।

याद रखें कि एक शिष्य को जो कष्ट सहना पड़ता है वह उसके प्रशिक्षण का एक अभिन्न अंग है, और उसके व्यक्तित्व को कुचलने की उसकी इच्छा से उत्पन्न होता है। यह केवल एक क्षण के लिए एक परीक्षण है, क्योंकि अंत में उसे पता चलेगा कि उसने कुछ भी नहीं त्यागा है और सब कुछ प्राप्त कर लिया है।

यह कि व्यक्त अस्तित्व की व्यवस्था में उच्चतम विकास के लक्ष्यों के लिए बिल्कुल आवश्यक, से लेश मात्र भी अधिक दर्द और दुख नहीं है, यह न्याय और करुणा का नियम – कर्म का नियम है और विश्व की नैतिक सत्ता से सीधे आता है। विकसित हो रहे मानव विशुद्ध-आत्माओं (monads) की ओर से स्व-त्याग का प्रत्येक कार्य गुरुओं के हाथों को मजबूत करता है और अच्छाई की शक्तियों को सुदृढ़ता प्रदान करता है।

भगवद् गीता (IV, 31) में कहा गया है कि, "जो यज्ञ से बचे अमृत को खाता है वह शाश्वत को चला जाता है।" मनुष्य वेदी और यज्ञ है, तथा यह अमृत आध्यात्मिक विकास की पूर्णता है जिसे वह खाता है अर्थात अपने अस्तित्व में समाहित करता है।

इस कलियुग जैसे युग में, एक भिन्न युग का अनुष्ठानिक बलिदान जिसका वास्तव में जादुई प्रभाव होता है, प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने स्वभाव में अपने हृदय की वेदी पर किया जाने वाला यज्ञ बन जाता है। आजकल हम ऐसे परिवारों में पैदा हुए हैं जिनके पास निष्कलंक पूर्वजों की वंशावली के रूप में बहुत कम विरासत है, हम उन महान प्राकृतिक आध्यात्मिक शक्तियों और प्रवृत्तियों के लाभ से वंचित हैं जो दूसरे चक्र से संबंधित हैं। लेकिन जिस युग में हम रहते हैं उसकी शक्ति और तीव्रता ही हमें अब कम पुनर्जन्मों में और अधिक करने की शक्ति देती है। तो हम इसे पहचानें, और जानें कि हमारा कर्त्तव्य क्या है और उसे करें (*Notes on The Bhagavad Gita –*

W. Q. Judge, पृ. 93)।

केवल एक उच्च आदर्श और गहन प्रकृति की यह संभावना है जो अस्तित्व के मूल को छूती है और अन्दर के प्रसुप्त (dormant) दिव्य जीवन के लिए अपील करती है जो साधक को आकर्षित कर सकती है और उसे सामान्य जीवन के सुख और खुशियों का त्याग करने के लिए प्रेरित कर सकती है - अंततः वास्तविक आध्यात्मिक जीवन के अत्यंत सूक्ष्म, उत्कृष्ट और चिरस्थायी आनंद को प्राप्त करने के लिए, जिसमें हम अपनी सत्-चित-आनंद की प्रकृति से अवगत होते हैं।

भाग्य, प्रसिद्धि, प्रेम, विलासिता आदि साबुन के बुलबुलों के महत्व जैसे लगते हैं, और साधक को उन्हें बच्चों के बेकार खिलौने के रूप में त्यागने में कोई हिचकिचाहट नहीं होती है। न ही ऐसे परित्याग को त्याग कहा जा सकता है, क्योंकि बड़े हो चुके लड़के और लड़कियां अपने पॉपगन और गुड़ियों का "त्याग" नहीं करते हैं, वे बस अब उन्हें नहीं चाहते हैं। जिस अनुपात में उनके मन का विस्तार होता है, उसी अनुपात में वे किसी और अधिक उपयोगी चीज की ओर बढ़ते हैं। हमारे अस्तित्व का विस्तार हमें माया के संकीर्ण सीमा से आदर्श के असीमित क्षेत्र को ऊपर उठाता है, और मनुष्य को तुच्छ मिट्टी के बंदीगृह से मुक्त करके शाश्वत और सार्वभौमिक जीवन के उदात्त वैभव की ओर ले जाता है।

उच्चतम त्याग

पीड़ित मानवता की सहायता के लिए निर्वाण का त्याग करना और पृथ्वी पर स्वयं को निर्माणकाया अवस्था में बनाए रखना, मनुष्य द्वारा सर्वोच्च प्राप्य त्याग माना जाता है।

मानवता की सहायता के लिए निर्वाण की उत्कृष्ट स्थिति का परित्याग करने के ऐसे उच्च त्याग के कारण, गौतम बुद्ध को सबसे महान माना जाता है, यहां तक कि सभी अवतारों से भी महान।

मानवता की सहायता करने में सक्षम होने के लिए, एक सिद्ध जिसने निर्वाण का अधिकार जीत लिया है, रहस्यवादी भाषा में धर्मकाया शरीर का परित्याग करता है'; *संभोग काया*, केवल महान और पूर्ण ज्ञान को बनाए रखता है, और अपने *निर्माणकाया* शरीर (स्वयं द्वारा बुना हुआ ईथरीय रूप) में रहता है। ... गौतम बुद्ध अपने कई अर्हतों के साथ ऐसे *निर्माणकाया* हैं, मानव जाति के लिए महान परित्याग तथा त्याग के कारण जिनसे उच्चतर और कोई नहीं जाना जाता है। (VOS 306, G. 34)

धर्मकाया स्वार्थी आनंद का मार्ग है, जिसे गुप्त हृदय के बोधिसत्वों, करुणा के बुद्धों द्वारा त्याग दिया जाता है। गुप्त पथ का चयन परिपूर्णता के बुद्धों द्वारा किया जाता है, जो कमजोर जीवात्माओं के लिए महान आत्मा का त्याग करते हैं (VOS, 146)। स्व के परित्याग की कली से अंतिम मुक्ति का मधुर फल उत्पन्न होता है (VOS, 151)। जो तथागत के पद पर चलता है, वह निर्वाण के उपहार तथा शक्तियों को अपने लिए नहीं रखता है और अंतिम ज्ञान के द्वार को पार करने के बाद, दुःख से विवाहित होता है – अर्थात वह मानव जाति को उसके दुखों से स्वतंत्र होने में सहायता करता है (VOS, 285 and 309)।

नीरव नाद (VOS) का दूसरा खंड, 'दो मार्ग', सड़क में एक विशाख (fork) के बारे में बात करता है, जिस पर हमें यह तय करना होता है कि हम दोनों दिशाओं में से किस दिशा में यात्रा करेंगे। एक दिशा स्वयं के लिए लाभ की ओर ले जाती है जबकि दूसरी दिशा संपूर्ण मानवता के कल्याण के लिए

व्यक्तिगत स्व-त्याग की ओर ले जाती है। दूसरी दिशा बोधिसत्वों की है, वे संत विभूतियां जिनका सार प्रज्ञा है और जिन्होंने स्वयं को सभी जीवन की सेवा के लिए समर्पित कर दिया है।

चूंकि गौतम बुद्ध ने अपने साथी मानव प्राणियों के उद्धार के लिए निर्वाणिक आनंद और विश्राम का त्याग किया, इसलिए उनका पुनर्जन्म उच्चतम-ऊपरी ग्रह के सातवें चक्रपथ (ring) में होगा। तब तक वह हर दससहस्त्राब्दी में एक चुने हुए व्यक्ति, जो सामान्य रूप से राष्ट्रों की नियति को पलट देता है, पर छाया रखेंगे (पहले से ही छाया रखे)।

परित्याग का उच्चतम रूप संसार का परित्याग नहीं है। यह संसार के परित्याग का परित्याग करना है और इस प्रकार संसार का एक हिस्सा बने हुए रहना है। यह 'गुप्त' या गुह्य मार्ग है। यह सभी महान धार्मिक परंपराओं के आंतरिक पक्ष की शिक्षा है – 'बच जाओ' नहीं, बल्कि 'बचाने में सहायता करो'। जो लोग इस मार्ग को अपनाते हैं वे सभी प्राणियों के कमजोर, अपूर्ण जीवात्माओं की भलाई के लिए महान और पूर्ण आत्मा (परमात्मा) के साथ अपने मिलन को त्याग देते हैं। मगर, ऐसे आदर्श का पालन करना आसान नहीं है। परिश्रम और दुःख के लिए शांति और आराम का त्याग करने के लिए बड़े साहस की आवश्यकता होती है।

मनुष्य का कर्त्तव्य

ए. पी. सिनेट को लिखे एक पत्र में महात्मा कहते हैं, "मेरे 'शिष्य' मेरा विश्वास करो, वे पुरुष या महिला जिसे कर्म द्वारा छोटे-छोटे सामान्य कर्त्तव्यों और त्यागों तथा प्रेमपूर्ण-दयालुता के बीच रखा गया है, इनको ईमानदारी से निभाए गए कार्यों के माध्यम से समस्त मानवता के प्रति बड़े माप के कर्त्तव्य,

त्याग और दान की ओर उठेंगें। जिस प्रबोध (enlightenment) के लिए आप प्रयास कर रहे हैं, उसके लिए इससे बेहतर मार्ग क्या हो सकता है कि आप स्व पर प्रतिदिन विजय प्राप्त करें, दृश्यमान मानसिक प्रगति के अभाव के बावजूद भी दृढ़ता बरतें, उस शांत धैर्य के साथ दुर्भाग्य को सहन करें जो इसे आध्यात्मिक लाभ में बदल देता है – क्योंकि अच्छे और बुरे को निचले या भौतिक स्तर पर नहीं मापा जाना चाहिए (महात्मा पत्र सं. 123, पृ. 419)।

स्व-स्वभाव द्वारा निर्धारित कर्त्तव्य के अनुकूल कर्म करते हुए व्यक्ति को कृष्ण-स्वभाव अर्थात सार्वभौमिक चेतना की ओर जाने का प्रयास करना चाहिए। तब उसके सभी कार्य उत्तम होंगे और विश्व कल्याण के लिए त्याग होंगे।

न तो सामूहिक देव (Demiourgos या रचनात्मक देव), और न ही व्यक्तिगत रूप से कोई भी कार्यशील शक्तियां, दैवीय सम्मान या पूजा के लिए उचित पात्र हैं। हालांकि, ये सभी मानवता की कृतज्ञ श्रद्धा के अधिकारी हैं, और मनुष्य को अपनी सर्वोत्तम क्षमता से चक्रीय कार्य में प्रकृति के साथ *सहकर्मी* बनकर, *विचारों* के दिव्य विकास में मदद करने के लिए हमेशा प्रयासरत रहना चाहिए। केवल सर्वदा *अज्ञेय* और *न पहचानने योग्य* (incognizable) कारण, *सभी कारणों के कारणविहीन कारण* का ही हमारे हृदय की पवित्र और सर्वदा अछूती भूमि पर एक मंदिर और वेदी होनी चाहिए – जो हमारी आध्यात्मिक चेतना की "शांत लघु आवाज" के अलावा, अदृश्य, अमूर्त, अवर्णित है। जो लोग इसके सम्मुख पूजा करते हैं, उन्हें अपने जीवात्मा के मौन और पवित्र एकांत में ही ऐसा करना चाहिए; अपनी आत्मा को अपने और सार्वभौमिक आत्मा के बीच एकमात्र मध्यस्थ बनाते हुए, उनके अच्छे कार्य ही एकमात्र पुजारी हैं, और उपस्थिति के लिए उनके पापी इरादों को एकमात्र दृश्यमान और वस्तुनिष्ठ त्याग बनाना है (SD I,

280)।

मनुष्य को यह समझना चाहिए कि व्यक्त जगत त्याग से कायम है – यही प्रकृति का नियम है। जैसे-जैसे मनुष्य उच्च प्रकृति की ओर विकसित होता है, वह देखता है कि वह अन्य जीवनों के त्याग से जीता है। क्योंकि वह त्याग का फल है, उसे स्वयं त्याग होना ही चाहिए।

ईश्वर स्वयं सबसे बड़ा त्याग करता है क्योंकि वह स्वयं को पदार्थ में उड़ेलता है। जहां तक हम स्वयं को उसकी सेवा में समर्पित करते हैं, उस त्याग में भाग लेते हैं और स्वयं को उसके साथ एक कर देते हैं। यदि किसी ने एक बार पीछे की वास्तविकता को देख लिया, तो वह इसके अलावा और कुछ कर ही नहीं सकता; लेकिन तब संसार इसे एक त्याग के रूप में नहीं समझेगा, क्योंकि यह उसकी अपनी इच्छा का पालन करना प्रतीत होगा। फिर मनुष्य विकासवादी शक्ति के साथ काम करता रहता है, लेकिन वह भूल जाता है कि उसने क्या दिया। यह अब कुछ भी त्यागने का मामला नहीं है, बल्कि स्वयं के सच्चे बोध तक पहुंचने और यह जानने का है कि वह यहां किस लिए है। ईश्वर का विचार ऐसा ही है, और हमें उनके जैसा ही बनना चाहिए यदि हम केवल त्याग करेंगे।

हमें उन पुरातन लोगों की तरह बनने का प्रयास करना चाहिए जिनका पूरा जीवन एक आध्यात्मिक अस्तित्व था – और न केवल एक अस्तित्व, बल्कि एक त्याग, प्रत्येक कार्य किसी न किसी तरह से एक पवित्र अर्पण। पृथ्वी और प्रकृति से जुड़े रहने की भावना एक ऐसी चीज है जिसे हमें बाहर निकलते समय अपने भीतर से जगाना होगा और अपनी सभी इंद्रियों के साथ हमारे अस्तित्व और जीवन को घेरने वाले तथा अंतर्प्रवेशी प्राकृतिक चक्रों को समझना होगा।

मनुष्य के हृदय और उसकी भावनाओं का त्याग, या समर्पण, नियमों में प्रथम है; इसमें "एक संतुलन प्राप्त करना शामिल है जिसे व्यक्तिगत भावना से हिलाया नहीं जा सकता"। यह काम उदासीन दार्शनिक द्वारा किया जाता है; वह भी एक ओर खड़ा होकर अपने कष्टों के साथ-साथ दूसरों के कष्टों को भी समान दृष्टि से देखता है।

किसी प्रियजन को उच्च जीवन जीने के लिए मुक्त करने के लिए गहन किंतु व्यक्तिगत प्रेम का भी त्याग करना पड़ता है। मनुष्य को संसार से प्रेम करना चाहिए क्योंकि सब एक हैं। ऐसे प्रेम से मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है क्योंकि एकमात्र सच्ची मृत्यु, स्व की मृत्यु है। ऐसा व्यक्ति सभी के लिए जीता है, उसकी शक्तियां पुनः प्राप्त हो जाती हैं, क्योंकि सार्वभौमिक प्रेम शक्तियों की शक्ति है।

हमारे रिश्तों में जो संघर्ष उत्पन्न होते हैं, वे एक बहुत ही मौलिक नियम का उदय हैं – त्याग। तो प्रेम से उत्पन्न होकर ही हम त्याग करना सीखते हैं।

साधारण प्रेम भी, यदि वह वास्तविक, गहरा और निस्वार्थ हो, उच्चतर स्व की उच्चतम और शुद्धतम अभिव्यक्ति है, और यदि उसे निरंतरता और स्व-त्याग की इच्छा के साथ अपने हृदय में रखा जाए, तो किसी भी अन्य कार्य या भावना की तुलना में, अंततः उस मनुष्य को आध्यात्मिक संसार के स्पष्ट बोध तक लाता है। फिर उस प्रेम का क्या कहना!, जिसके आधार में ईश्वर के सिंहासन तक पहुंचने की एक सामान्य आकांक्षा, अज्ञानी और गलती कर रही मानवता के लिए कष्ट सहने की एक संयुक्त प्रार्थना और उनको, जो लोग बुराई की भयानक शक्तियों और असहाय अनाथ मानवता के बीच अपने आशीर्वाद से सर्वदा एक बांध का निर्माण कर रहे हैं, बेहतर

सेवा प्रदान करने के लिए अपनी खुशी और आराम को त्याग करने की पारस्परिक संकल्प है। सही ताकत, कलह और विरोध में नहीं है, बल्कि प्रेम और आंतरिक शांति में प्रभावयुक्त (potent) है। इसलिए जो मनुष्य जीने और बढ़ने की परवाह करता है उसे हमेशा प्रेम करना चाहिए और प्रेम के लिए कष्ट सहना चाहिए।

एक उदाहरण मधुमक्खियों से लिया जा सकता है जो समग्र भलाई के लिए स्व-त्याग की भावना से काम कर रही हैं। मधुमक्खी की गुंजन की तुलना ब्रह्माण्ड की गुंजन (गोले का संगीत), ईश्वर के रहस्यमय शब्द से की गई है, जिसे पवित्र ध्वनि "ओम" दोहराती है।

स्वयं से अधिक दूसरों को देना– ऐसा स्व-त्याग मानवता के महान शिक्षकों और गुरुओं – जैसे, गौतम बुद्ध और यीशु – का मानक रहा है। यद्यपि थिऑसोफी में बताया गया है कि, स्व-त्याग विवेक के साथ किया जाना चाहिए; और ऐसा स्व-परित्यक्ति (self-abandonment), यदि बिना न्याय के, या आंख मूंद कर, बाद के परिणामों की परवाह किए बिना किया जाता है, तो प्रायः न केवल व्यर्थ होता है, बल्कि हानिकारक भी हो सकता है। थिऑसोफी के मौलिक नियमों में से एक है, कि अपने को एक समग्र मानवता की एक इकाई के रूप में देखते हुए स्वयं के प्रति न्याय, एक व्यक्तिगत स्व-न्याय के रूप में नहीं, दूसरों से अधिक नहीं, किंतु कम भी नहीं; जब तक कि वास्तव में, *एक स्वयं* के त्याग द्वारा हम कई लोगों का लाभ न कर सकें।

परोपकारिता स्व-विकास का एक अभिन्न अंग है। किंतु हमें विवेक लगाना है। एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य को भोजन देने के लिए स्वयं को भूखा रखकर मार डालने का कोई अधिकार नहीं है, जब तक कि उस दूसरे मनुष्य

का जीवन भोजन देने वाले मनुष्य के स्वयं के जीवन की अपेक्षा स्पष्टतया कइयों के लिए अधिक उपयोगी न हो। किंतु यह उसका कर्त्तव्य है कि वह अपनी सुविधाओं का त्याग करे और ऐसे दूसरों के लिए काम करे जो अपने लिए काम करने में असमर्थ हैं। थिऑसोफी स्व-निषेध सिखाती है लेकिन उतावलेपन और व्यर्थ का स्व-त्याग नहीं सिखाती है, न ही यह कट्टरता (fanaticism) को उचित ठहराती है।

जहां फल की इच्छा नहीं की जाती है, जहां कार्य केवल त्याग के रूप में किए जाते हैं, कर्ता द्वारा कोई कर्म नहीं बनाया जाता है, और तब वह उन कार्यों द्वारा जन्म और मृत्यु के चक्र से नहीं बंधता है।

केवल वे जो दृढ़ रहना जानते हैं, जिन्हें हार या कठिनाई से प्रभावित नहीं किया जा सकता है, जो किसी भी बाधा को कठिन नहीं मानते हैं, किसी भी त्याग को इतना बड़ा नहीं मानते हैं कि न कर सकें, किसी कठिनाई को सहना बहुत कठिन नहीं मानते हैं, वे ही गुप्त विद्या के बाहरी प्रांगण में प्रवेश प्रारंभ करने के योग्य हैं। क्योंकि जब वे आंतरिक प्रांगण के लिए तैयार हो जाते हैं, तो वे आध्यात्मिक योद्धा, सर्वव्यापी प्रज्ञा के ज्ञाता और शाश्वत नियम की शक्ति के निस्वार्थ धारक बन गए होते हैं।

उच्च मन में सोचने की आदत विकसित की जा सकती है, लेकिन बड़ी कठिनाई, दृढ़ निश्चय और बहुत स्व-त्याग के के साथ। यह उन लोगों के लिए अपेक्षाकृत आसान होता है जो ऐसी आदत के उपहार के साथ जन्मे हैं।

लक्ष्य

वास्तविक आध्यात्मिकता में लक्ष्य, धर्म के जैसा नहीं है, जैसा कि आमतौर पर समझा जाता है, जिसका लक्ष्य मोक्ष या निर्वाण या मुक्ति है।

लक्ष्य स्व-त्याग बन जाता है। आध्यात्मिकता का अभ्यास करने वाले को अस्तित्व के सर्वोच्च और आवश्यक तथ्य का बोध होना प्रारम्भ हो जाता है, यह कि संपूर्ण अभिव्यक्ति, विश्व की समग्रता, दिव्य की ओर से स्व-त्याग का एक कार्य है। इस महान तथ्य को हम सभी के निकट लाने का अर्थ है कि हम जो ईश्वर के भीतर रहते हैं, गति करते हैं और अपना अस्तित्व रखते हैं, हमारा अपना अलग व्यक्तिगत अस्तित्व केवल इसलिए है क्योंकि ईश्वर ने त्याग का कार्य किया है, जिसके परिणाम से पदार्थ के दृश्य और अदृश्य विभिन्न स्तर अस्तित्व में आए हैं, जिनसे हम अपने शरीर या वाहन बनाते हैं। यदि ईश्वर का त्याग किसी भी क्षण समाप्त हो जाए तो व्यक्तिगत इकाइयों (जीवात्माओं) के रूप में हमारे कार्य तुरंत रुक जाएंगे। यह सर्वोच्च तथ्य हम पर उनका अनुकरण करने, अर्थात हमें अपने जीवन को स्व-त्याग से भरपूर बनाने का का दायित्व डालता है।

एक आध्यात्मिक व्यक्ति को उपचारक बनना है, उसकी भक्ति मानव जाति और समस्त सृष्टि के प्रति निस्वार्थ प्रेम होना चाहिए। हमें स्वयं को – मन, भावनाओं और अपने शारीरिक कार्यों को प्रशिक्षित करना चाहिए ताकि हमारे कार्य स्व-त्याग के संकल्प को प्रतिबिंबित करें।

मेमने को मारने की महान ईसाई शिक्षा में गहरी सच्चाई है। दुनिया की नींव त्याग से है, यही त्याग का महान सत्य है। यदि कोई दैवी त्याग नहीं, तो कोई विश्व नहीं। कोई दैवीय स्व-सीमितता नहीं, तो आकाशीय क्षेत्र को भरने वाले कोई भी संसार नहीं। यह सब एक त्याग है, प्रेम का त्याग जो स्वयं को सीमित करता है ताकि अन्य लोग स्व-चैतन्य हो सकें और अपनी परम दिव्यता की परिपूर्णता में आनंद मना सकें। चूंकि संसार का जीवन त्याग पर आधारित है इसलिए सभी सच्चा जीवन भी त्यागमय है; और जब प्रत्येक कार्य त्याग के रूप में किया जाता है, तब मनुष्य परिपूर्ण, आध्यात्मिक मनुष्य

बन जाता है।

आकाशविहीन जीवात्मा से उत्पन्न होने वाली कोई भी योजना बन्धुत्व, परोपकारिता और त्याग के अलावा किसी अन्य सिद्धांत पर आधारित नहीं हो सकती है। इनमें से हर एक, अन्य दो को स्वयं में प्रतिबिंबित करता है। ये पूर्ति के द्वार खोलने के "साधन" हैं। अंतिम विश्लेषण में, ये तीन "साध्य" और "साधन" दोनों हैं; रहस्यवादी और तीव्रगामी जीवात्मा का लक्ष्य, विश्राम स्थल, आश्रय और उसका मित्र।

थिऑसोफिकल सेवा - एक त्याग

ज्ञान प्राप्त करना और उस ज्ञान को दूसरों की सहायता के लिए उपयोग करना, इन दोनों के लिए समय, धन, आराम और सुख के कई प्रकार के त्याग की आवश्यकता होती है, और यह हम पर है कि हमारे सदस्य इस स्पष्ट तथ्य को जानें और त्याग करें। जब तक वे इन त्यागों को करने के लिए तैयार नहीं होते हैं, और उन्हें स्वतंत्र रूप से और प्रसन्नता से नहीं करते हैं, तब तक कोई भी थिऑसोफिकल लॉज कुशलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकता है।

तीन मूलभूत आवश्यकताएं – रुचि, सहानुभूति और त्याग किसी भी लॉज की कार्यवाही के लिए सही प्रकार की नींव प्रदान करती हैं और थिऑसोफिकल प्रभाव का एक मजबूत केंद्र बनने के लिए लॉज की क्षमता इस बात पर निर्भर करेगी कि लॉज के सदस्यों के पास ये योग्यताएं किस हद तक हैं।

सदस्य के चरित्र और दृष्टिकोण में एक समग्रता से आवश्यक परिवर्तन केवल अधिक अध्ययन, चिंतन, जीवन की समस्याओं के साथ वास्तविक संपर्क, अपने आदर्शों के लिए त्याग और उन लोगों, जो अधिक

अनुभवी हैं और इसलिए उनके पास जीवन की गहरी समस्याओं की बृहत्तर समझ है, के प्रेरणादायक उदाहरण के माध्यम से ही लाए जा सकते हैं।

कार्य को सफल बनाने के लिए, कार्यकुशलता के इन सिद्धांतों के लिए निरंतर सतर्कता, स्वैच्छिक त्याग और कठोर दृढ़ संकल्प की आवश्यकता होती है।

गुह्य रूप से, अपने आप को 'शाश्वत के लिए' त्याग करने का कोई अन्य तरीका, साधन या बिधि नहीं है, सिवाय इसके कि जीवन का सामूहिक आत्मा, जो अकेले मानवता के सर्वोच्च दिव्य आयाम में सन्निहित है और (हमारे लिए) इसका प्रतिनिधित्व करता है, के लिए काम करना और स्वयं को त्यागना।

थिऑसोफिस्ट का वर्णन करते हुए कहा गया है कि – "औसत समझ की क्षमता वाला और तत्त्वमीमांसा की ओर झुकाव वाला कोई भी व्यक्ति; शुद्ध, निस्वार्थ जीवन का, जिसे स्वयं सहायता प्राप्त करने की तुलना में अपने पड़ोसी की सहायता करने में अधिक आनंद मिलता है; जो दूसरे लोगों की खातिर अपने सुखों का त्याग करने के लिए हमेशा तैयार रहता है; और जो सत्य, अच्छाई और प्रज्ञा को उन गुणों के लिए ही प्यार करता है, न कि उस लाभ के लिए जो वे प्रदान कर सकते हैं – वह थिऑसोफिस्ट है। थिऑसोफिस्ट वह है, जो थिऑसोफी करता है"।

स्व-निषेध से सुख, शान्ति और परिपूर्णता

स्व-निषेध (Self-Abnegation) को सभी धार्मिक परम्पराओं में महत्व दिया गया है। यह स्व-निषेध भौतिक स्तर, भावनामय स्तर और मानसिक स्तर तीनों पर लागू होता है। भौतिक स्तर पर इसका सीधा अर्थ होता है कि हम अपने जीवनयापन की सुविधाएं कम रखें जिससे हमें इनके रखरखाव और उनके हिसाब-किताब रखने में अधिक समय व्यतीत न करना पड़े। पतंजलि के अष्टांग योग सूत्र में जो पहला अंग यम है उसमें 'अपरिग्रह' सम्मिलित है। इसका अर्थ है कि हम संचय करने की और लालची बनने की प्रवृत्तियों को समाप्त करें – पकड़ कर रखने के भाव को समाप्त करना और सरल तथा सादगी भरा जीवन जीना। हालांकि कुछ दर्शनों और विचारों में यह भी आता है कि हम अपने पास कुछ भी न रखें और तब अधिक संतुष्ट, आंतरिक शान्ति और आध्यात्मिक प्रगति होगी। जैसा कि संत कबीर ने कहा है कि –

जो जल बाढ़े नाव में, घर में बाढ़े दाम।
दोनों हाथ उलीचिए, यही सयानो काम।।

खलिल जिब्रान ने कुछ इसी तरह का संदेश दिया। एक यूनानी संत की कहानी में यह आता है कि वह अपने साथ केवल एक लकड़ी का कटोरा रखते थे जिसमें वह भोजन करने और पानी पीने दोनों काम करते थे। एक बार ग्रामीण इलाके में जाते हुए उन्होंने कुछ बच्चों को चुल्लू से पानी पीते हुए देखा तो उन्होंने सोचा कि वह भी चुल्लू से पानी पी सकते हैं और हाथ में ही लेकर भोजन कर सकते हैं। इसलिए कटोरे को भी अनावश्यक समझ कर फेंक दिया। यह संभव है, लेकिन भौतिक स्तर पर एक चरम् निषेध हो जाता है।

थिऑसोफिकल शिक्षाओं में यह कहा गया है कि त्याग आवश्यक है

किन्तु अविवेकपूर्ण त्याग ठीक नहीं है। दूसरों को भोजन देने के लिए स्वयं को भूख से मारना ठीक नहीं है, जब तक दूसरे का जीवन स्वयं अपने जीवन से अधिक महत्वपूर्ण न हो। यह दूसरा विचार इसलिए रखा गया है कि मनुष्य अपनी देह, जो उसका एक साधन है, के माध्यम से ही अपने कर्त्तव्यों को पूरा कर सकता है और सारी साधना भी कर सकता है। इसीलिए उच्च दर्शनों जैसे वेदान्त, गीता या बौद्ध धर्म में चरम् निषेध संस्तुत नहीं किया गया है किन्तु मध्यम मार्ग की संस्तुति की गयी है। थिऑसोफी स्व-निषेध सिखाती है किन्तु उतावला और व्यर्थ का स्व त्याग नही सिखाती।

शिष्य के जीवन में छोटे-छोटे त्यागों की एक लम्बी श्रृंखला में उसके निम्न स्व को समय में लगातार समाप्त होना होता है जिससे वह शाश्वत् जीवन में पहुंच सके। इस तरह त्याग का जीवन घर में, नगर में, कार्यालय में, बाजार में और सामान्य लोगों के बीच में रह कर भी जिया जा सकता है। तब त्याग एक सामान्य आदत बन जाती है जिसके लिए हमें प्रयत्न नहीं करना पड़ता। यदि हम अपने दैनिक जीवन में लगातार त्याग का जीवन जीते हैं तो हम दूसरों के लिए अपने को प्रवाहित करते हैं। और तब हम देखेंगे कि एक दिन हमने महान त्याग कर दिया और एक शिखर पर पहुंच गए, कभी यह स्वप्न में भी न सोचते हुए कि यह हमारे लिए सम्भव था।

स्व-निषेध का और अधिक महत्व भावना और मानसिक स्तर पर है। एक मनुष्य अपनी आवश्यकता अनुसार संपत्ति रखते हुए उससे लगाव समाप्त करे। जैसा कि पुरातन काल के राजा जनक का उदाहरण दिया जाता है कि राजा होते हुए भी उनका अपनी किसी भी संपत्ति से लगाव नहीं था। गीता में वर्णित कर्मयोग में अपने कार्य और उसके फल से लगाव तथा कर्ता के भाव की समाप्ति पर बल दिया गया है। आधुनिक काल में महात्मा गांधी ने यह संदेश दिया कि धनी लोग अपने धन का जो भी हिस्सा अपने पास

रखते हैं उसे एक संरक्षक (Trustee) के रूप में रखें न कि स्वामी के रूप में; और स्वयं अपने ऊपर कम से कम खर्च करते हुए शेष धन को दूसरों और विशेषकर कमजोर लोगों की भलाई के लिए लगाएं।

अब मानसिक स्तर पर स्व-निषेध के संबंध में कुछ और गहराई से देखें। साधक के लिए जो आवश्यक अर्हताएं हैं – विनम्रता, हृदय की शुद्धता और ऐसी शक्ति जिससे वह दूसरों की आंख में नगण्य प्रतीत हो। ऐसे व्यक्ति के स्वयं चुने हुए जीवन के ढंग से संसार की सेवा स्वतः होती है।

आध्यात्मिक जीवन के नियम प्रकृति के नियम ही हैं, जिनको एक साधक परामानवता की ओर अपनी तीव्र चढ़ाई के लिए प्रयोग करता है। सार में वे सरल हैं और बहुत अधिक नहीं हैं। एक नियम सबका आधार है, वह है कि विकास के प्रत्येक नई अवस्था में प्रवेश के साथ पूर्व की अवस्था के द्वारा मिले हुए संरक्षण का त्याग होता है जिसको रूपक में 'मृत्यु' कहा गया है। चूजे को बाहर निकलने के लिए अण्डे का कवच टूटना ही चाहिए। अनाज के दाने को पौधे में बढ़ने के लिए उसके छिलके को मरना ही चाहिए। इसी प्रकार मनुष्य भी जिसका कवच स्वकेन्द्रिता (selfcentredness) और विकसित स्व-पन (selfhood) है, इन दोनों को हटाना ही चाहिए और इसके स्थान पर नई अवस्था के गुणों को लाना चाहिए जो निःस्वार्थपन और अहंकार विहीनता है। आध्यात्मिक जीवन का पहला नियम है कि स्व को मरना ही चाहिए और स्वार्थपन के बाहर जाना ही चाहिए। स्व-पन, अहं को त्यागना आवश्यक है। इन टूटे हुए और त्याग किए हुए छिलकों और कवचों से एक नया मनुष्य उभरता है जो अहं-विहीन होता है और सभी व्याप्त जीवन के साथ अधिक से अधिक एकत्व का अनुभव करने लगता है। मनुष्य के लिए इस प्रकार जीवन जीना, एक निःस्वार्थपन, स्वदान और स्वसमर्पण वाला जीवन होता है जो परिपूर्ण जीवन के रूप में पूर्णतया पुष्पित होता है।

ब्लावत्सकी अपने लेख Occultism v/s The Occult Arts में लिखती हैं: "विचार और कार्य में बिना शर्त के और पूर्णतया स्व का महान त्याग ही *सही गुप्त विद्या* (*Occultism*) *या थिऑसोफी* है। यही परमार्थ है। यही परोपकारिता है। और यह उसको जो इसका अभ्यास करता है जीवन की श्रेणियों की गणना से एकदम बाहर फेंक देता है। जैसे ही उसने कार्य के लिए प्रतिबद्ध किया है, 'वह स्वयं अपने लिए नहीं बल्कि संसार के लिए जीता है'। परिवीक्षा (probation) के आरम्भिक़ वर्षों में बहुत कुछ क्षमा किया जाता है किंतु जैसे ही वह शिष्य के रूप में स्वीकार किया जाता है उसके व्यक्तित्व को पूर्णतया समाप्त होना चाहिए और उसको *प्रकृति में केवल एक लाभदायक बल* बन जाना चाहिए।"

जिद्दू कृष्णमूर्ति कहते हैं कि प्रायः हम लोग विखण्डित जीवन जीते हैं – राष्ट्रीयता, परिवार, धर्म आदि आदि के भेदभाव के साथ। यह अलगावपन 'स्वयं' और 'दूसरा', 'तुम' और 'मैं', 'हम' और 'वे' में भेदभाव करता है। हमारे आकस्मिक विचार अपने भूतकाल के संग्रहीत विचारों से ही उठते हैं और जो भूतकाल के ज्ञान और अनुभव पर आधारित होते हैं। यदि मन इसको देख सके, समझ सके और इससे परे जा सके तब वहां विभाजन नहीं होगा। एक व्यक्ति को अपने जीवन का अर्थ पता करना चाहिए, केवल समझ से नहीं किन्तु पूर्णतया देखते हुए कि जीने का अर्थ क्या है? एक व्यक्ति को प्रश्न पूछना चाहिए कि वास्तविक जीना क्या है और क्या एक व्यक्ति एक पूर्ण समग्र स्नेह, करुणा, कोमलता और प्रेम भरा जीवन जी सकता है? एक व्यक्ति को स्वयं अपने लिए उस असाधारण चीज जिसको मृत्यु कहा जाता है, का भी अर्थ समझना चाहिए। ... ये हिस्से नहीं हैं किन्तु पूर्ण गति है तथा जीवन की समग्रता है। यह बड़ा सरल है यदि कोई स्वयं अपने को, अपने कार्य को देखता है, अपने विचारों, भावनाओं और निष्कर्षों को देखता है। एक व्यक्ति को यह प्रश्न पूछना ही चाहिए कि क्या उसका चेतन मन,

अवचेतन को इतनी पूर्णतया देख सकता है कि उसकी पूरी सामग्री को देख सके और उसको समझ सके जो उसी का भूतकाल है। यह एक समालोचनात्मक (critical) क्षमता चाहता है न कि स्वयं से पोषित आलोचना (self-opinionated criticism)। यह मांग करता है कि एक व्यक्ति को देखना चाहिए कि यदि वह व्यक्ति वास्तव में जागरूक है तो चेतना की पूर्णता में विभाजन समाप्त हो जाता है। वह सजग अवस्था केवल निर्णयविहीन समालोचक स्वजागरूकता में ही संभव है। जीवन की पूर्ण गति को केवल एक इकाई के रूप में समझना तभी संभव है जब हमारी पूर्ण चेतना में स्वयं अपने धारणाओं, सिद्धान्तों, विचारों और 'मैं' तथा 'दूसरे' में विभाजन समाप्त हो।

जीने को एक सकारात्मक क्रिया समझने के लिए – करना, सोचना, हलचल, संघर्ष, डर, दुख, अपराध भावना, महत्वाकांक्षा, प्रतियोगिता, सुख, दुख के साथ सुख की वासना, सफल होने की इच्छा ही माना जाता है। ऐसी सकारात्मकता का निषेध ही वास्तविक सकारात्मकता है। इस तथाकथित जीना जो भद्दा, अकेलापन, डरावना, क्रूर, हिंसक, बिना दूसरे का संज्ञान लिए हुए होता है, उसका निषेध ही अत्यंत सकारात्मक कार्य होता है। जीना, प्रेम करना और मरना एक ही चीज है – जो पूर्णतया जीना होता है। ... ऐसे जीने में ही परमानन्द के विरल क्षण होते हैं जिसका न कोई भूतकाल हो और न ही भविष्य।

कृष्णमूर्ति बड़े स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि मन को संगठित विश्वासों, सभी पारम्परिक विचारों, रूढ़िवादिता और दार्शनिक प्रणालियों, ईश्वर के बारे में जो पूर्व धारणाएं हैं, इन सब से अलग करके ही मन को पूर्णतया खाली किया जा सकता है और तभी हमारे अकेले की या सामूहिक समस्या का समाधान मिल सकता है। एक शांत मन ही स्वतंत्र मन होता है और वही

वास्तविक धार्मिक होता है। शाश्वत् को प्राप्त करने के लिए सभी ज्ञान को त्यागना होगा और मन को निश्छल और ताजगी भरा बनाना होगा। ध्यान में परिपूर्णता के लिए 'ध्यान करने वाले' की भावना से मुक्त होना पड़ेगा। इस क्रूर, हिंसक, निष्ठुर संसार में एक मनुष्य ऐसा सामान्य दैनिक जीवन जी सकता है जिसमें कोई प्रतिस्पर्धा, महत्वाकांक्षा और ईर्ष्या न हो। ऐसा जीवन जो शत्रुता न पैदा करे। धार्मिक मन एक ऐसी अवस्था है जिसमें कोई डर न हो और न ही कोई विश्वास हो किन्तु केवल क्या है – क्या वास्तव में है? ऐसे धार्मिक मन में वह शांति की अवस्था होती है जो किसी विचार से नहीं पैदा होती है किन्तु जागरूकता का परिणाम होती है। उस शांति में संघर्षहीन शक्ति की अवस्था होती है। सभी कार्य, सभी इच्छाएं, सभी भावनाएं – सभी जीवन एक शक्ति है। इस शक्ति का बहाव बिना किसी संघर्ष, घर्षण और विरोधाभास के होने देना चाहिए। तब वह शक्ति असीमित और अनंत होती है। संबंधों या विचारों में कोई भी घर्षण उस शक्ति की बर्बादी होती है।

मन को धीरे-धीरे संस्कार-मुक्त करना, तरीका नहीं होता है; चाहे हम बूढ़े हों या जवान, यह अभी हो जाना चाहिए और जीवन की पूरी प्रक्रिया एक अलग आयाम में लायी जा सकती है। एक स्वतंत्र मन ही पूर्णतया नूतन संवेदनशील, जीवन्त, सजग, तीव्र और सक्षम हो सकता है। जब मन को इस तरह नूतन कर दिया जाता है तो वह कोई भी समस्या सुलझा सकता है। एक मनुष्य जो यह जानता है कि वह शांत है, जो यह जानता है कि वह प्रेम करता है, वास्तव में नहीं जानता कि प्रेम क्या है और शांति क्या है। समझ तभी आती है जब मन एकदम शांत हो, मुक्त हो। तभी सत्यता दिखायी देती है। यदि मैं आपको समझना चाहता हूं तो मुझे शांत होना ही चाहिए और आपके प्रति कोई प्रतिक्रिया नहीं होनी चाहिए। मुझे पूर्वाग्रहीत नहीं होना चाहिए। मुझे अपने सभी निर्णयों, अनुभवों और विचारों को एक तरफ हटा देना चाहिए और तब आमने-सामने मिलना चाहिए। और जब हमारा मन

हमारे संस्कारों से मुक्त है तभी हम समझ सकते हैं। तब यह प्रश्न नहीं उठता है कि मन को किस तरह शांत किया जाए। शांतचित्त की अवस्था संकल्प शक्ति द्वारा नहीं पैदा की जा सकती और न किसी इच्छा से। यदि ऐसा किया जाता है तब ऐसा मन घेरेपन में और अकेलेपन में हो जाता है, ऐसा मन मर्त्य मन होता है और इसलिए इसमें अनुकूलन क्षमता, कोमलता और सौष्ठव नहीं रहते हैं। ऐसा मन रचनात्मक नहीं होता है। जब मन शांत होता है, ऐसी शांति जो किसी प्रयत्न का परिणाम नहीं है तो उसमें असाधारण क्रिया होती है। ऐसी असाधारण क्रिया जिसे विचार द्वारा उत्तेजित मन कभी नहीं जान सकता। उस शांति में कोई सूत्रीकरण नहीं होता है, न कोई विचार, न स्मृति। ऐसी शांति की अवस्था तभी उत्पन्न होती है और अनुभव की जा सकती है जब 'मै' की पूरी प्रक्रिया समझी जाती है। अन्यथा शांति का कोई मतलब नहीं है। केवल उसी शांति में जो परिणाम नहीं है, शाश्वत् का पता चलता है, जो समय से परे है।

प्रेम तभी होता है जब कुछ नहीं होता है, जब आप पूरे संसार का निषेध कर देते हैं, उस बड़े चीज जिसको संसार कहते हैं उसका नहीं, किन्तु केवल आपका छोटा संसार जिसमें आप रहते हैं – परिवार, लगाव, झगड़े, प्रभुत्व, आपकी सफलता, आपकी भावनाएं, आपकी अनुपालनता, आपके देवता, आपके मिथक। जब आप इस सभी संसार को नकार देते हैं और जब कुछ नहीं बचता है, कोई देवता नहीं, कोई आशा नहीं, कोई निराशा नहीं, कोई खोज नहीं, तब उस महान रिक्तता से प्रेम आता है जो एक असाधारण वास्तविकता है, ऐसा असाधारण तथ्य जो मन से नहीं उत्पन्न किया गया है। जब आप ज्ञात को पूर्णतया नकार देते हैं तभी आप जानते हैं, आपके अनुभव, आपके ज्ञान, तकनीकी ज्ञान नहीं, किन्तु आपकी महत्वाकांक्षा, आपके अनुभव, आपका परिवार, जब इनको पूर्णतया नकार देते हैं, जब इनके प्रति मर जाते हैं तब देखते हैं कि असाधारण रिक्तता है, मन में एक

असाधारण स्थान है। उसी स्थान में यह जाना जा सकता है कि प्रेम क्या है और उसमें एक अज्ञेय रचना होती है जो सम्पूर्ण शक्ति है। किन्तु उस तक आने के लिए आपको पूर्णतया आप जो कुछ जानते हैं उस प्रत्येक चीज के लिए मर जाना चाहिए और उस मरने में भी सौन्दर्य है और कभी न समाप्त होने वाली जीवनप्रद ऊर्जा होती है।

महात्मा के कुछ पत्रों में स्व-निषेध का संदर्भ आता है:

- सामान्य नियम के अनुसार, धन और ऊंचे परिवार में जन्म की तुलना में, गरीबी और विनम्र दशा, दुःख के कम कारण बनते हैं।
- हमारे सिद्धांतों को नैतिक अचार संहिता या सत्यता, शुद्धता, स्व-निषेध, ध्यान इत्यादि पर व्यावहारिक प्रभाव डालने के लिए हमें थिऑसोफी के ज्ञान को लोकप्रिय बनाने के लिए प्रचार करना है।
- उच्च दिव्य जीवन में अपने सच्चे स्व को पहचानने के लिए, हम सभी को अपने अहं, भ्रामक प्रतीत स्व से छुटकारा प्राप्त करना चाहिए।
- कठिनाइयां, स्व-निषेध, शहादत ऐसे आकर्षण हैं जो मनुष्य के हृदय पर काम करते हैं। मनुष्य के आंतरिक दयालु जीवन को प्रज्वलित करो, तुम्हें एक ऐसी ज्वाला प्राप्त होती है जिसमें सारे निम्न विचार भस्म हो जाते हैं।

ईसाई प्रथा के एक महान संत थॉमस ए कैम्पिस, जिन्होंने गरीबी, पवित्रता और अनुपालनता का व्रत लिया था, के कुछ कथन जो उनकी पुस्तक *दि इमिटेशन ऑफ क्राइस्ट* में दिए गए हैं, महत्वपूर्ण हैं :

क्राइस्ट – हे पुत्र! तुम्हें परिपूर्ण स्वतंत्रता तब तक नहीं मिल सकती

जब तक कि तुम अपने को पूरी तरह निषेध न कर दो।

सब कुछ त्याग दो और तुम्हें सबकुछ मिलेगा, अपनी इच्छाओं को छोड़कर तुम्हें शांति मिलेगी। इस पर अच्छी तरह विचार करो और जब तुम इस पर अभ्यास करोगे तब तुम्हें सभी चीजें समझ आएंगी।

मैं तुम्हें सलाह देता हूं कि अग्नि में तपाया हुआ सोना मुझसे लो जिससे तुम धनवान बनो अर्थात दिव्य ज्ञान जिसके सामने बाकी सभी चीजें नगण्य हैं, वह प्राप्त करो। इसके लिए तुम्हें पृथ्वी का ज्ञान अर्थात संसार को प्रसन्न करने का प्रयत्न और स्वयं की प्रसन्नता को त्यागना पड़ेगा।

एक मनुष्य की सही प्रगति स्वयं के निषेध में होती है और ऐसा मनुष्य अधिक स्वतंत्र और सुरक्षित होता है।

सांसारिक आदर और प्रशंसा जिससे तुम्हारा गर्व बढ़ता है, उससे दूर हटो।

परिपूर्ण विजय स्वयं अपने को जीतना ही है।

जितना ही हमारा सांसारिक स्वभाव दबाया या कम किया जाएगा उतना ही अधिक हमारे अन्दर शालीनता आती है।

जब तक तुम परिवर्तित होकर छोटे बच्चे नहीं बन जाते, तब तक तुम स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं करोगे।

इसलिए जो भी अपने को छोटे बच्चों की तरह विनम्र और सरल कर लेता है वह स्वर्ग के राज्य में महानतम होता है।

तुममें से जो विनम्र हों वे आनन्दित हों और जो गरीब हों वे प्रसन्न हों

क्योंकि ईश्वर का राज्य तुम्हारा ही है यदि तुम सत्य के मार्ग पर चलते हो।

ईश्वर अपना आशीर्वाद वहीं देते हैं जहां वे बर्तन को रिक्त पाते हैं। और जितना अधिक एक व्यक्ति सांसारिक चीजों को त्यागता है और जितना अच्छी तरह स्वयं अपने लिए मर जाता है उतनी तीव्र गति से कृपा उसकी ओर आती है और अधिक प्रचुर मात्रा में उसमें प्रवेश करेगी – उसके हृदय को महानतर ऊंचाइयों तक उठाते हुए।

भक्त को नग्न जीसस के पीछे नग्न होकर ही जाना चाहिए। इसका अर्थ है कि एक साधक को जीसस रूपी अपनी शुद्ध चेतना में जाने के लिए अपनी सभी सांसारिक भावनाओं और विचारों के परिधान को त्याग देना चाहिए। यही विचार कृष्ण से संबंधित उस कहानी में है जिसमें उन्हें गोपियों के वस्त्र को हटा देने का वर्णन आता है और जब कल्कि अवतार के बारे में कहा गया है कि वह बिना किसी हथियार के खाली हाथों से ही युद्ध करेंगे।

बाइबिल में यह संदेश दिया गया है कि जो अपने इस सांसारिक जीवन से घृणा करता है उसको शाश्वत् जीवन मिलता है। वह जो अपना जीवन प्राप्त करता है उसको खोता है, और जो अपना जीवन मेरे (क्राइस्ट) लिए खोता है उसको प्राप्त करता है।

विनम्रता, स्व-निन्दा नहीं है, जैसा कई लोग सोचते हैं, किन्तु एक ऐसी नकारात्मकता जो असाधारण रूप से संवेदनशील होती है, जिसमें प्रत्येक चीज जिससे एक व्यक्ति मिलता है, सही सही और पूर्णतया प्रतिबिंबित होती है। यह विशुद्ध और परम स्व-निषेध होता है।

सच्ची विनम्रता की अवस्था में, स्वयं अपने गुणों और उत्तमता या परिपूर्णता का भान नहीं रहता। ऐसे गुण और उत्तमता उसके लिए होते ही

नहीं किन्तु केवल दूसरों के लिए होते हैं।

एनी बेसेंट अपनी पुस्तिका *दि डॉक्टरीन ऑफ़ दि हार्ट* में लिखती है – एक व्यक्ति जिसकी भक्ति पूरी है – वह जो अपने कार्य और विचार में अपनी सारी शक्ति को और अपनी संपत्तियों को परम् देव को समर्पित करता है और अपने अनस्तित्व (nothingness) को तथा अलगावपन के विचार की असत्यता को जान जाता है – केवल ऐसे ही व्यक्ति के पास अंधेरी शक्तियों को पहुंचने की आज्ञा नहीं होती है और वह जीवात्मा को होने वाले प्रत्येक खतरे से संरक्षित है (पृ. 41-42)।

भगवद् गीता (अ. 18, श्लो. 66) में अर्जुन को सारी शिक्षा देने के बाद कृष्ण कहते हैं कि "सभी धर्मों को त्याग कर केवल मेरी शरण में आओ। तब तुम दुखी नहीं होगे और मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त कर दूंगा।" यह उस अवस्था को दर्शाता है जब साधक को अपने सारे सांसारिक विचारों, मान्यताओं को त्याग कर अपनी अंतर्चेतना की आवाज के अनुसार ही काम करने को कहा जाता है।

दि लाइट ऑन दि पाथ पुस्तक के आरम्भ में ही साधक के लिए निम्न चार नियम लिखे गए हैं।

- इसके पहले कि आंखें देख सकें उन्हें आंसू आने में अक्षम हो जाना चाहिए।
- इसके पहले कि कान सुन सकें उसकी संवेदनशीलता समाप्त हो जानी चाहिए।
- इसके पहले कि वाणी गुरु की उपस्थिति में बोल सके, उसमें चोट पहुंचाने की शक्ति समाप्त हो जानी चाहिए।
- इसके पहले कि जीवात्मा गुरु की उपस्थिति में खड़ा हो सके, उसके

पैर हृदय के रक्त में धुल जाने चाहिए।

ऊपर के ये सारे वाक्य, सांसारिक दृष्टि से विचित्र और विरोधाभासी लगते हैं। किन्तु ये भावनामय स्तर और आंतरिक इन्द्रियों से संबंधित कुछ अवस्थाओं को दर्शाते हैं। आंसुओं के आने में अक्षम होने का अर्थ है कि मनुष्य ने अपनी सांसारिक वृत्तियों को जीत लिया है और ऐसी साम्य अवस्था में आ गया है जब उसे व्यक्तिगत भावनाएं उद्वेलित नहीं कर सकतीं। इसमें हृदय के कठोर होने या उदासीन होने का भाव नहीं है। अपने शिक्षक की आवाज या अपनी अंतरात्मा की आवाज केवल वही सुन सकते हैं जो व्यक्तिगत जीवन के शोर से अपने को अलग रखते हैं। वाणी की रचनात्मक शक्ति तभी आती है जब उसके द्वारा किसी को दुख देने की वृत्ति समाप्त हो जाती है। फिर वाणी को बोलने के लिए सूक्ष्म ज्ञान मिलता है। वाणी में दुख देने की शक्ति में ऐसी चीजे आती है जिसे सासांरिक जीवन में महत्व देते हैं जैसे अपनी सुरक्षा में आक्रामक हो जाना इत्यादि। ऐसी वृत्तियों को त्याग कर अपने व्यक्तित्व का पूर्ण त्याग कर अपने प्रतिरक्षा और आक्रमक मन, हृदय और मस्तिष्क के सारे हथियारों को त्याग देना है। फिर ऐसा व्यक्ति किसी की आलोचना या निन्दा नहीं करेगा। अपने लिए कोई बहाना नहीं करेगा। चौथे नियम में पैरों को हृदय के रक्त से धोने का गहरा अर्थ होगा कि अपनी सुषुप्त चेतना के सभी व्यक्तिगत भावनाओं को हटा देना।

संत कबीर कहते हैं कि:
कबीरा खड़ा बाजार में, लिए लुकाठी हाथ,
जो घर जारो आपने, चले हमारे साथ।

यह उस अवस्था की बात है जब साधक भावना और विचार में सभी चीजों से अपना लगाव तथा अपने अहं को पूरा समाप्त कर देता है, तब वह आध्यात्मिक परिपूर्णता की ओर बढ़ता है।

गंध और जीव

स्टुटगार्ट के प्रोफेसर येगर ने महक के संज्ञान (sense of smell) का एक बहुत रोचक अध्ययन किया है। वह चिकित्सा शास्त्र में चिरपरिचित इस तथ्य से प्रारम्भ करते हैं कि जब एक जानवर के रक्त को गंधक के तेजाब, या वास्तव में किसी अन्य विश्लेषण करने वाले तेजाब से मिलाया जाता है, तब वह रक्त स्वयं उस जानवर की तरह ही महकता है। यहां तक कि रक्त के सूखने के बहुत देर बाद तक ऐसा होता है।

इसके पहले हम कुछ और वृत्तांत देखें, हम यह देखें कि किसी जानवर की महक से क्या समझना है। किसी जानवर के मांस में और उसके मांस के कुछ भागों में भी एक शुद्ध विशिष्ट महक अंतर्निहित होती है। इस महक को सबसे अच्छी तरह अनुभव किया जाता है, जब मांस धीरे-धीरे पानी में उबल रहा हो। उस झाग में जानवर का विशिष्ट स्वाद और महक होता है – इसको विशिष्ट इसलिए कहा जा रहा है, क्योंकि प्रत्येक प्रजाति, बल्कि प्रत्येक प्रजाति के प्रत्येक प्रकार के जानवर का अपना विशिष्ट स्वाद और महक होता है। ऐसी महक को जानवर का विशिष्ट सुगंध (scent) कह सकते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि एक जानवर की सुगंध, उन सभी गंधों – जो उस जानवर के अंग-प्रणाली में विभिन्न स्रावों (secretions) और मलत्याग (excretions): पित्त, आमाशयिक रस (gastric juice), पसीना, इत्यादि के साथ उत्पन्न होते हैं – से बिल्कुल अलग होती है। ये गंध, जानवरों की अलग-अलग प्रजातियों और उनके विभिन्न प्रकारों की, भिन्न-भिन्न होती हैं। बकरी, भेड़, गधा की त्वचीय सांस (exhalation) एक दूसरे से अधिक भिन्न होती है; तथा उसी तरह की भिन्नता इन जानवरों के सभी अन्य बहि:स्राव (effluvia) में भी होती है। वास्तव में, जहां तक सूंघने वाला अनुभव है, हम यह कह सकते हैं कि एक निश्चित प्रजाति के जानवरों के प्रत्येक स्राव और मलत्याग की गंध उसकी

स्वयं निराली होती है, और दूसरे प्रजातियों के समान उत्पाद से विशेषतया भिन्न होती है।

एक जानवर का भोजन बदल कर, हम ऊपर वर्णित सभी गंध (odour), सुगंध (scent) तथा महक (smell) को काफी बदल सकते हैं; फिर भी वे सर्वदा अपनी विशिष्ट प्रकार की गंध को बनाए रखेंगे। यह सभी विशुद्ध अनुभव की चीज है।

ये सभी गंधयुक्त (odorous) पदार्थ अधिक फैलने वाले होते हैं, वे पूरी अंग प्रणाली में रिसे होते (permeate) हैं, और उनमें से प्रत्येक संग्रहित होकर जीवित जानवर की महक बनाते हैं। यह कुल मिलाकर एक बाहर निकलने वाली महक जानवर की सुगंध से प्रभावित होती है। आगे के वर्णन में इन बाहर निकलने वाली महक को, जानवर की सुगंध (scent) के बजाय, केवल महक (smell) कहा जायेगा।

प्रोफेसर येगर ने पाया कि तेजाब से मिलाये रक्त से, हलके या तेज तेजाब के अनुसार जानवर की सुगंध या महक निकल सकती है। एक तेज तेजाब, रक्त को तेजी से विघटित करते हुए, जानवर की महक को निकालता है; एक हल्का तेजाब, जानवर की सुगंध को निकालता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक किसी प्रजाति के जानवर के रक्त की प्रत्येक बूंद में, या यूं कहें कि इसके प्रत्येक अणु में, सम्बंधित जानवर, सुगंध और महक दोनों आयामों की गंध विशेषता में, पूर्णतया द्योतित होता है।

तब हम पाते हैं, एक ओर हमारे सम्मुख यह तथ्य कि जहां भी जंतु साम्राज्य में आकर, रूप तथा बनावट की विभिन्नता के साथ, इतना भिन्न कि इसका स्वयं का एक वर्ग, श्रेणी, या एक जाति बनता है, वहां हमें उसी समय,

एक अलग और विशिष्ट सुगंध या महक मिलती है। दूसरी ओर हम जानते हैं कि ये विशेष गंध निरपवाद रूप से, जानवर के जीवन-रक्त के साथ अंतर-मिश्रित होते हैं। और अंतिम तौर से, हम यह जानते हैं कि बाहरी संसार से लिये भोजन के रूप में इन विशिष्ट गंधों का कोई कारण नहीं हो सकता। तब हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि वे जानवर के आंतरिक गुण हैं; दूसरे शब्दों में वे सम्बंधित जानवर के विशिष्ट प्रोटोप्लाज़्म से सम्बद्ध होते हैं।

जब हम याद करते हैं कि यह प्रयोग की महत्वपूर्ण परीक्षा में सिद्ध है, तब हमारा यह निष्कर्ष लगभग निश्चयता प्राप्त करता है – कि यह पता करने के लिए कि रक्त का सार घटक क्या है, हमें रक्त को केवल विघटित करने की आवश्यकता है।

अब प्रोटोप्लाज़्म शब्द की व्याख्या में कुछ बातें – प्रोटोप्लाज़्म एक मुलायम, चिपचिपा, पारदर्शक और सदृश पदार्थ, पौधे की कोशिकाओं में आसानी से दिखता है; इसकी तुलना अंडे की सफेदी (white of egg) से की जा सकती है। जब यह शांत होता है, तब सभी प्रकार के कंपन, स्फुरण (quivering) तथा स्पन्दन वाली गतियां इसके पुंज में देखी जा सकती हैं। यह सभी वनस्पति और जंतु कोशिकाओं में जीवित पदार्थ होता है; वास्तव में यह शरीर का वह अवयव है जो सचमुच में जीवनीक (vital) कार्य करता है। यह सभी जीवित मांस-तंतुओं का रचनाकारी घटक है। जीवनीक क्रिया (vital activity), इस शब्द के वृहत्तम अर्थ में, स्वयं को अंकुर के पूरी अंग-प्रणाली में विकास में व्यक्त करती है, अपने माता-पिता के प्रकार को दुहराते हुए, तथा बाद में उस अंग-प्रणाली को सम्पूर्णता से रखरखाव में, और ये दोनों कार्य एकमात्र प्रोटोप्लाज़्म द्वारा ही होते हैं। निःसंदेह एक अच्छी मात्रा के रासायनिक और यांत्रिक कार्य अंग-प्रणाली में किए जाते हैं, किन्तु प्रोटोप्लाज़्म ही सभी मांस-तंतुओं (tissues) तथा ढांचों का सृजनात्मक

घटक है।

हम कह सकते हैं कि, जो तंतु और ढांचे पहले से बने हुए हैं, वे जीवन-शक्ति के क्षेत्र से बाहर हो गए हैं, क्योंकि जीवन के क्रम में उनकी नियति धीरे-धीरे विघटन और क्षय की है; वे अंग-प्रणाली से बाहर कर दिए जाने के मार्ग पर हैं, जब वे पीछे की ओर कायापलट (metamorphosis) के मापन (scale) में से हो चुके हैं; और ये ही 'जानवर की महक' को निकालते हैं। उनमें जो रहता है वह प्रोटोप्लाज़्म है।

बाहरी संसार, निरंतर क्षय होते अंगों की संरचना को बनाने के लिए सभी आवश्यक पदार्थ अंग-प्रणाली को भोजन के रूप में प्रदान करता है; और संरचनात्मक बदलाव, विकास तथा वृद्धि के लिए आवश्यक वह दूसरा तत्त्व – बल का तत्त्व, बाहरी संसार से ऊष्मा के रूप में आता है। किंतु अंग-प्रणाली के विकास और रखरखाव के लिए सभी बाह्य पदार्थों को निर्देशित करने का काम – दूसरे शब्दों में अंगों की अर्थव्यवस्था के महानिदेशक का काम प्रोटोप्लाज़्म पर आता है।

यह आश्चर्यजनक पदार्थ-सत्व (substance), उच्चतम जानवर और निम्नतम पौधे में, रासायनिक और भौतिक रूप में समान होते हुए, जंतु वैज्ञानिक के लिए सर्वदा एक पहेली रहा है। प्रोटोप्लाज़्म, मनुष्य में कैसे मानवीय संरचना बनाता है; पक्षी में पक्षी की संरचना, आदि, आदि, जबकि प्रोटोप्लाज़्म स्वयं हर जगह समान प्रतीत होता है? प्रोफेसर येगर को, यह दिखाने के लिए बड़ा श्रेय है कि पौधों और जानवरों की विभिन्न प्रजातियों में वही प्रोटोप्लाज़्म नहीं है; यह कि उनमें से प्रत्येक के पास, एक प्रजाति का निराला गंधीय सत्व उसके अणुओं में जड़ा हुआ रहता है, दूसरी प्रजाति का नहीं।

दूसरी ओर, वे गंधीय सत्व किसी भी प्रकार से निष्क्रिय चीज नहीं हैं, यह निष्कर्ष उनकी अधिक शीघ्र-वाष्पशीलता (volatility) से होता, यह भौतिक विज्ञान में है कि शीघ्र-वाष्पशीलता परमाणुवीय क्रिया की अवस्था के कारण होती है। प्रेवोस्ट ने गंधीय सत्व द्वारा प्रस्तुत दो घटनाओं का वर्णन किया है। एक, यह कि जब गंधीय सत्व पानी पर रखे जाते हैं, वे गति करना प्रारंभ कर देते हैं; और दूसरा, यह कि जब एक गंधीय सत्व, जैसे कपूर जैसा गंधीय सत्व, स्वच्छ कांच की प्लेट में फैले हुए पानी के पतली परत पर रखा जाता है तो पानी की वह परत सिकुड़ने लगती है। लिजॉइस ने आगे दिखाया है कि पानी पर रखे जाने के बाद गंधीय चीज के कण शीघ्रता से विभाजित होते हैं, और यह कि कपूर की या बेंज़ोनिक तेजाब की गति अवरोधित होती है या सर्वथा रुक जाती है, यदि एक गंधीय सत्व पानी, जिसमें वे गति कर रहे हैं, के संपर्क में लाया जाता है।

यह देखकर कि, जब गंधीय सत्व, द्रव वस्तु के संपर्क में आता है तो एक निराली गति करता है, और साथ ही द्रव वस्तु को गति देता है, हम न्यायसंगत ढंग से निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि प्रोटोप्लाज़्म की विशिष्ट रचनात्मक क्षमता, स्वयं प्रोटोप्लाज़्म के कारण नहीं है, क्योंकि यह हर जगह समानरूपी है, किंतु उसमें अंतर्निहित विशिष्ट गंधीय सत्व में है।

प्रोफेसर येगर के सिद्धांत को आगे देखें। प्रत्येक धातु का भी उसका स्वयं का निराला एक निश्चित स्वाद और गंध, होता है; दूसरे शब्दों में, वे भी गंधीय सत्व से समाहित रहते हैं। और यह हमें इस तथ्य की व्याख्या करने में सहायक हो सकता है कि प्रत्येक धातु जब द्रव-घोल से क्रिस्टल बनता है तो आवश्यक रूप से उसका एक विशिष्ट ज्यामितीय आकार बनता है, जिसके द्वारा उसका किसी दूसरे से अलग पहचान किया जा सकता है। उदाहरण के लिए सामान्य नमक अवश्य ही घन (cube) में क्रिस्टल बनता है, फिटकरी

अष्टभुजाकार में, और इसी तरह अन्य भी।

प्रोफेसर येगर का सिद्धांत आगे प्रकृति के दूसरे बड़े रहस्य – माता-पिता से संतान को रूपात्मक (morphological) विशेषता का हस्तांतरण – की व्याख्या करता है। यह जीव वैज्ञानिक के लिए दूसरी पहेली है। भ्रूण-अंकुर में वह क्या है जो उसमें संग्रहित पदार्थ से माता-पिता के समान एक ढांचा (frame) बनाता है? दूसरे शब्दों में वहां क्या है जो माता-पिता के रूप और प्रकृति की सूक्ष्म प्रतिलिपि बनाते हुए, प्रजातियों को बचाने की प्रक्रिया में अध्यक्षता करता है। निःसंदेह यह प्रोटोप्लाज़्म है; और स्त्री के डिंब में प्रचुर प्रोटोप्लाज़्म होता है। किंतु न तो भौतिकशास्त्री न ही रसायनशास्त्री, पक्षी के, और मानव जाति के मादा के मौलिक अंकुर (primordial germ) के बीच भेद ढूंढ़ सकते हैं।

इस प्रश्न, जिसके सामने विज्ञान उलझा हुआ है, के उत्तर के लिए हमें यह याद रखना है जो प्रोटोप्लाज़्मीय सुगंध के बारे में पहले कहा गया है। हमने पहले, सम्पूर्णता में एक जानवर की सुगंध के बारे में बात की है। तथापि, हम जानते हैं कि एक जानवर के प्रत्येक अंग और मांस-तंतु का अपना विशिष्ट सुगंध और स्वाद होता है। उसी जानवर में यकृत, तिल्ली, मस्तिष्क आदि के सुगंध और स्वाद बिल्कुल अलग होते हैं।

और यदि हमारा सिद्धांत सही है, तो यह अन्यथा नहीं हो सकता। इन अंगों में से प्रत्येक विभिन्न ढंग से बना हुआ है, और जैसे अंगों के संरचना की विविधता सुगंध की विविधता के ऊपर निर्भर मानी जाती है, तो अवश्य ही मस्तिष्क का एक विशिष्ट सुगंध होगा, तिल्ली का एक विशिष्ट सुगंध, यकृत का एक विशिष्ट सुगंध, आदि, आदि। हम जिसको एक जीवित जानवर की विशेष महक कहते हैं, वह उसके अंगों के सभी विभिन्न सुगंधों के एक सकल (aggregate) की तरह विचारा जा सकता है।

जब हम देखते हैं की गंधक के तेजाब का एक हल्का घोल, जानवर की सुगंध को रक्त से अलग करने की क्षमता रखता है, तब हम याद रखेंगे कि इस गंधीय उद्भव (emanation) में जानवर के प्रत्येक मांस-तंतु और अंग के सभी विशिष्ट सुगंध के कण हैं। जब हम आगे कहते हैं कि जीवित जानवर का प्रत्येक अंग, रक्त से चयनात्मक आकर्षण (selective affinity) द्वारा उस पदार्थ को खींचता है जो उसके अवलंब के लिए आवश्यक हैं, हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रत्येक अंग उसी समय उसी तरह के चयनात्मक आकर्षण द्वारा अपने निर्माण की आवश्यकता के लिए विशिष्ट गंधीय सत्व को खींचता है।

अब हमें केवल यह मानना है कि भ्रूण-अंकुर में, रक्त कोष की तरह, माता-पिता के विभिन्न मांस-तंतुओं और अंगों से संबंधित सभी गंधीय सत्व होते हैं, तथा हम यह समझेंगे कि अंकुर में गतिशील तत्त्व क्या है जो माता-पिता के सदृश्य और छवि में एक संतान विकसित करता है।

पौधों में पुष्पीकरण द्वारा प्रजनन का कार्य होता है, और उस प्रक्रिया में गंधीय उद्भव को अच्छी तरह जाना जाता है। यह विश्वास करने के लिए दृढ कारण है कि कुछ उसी तरह जानवरों के मामले में भी होता है, जैसे गर्भविज्ञानी जिसको रज – वीर्य की आभा (aura seminalis) कहते हैं, उसकी एक जांच से देख सकते हैं।

अब हम जांचें कि बाहरी संसार में उत्पन्न गंधों का जानवरों पर क्या प्रभाव होता है। उत्पन्न गंधीय अनुभव प्रिय या अप्रिय हो सकता है, एक को प्रिय और दूसरे जानवर को अप्रिय। वह क्या है जो पसंदगी या नापसंदगी की संवेदना होता है? प्रोफेसर येगर उत्तर देते हैं, यह समरसता (harmony) या विसमरसता (disharmony) है जो सभी भिन्नता बनाती है। प्रत्येक जानवर के गंध वाले अंग अपने विशिष्ट सुगंध से भरे होते हैं। जब कभी

किसी पदार्थ की गंधीय तरंगें अपने कंपन में जानवर से उद्भित होती गंधीय तरंगो के साथ समरसता में होती हैं, या दूसरे शब्दों में जब वे एक दूसरे के साथ सहमत होती हैं, तब एक सुखद संवेदना उत्पन्न होती है; जब कभी इसके विपरीत होता है तब संवेदना दुखद होती है। इस प्रकार यह गंध है जो जानवर के लिए भोजन के चुनाव को नियमित करता है। उसी ढंग से विभिन्न जानवरों के बीच सहानुभूति (sympathy) या सहज-विरोधि (antipathy) नियमित होती हैं। प्रत्येक की न केवल विशिष्ट किन्तु उसकी एक अलग सुगंध होती है। लिंगों के बीच चुनाव, या जो मानवीय प्रजाति में प्रेम कहलाता है, उसकी प्रेरणा या स्रोत दो संबंधित व्यक्तियों के बीच गंधीय समरसता का होना है।

यह अलग सुगंध – विशिष्ट गंधीय प्रकार का एक रूपांतरण – आयु के साथ, व्यवसाय के विशेष ढंग के साथ, लिंग के साथ, कुछ मनोवैज्ञानिक दशाओं के साथ और जीवन के बीच कार्यों के साथ, स्वास्थ्य के स्तर के साथ, और अंतिम किंतु कम महत्वपूर्ण नहीं, हमारे मन की अवस्था के साथ – (अपनी विशेषता की सीमाओं के अन्दर) बदलता है।

यह याद रखना है कि प्रत्येक समय जब प्रोटोप्लाज़्म विघटित होता है, तब विशिष्ट गंध निकलती है। हमने देखा है कि कैसे गंधक का तेजाब, या गर्मी, जब मांस को उबालते या भूनते हैं, तब विशिष्ट जानवर की गंध बाहर निकालता है। किन्तु विज्ञान में यह एक सिद्ध तथ्य है कि प्रत्येक भौतिक या मानसिक क्रिया के साथ तंतुओं का विघटन होता है; तदनुसार हम कह सकते हैं कि प्रत्येक भावना के साथ गंध निकलता है। यह दिखाया जा सकता है कि भावना की प्रकृति के साथ उन गंधों की गुणवत्ता भिन्न होती है। अब हम गुह्य सिद्धांत के प्रकाश में प्रोफेसर येगर के सिद्धांत से कुछ निष्कर्षों को देखें।

कृत्रिम निद्रावस्था (mesmeric) उपचार की पूरी व्याख्या अभी

बताये गए सिद्धांत में मिलती है। चूंकि जिस्म (organism) का, और विशेषतया प्रत्येक अंग का निर्माण और परिरक्षण (preservation), विशिष्ट सुगंध के कारण होता है, हम न्यायसंगत ढंग से सामान्य रूप से बीमारी को जिस्म के विशिष्ट सुगंध में गड़बड़ी (disturbance) के रूप में, और एक विशेष अंग की बीमारी को उस अंग से संबंधित विशिष्ट सुगंध में गड़बड़ी के रूप में देख सकते हैं। अभी तक आदतन हम बीमारी की सभी घटनाओं के लिए प्रोटोप्लास्म को उत्तरदायी मानते रहे हैं। अब हम जान गए हैं कि प्रोटोप्लाज़्म में यह सुगंध है जो काम करती है, इसलिए हमें बीमारी की घटना का अंतिम कारण उनमें (सुगंधों में) देखना होगा। हमने पहले लिजोइस (Ligeois) के प्रयोगों से देरवा है कि जब गंधीय द्रव्यों को पानी के संपर्क में लाया जाता है, तो वे गतिशील हो जाते हैं; और यह कि, एक गांधीय द्रव्य की गति दूसरे गंधीय द्रव्य की उपस्थिति द्वारा अवरुद्ध होती है या बिल्कुल रुक जाती है। महामारी वाली बीमारियों, और विशेषतया संक्रामक जाइमोटिक (zymotic) रोगों के स्रोत की अधिकतम संभावना कुछ स्थानीय गंधों, जो हमारे विशिष्ट अंगीय गंधों को अवरुद्ध करते हैं, में होती है। अनुवांशिक (hereditary) रोगों के मामले में, यह अधिकतम संभावना है कि रुग्ण विशिष्ट गंध माता-पिता से संतान में हस्तांतरित होते हैं, जो बीमारी का कारण है, जैसा हम जानते हैं कि बीमारी में स्वाभाविक विशिष्ट गंध बदलती है, और इसलिए रोगी माता-पिता में गंध अवश्य बदली रही होगी।

एक मेस्मेराइज़र (mesmeriser), रोगी का उपचार करने के लिए अपने दृढ़ संकल्प के साथ उस रोगी के पास जाता है। ऐसा दृढ़ संकल्प या प्रयास या तीव्र इच्छा शक्ति, उपचार की सफलता के लिए परम आवश्यक होता है, इसको सभी मेस्मेराइज़र मानते हैं। संकल्प शक्ति का प्रयास एक मानसिक क्रिया है, और इसलिए इसके साथ मांस-तंतुओं का विघटन होता है। चूंकि यह प्रयास शुद्ध रूप से मानसिक होता है, हम कह सकते हैं कि

इसके साथ मस्तिष्क और स्नायु के मांस-तंतु विघटित होते हैं। किंतु जैसा हम पहले देख चुके हैं, अंगीय तंतुओं के विघटन का अर्थ होता है विशिष्ट सुगंध का निकलना; तब मेस्मेराइज़र अपनी क्रिया में स्वयं अपने शरीर से सुगंध उद्भित करता है। और चूंकि रोगी के कष्ट का स्रोत स्वयं उसके विशिष्ट सुगंध की कमी या उस सुगंध के बदलाव में माना जा सकता है, हम अच्छी तरह देख सकते हैं कि मेस्मेराइज़र कैसे अपने मेस्मेरिक या गंधीय उद्भव से उपचार का प्रभाव ला सकता है। वह रोगी में कुछ गंधीय पदार्थों की कमी की पूर्ति कर सकता है, या वह अपने उद्भव से दूसरे गंधीय पदार्थों को ठीक कर सकता है, जैसा हम लिजोइस के प्रयोग से जानते हैं कि एक गंधीय पदार्थ दूसरे गंधीय पदार्थ पर क्रिया करता है।

गुह्य सिद्धांत (esoteric doctrine) द्वारा हमें बताया गया है कि जीवित शरीर दो भागों में विभक्त है :

1. भौतिक शरीर जो पदार्थ के पूर्णतया ठोस और मूर्त रूप से निर्मित है।
2. जीवनीक (vital) तत्त्व (या जीव), अविनाशी बल का एक रूप, और जब वह परमाणुओं के एक समूह से अलग होता है, तो तुरंत परमाणुओं के दूसरे समूह द्वारा आकर्षित होता है।

सामान्य कथन में, यह विभाजन विज्ञान की शिक्षाओं से पूर्णतया मिलता है। हम पहले निर्मित मांस-तंतुओं और शरीर की संरचना तथा इसके निर्माणक घटक प्रोटोप्लाज़्म के बारे में देख चुके हैं। निर्मित संरचना को ऐसे पदार्थ की तरह विचारा जाता है जो पहले ही जीवन के क्षेत्र से गुजर चुका है; जो इसमें जीवित है वह प्रोटोप्लाज़्म है। यहां तक गुह्य धारणा आधुनिक विज्ञान के नवीनतम अन्वेषणों से पूर्णतया सहमत है।

किन्तु जब हमें गुह्य सिद्धांत द्वारा यह बताया जाता है कि जीवनीक

तत्त्व अविनाशी है, तब हम गुप्त दर्शन, अचिंतनीय धरातल पर जाते हैं, क्योंकि हम जानते हैं कि प्रोटोप्लाज़्म उतना ही विघटनशील है जितना शरीर। यह तब तक रहता है जब तक जीवन है, और, यह कहा जा सकता है कि शरीर में केवल यही पदार्थ है जो तब तक रहता है जब तक जीवन रहता है। किंतु यह जीवन के रुक जाने के साथ मर जाता है। यह सही है कि यह एक प्रकार के पुनर्जीवन (resuscitation) में सक्षम है। क्योंकि वही मृत प्रोटोप्लाज़्म चाहे वह जानवर या पौधे का हो, हमारे और सभी जंतु संसार का भोजन बनता है, और इस प्रकार हमारी लगातार बर्बाद होती अर्थव्यवस्था (economy) को ठीक करने में सहायक होता है। किंतु इन सबके बावजूद यह शायद ही कहा जा सकता कि यह अविनाशी है; यह समीकरणीय (assimilable) है – अर्थात, इसको जीवित शरीर द्वारा लेने से यह जीवन के क्षेत्र में पुनः प्रवेश करने में सक्षम है। किंतु यह संभव अवसर किसी भी तरह इसको अविनाशीपन (indestructibility) का गुण नहीं प्रदान करता: क्योंकि यदि हम प्रोटोप्लाज़्मयुक्त मृत जानवर या पौधे को केवल अकेला छोड़ दें, तब यह – अंगों, तंतुओं, और प्रोटोप्लाज़्म समेत सड़ेगा और क्षय होगा।

हमारे और आगे की हैरानी में गुह्य सिद्धांत हमें बताता है कि जीवनीक (vital) तत्त्व केवल अविनाशी ही नहीं है, किंतु यह बल का एक रूप है, जो, जब परमाणुओं के एक समूह से अलग किया जाता है, तो यह तुरंत परमाणुओं के एक दूसरे समूह द्वारा आकृष्ट हो जाता है। तब गुह्य सिद्धांत को जीवनीक तत्त्व एक प्रकार का अमूर्त (abstract) बल प्रतीत होगा, जीवित प्रोटोप्लाज़्म में अंतर्निहित एक बल नहीं – यह वैज्ञानिक धारणा है – किंतु स्वयं में एक बल, जो जिस पदार्थ से जुड़ा है उससे सर्वथा स्वतंत्र।

यह सिद्धांत एक व्यक्ति को अधिक उलझन में डालता है, यद्यपि एक

व्यक्ति को मनुष्य के आत्मा को एक अस्तित्व की तरह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होती, क्योंकि युक्तिवाद (ratiocination) की घटनाएं सभी भौतिक घटनाओं से इतना अधिक भिन्न होती हैं कि उनको कदाचित ही हमें ज्ञात बलों द्वारा व्याख्यायित किया जा सकता है। पदार्थवादी, जो हमें बताते हैं कि चेतना, संवेदना, विचार, और स्वतःप्रवृत्ति वाली इच्छा शक्ति, जो मनुष्य और उच्चतर जानवरों के विशेषक हैं, वे पदार्थ की कुछ स्थितियों के ही परिणाम हैं, अन्य कुछ नहीं, यह केवल सबसे अच्छा व्यक्ति-निष्ठ (subjective) कथन ही बनाता है। वह यह स्वीकार करने से नहीं बच सकता कि स्वतःप्रवृत्ति (spontaneity) पदार्थ का एक गुण नहीं है। तब वह इस तर्क पर जाता है कि जिसको हम अपने में स्वतःप्रवृत्ति मानते हैं, वह आख़िरकार केवल बाहरी आवेगों का अचैतन्य परिणाम है। उसका यह तर्क उसके आंतरिक अनुभव या उसके ऐसे विचार पर आधारित होता है। किन्तु उसका यह तर्क कईयों द्वारा विवादित होता है, जो लोग अपने अनुभव या विचार को उससे कम नहीं मानते। तब यह एक पक्ष के आंतरिक अनुभव बनाम दूसरे पक्ष के आंतरिक अनुभव का प्रश्न होता है। और ऐसा मामला होने में, वैज्ञानिक पदार्थवादी को मानना ही पड़ता है कि उसका सिद्धांत, चाहे वह कितना भी सही हो, अंततः व्यक्तिपरक (subjective) अनुभव पर आधारित है, और इसलिए स्पष्ट ज्ञान की श्रेणी का दावा नहीं कर सकता। तब पदार्थवादी अभिकथन (assertion) इसके विपरीत होने पर भी, मनुष्य में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है। किन्तु जीवनीक बल केवल पदार्थ के निर्माण से सम्बंधित है। यहां हम आशा कर सकते हैं कि यदि एक व्याख्या बिल्कुल संभव है तो इस व्याख्या का पूरा आधार भौतिक और रासायनिक बलों में है। अब, भौतिक और रासायनिक बल कोई अस्तित्व नहीं हैं, वे निरपवाद रूप से पदार्थ से जुड़े होते हैं। वास्तव में वे पदार्थ से इतनी अंतरंगता से जुड़े होते हैं कि वे पदार्थ से कभी भी पूरी

तरह विलग नहीं किए जा सकते। पदार्थ की ऊर्जा अव्यक्त या प्रकट हो सकती है, और जब प्रकट, वह स्वयं को परिवेश के अनुसार एक रूप या दूसरे रूप में व्यक्त करती है; यह स्वयं को प्रकाश, ऊष्मा, बिजली, चुंबकत्व या जीवन-शक्ति के रूप में व्यक्त कर सकती है; किन्तु एक या दूसरे रूप में ऊर्जा निरंतर पदार्थ में अंतर्निहित होती है। अब बलों का पारस्परिक संबंध एक अच्छी तरह स्थापित वैज्ञानिक तथ्य है, और यह सम्भाव्य से अधिक है कि जिसको जीवनीक तत्त्व या जीवन शक्ति कहा जाता है, वह दूसरे ज्ञात भौतिक बलों की श्रंखला में एक कड़ी बनाता है, और इसलिए उनमें से किसी में परिणत हो सकता है, यह मानते हुए भी कि विशिष्ट जीवन-शक्ति जैसी एक चीज़ है। आधुनिक जीव-विज्ञान की प्रवृत्ति जीवनीक अस्तित्व को सर्वथा नामंजूर करने की है। यदि जीवनीक बल अविनाशी है तो ऊष्मा, प्रकाश, बिजली, आदि भी अविनाशी हैं; वे इस अर्थ में अविनाशी हैं कि जब कभी उनके संबंधित अभिव्यक्ति (manifestation) को निलंबित या अवरुद्ध किया जाता है, तो वे बल के किसी अन्य रूप में प्रकट होते हैं; और ठीक उसी अर्थ में जीवनीक बल को अविनाशी देखा जा सकता है; जब कभी जीवनीक अभिव्यक्ति में रुकावट लाई जाती है, तो जो जीवनीक बल के रूप में कार्य कर रहा था वह, रासायनिक, विद्युतीय बलों, आदि में स्थान लेते हुए रूपांतरित हो जाता है।

किंतु अभी जो कहा गया है, गुह्य सिद्धांत उससे कुछ बिल्कुल भिन्न चीज सिखाता प्रतीत होता है। गुह्य सिद्धांत हमें बताता है कि जीवनीक तत्त्व अविनाशी है और जब वह परमाणुओं के एक समूह से अलग होता है, तो तुरंत परमाणुओं के दूसरे समूह द्वारा आकर्षित होता है। तब वह स्पष्टतया यह मानते हैं कि जो जीवनीक तत्त्व है वह स्वयं में एक बल है, बल का एक रूप जो परमाणुओं के एक समूह को छोड़ सकता है और बिना कोई स्थानापन्न (substitute) बल पीछे छोड़ते हुए दूसरे समूह को जा सकता है। यह

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से बिल्कुल असंगत है।

प्रोफेसर येगर के सिद्धांत द्वारा इस कठिनाई की व्याख्या अत्यंत संतोषजनक ढंग से की जा सकती है।

प्रोफेसर येगर के सिद्धांत के अनुसार जीवनीक तत्त्व का स्थान प्रोटोप्लाज़्म में नहीं है किन्तु उसमे जड़े हुए गंधीय पदार्थ में है। और ऐसी स्थिति में, जीवनीक तत्त्व, जहां तक यह सजीव प्रोटोप्लाज्म को तोड़ने के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, वास्तव में अविनाशी है। आप प्रोटोप्लाज़्म को जला कर या गंधक के तेजाब या किसी अन्य अपघटनकारी (decomposing) घटक से मिलाकर नष्ट करें – गंधीय पदार्थ नष्ट होने के बजाय और अधिक प्रकट होते हैं; जिस क्षण प्रोटोप्लाज़्म का नष्ट होना या अपघटन प्रारम्भ होता है, वे गंधीय पदार्थ अपने साथ जीवनीक तत्त्व या जो प्रोटोप्लाज़्म में उस तरह काम कर रहा था, को लेकर बाहर निकलते हैं। और चूंकि वे उड़नशील (volatile) हैं, उनको शीघ्र ही अपनी प्रकृति के प्रोटोप्लाज़्म से मिलना चाहिए और फिर वहां पर उसी प्रकार की जीवंत क्रिया बढ़ाते हैं जैसा उन्होंने अपने पहले स्थान पर किया। गुह्य सिद्धांत यह सही बताता है कि वे (गंधीय पदार्थ) अविनाशी हैं, और जब परमाणुओं के एक समूह से विलग होते हैं तो तुरंत दूसरों द्वारा आकृष्ट हो जाते हैं।

एक प्रसिद्ध संस्कृत ग्रंथ है जिसमें डॉक्टर येगर के अधिकतम निष्कर्ष प्रत्याशित (anticipated) हैं और मानव जाति के यौन चयन में व्यावहारिक रूप से लागू किये गए हैं। इसमें आभा-प्रभाव का अधिक वर्णन है। डॉक्टर येगर जिसको गंध कहते हैं उसमें और जीव या प्राण, जैसा इसको भारतीय दर्शन के विभिन्न प्रणालियों में अलग-अलग ढंग से कहा जाता है, में सह-संबंध को अच्छी तरह बताया गया है। किंतु इस विषय पर उनकी टिप्पणी, जो निःसंदेह उचित है, पर गुप्त दर्शन के दृष्टिकोण से कुछ

अवलोकन मांगती हैं। एक विश्वसनीय अधिकार (authority) द्वारा जीव का वर्णन ऐसे किया गया है, "एक अविनाशी प्रकार का बल, और, जब परमाणुओं के एक समूह से अलग होता है तो तुरंत दूसरे समूह द्वारा आकृष्ट हो जाता है।" डॉक्टर सल्ज़र इससे निष्कर्ष निकालते हैं कि गुप्त दर्शन इसको एक अमूर्त (abstract) बल या शुद्ध बल के रूप में देखता है। किन्तु निश्चय ही यह आधुनिक विज्ञान के उग्र तरीके के शब्द-रचना के अनुसार बहुत अधिक मोड़ देना है, और यदि उचित सावधानी न रखी जाय तो ग़लतफ़हमी हो सकती है। गुप्त दर्शन में पदार्थ का अर्थ इस शब्द के विस्तृत भाव में अस्तित्व से होता है। विभिन्न प्रकार के अस्तित्व जैसे भौतिक, जीवनीक, मानसिक, आध्यात्मिक आदि, एक दूसरे से कितने भी भिन्न हों, फिर भी वे **एक सार्वभौम अस्तित्व** (ONE UNIVERSAL EXISTENCE), वेदांती के परंब्रह्म के हिस्से होते हुए आपस में संबंधित होते हैं। बल, परंब्रह्म की अंतर्निहित शक्ति या क्षमता या गुप्त विज्ञान का "पदार्थ" है जो विभिन्न रूप लेता है। यह शक्ति या क्षमता एक अलग अस्तित्व नहीं है, किन्तु स्वयं वह चीज़ है जिसमे यह अंतर्निहित रहता है, उसी तरह जैसे कि एक त्रिभुज का तीन-कोणीय चरित्र स्वयं त्रिभुज से अलग नहीं है। इससे यह अधिक स्पष्ट होगा कि गुप्त विज्ञान की नामावली को स्वीकार करते हुए अमूर्त बल कहना बिल्कुल मूर्खता होगी। जीव एक 'प्रकार का बल' है आदि जैसे कथन से अर्थ होता है कि यह एक ऐसी अवस्था में पदार्थ है जिसमें यह कुछ घटनाएं प्रकट करता है, जो यह इन्द्रियजनित अवस्था में नहीं उत्पन्न करता; या, दूसरे शब्दों में, एक विशेष अवस्था में यह पदार्थ का गुण है, जो सामान्य परिस्थिति में जिन गुणों को आधुनिक विज्ञान द्वारा ऊष्मा, विद्युत आदि कहा जाता है, उनके अनुरूप है, किंतु साथ ही उनसे बिना किसी पारस्परिक संबंध के। यहां यह आपत्ति हो सकती है कि यदि जीव आधुनिक विज्ञान के भाव में स्वयं एक बल नहीं है तो यह मृत्यु कहे

जाने वाले महान परिवर्तन के समय जिस प्रोटोप्लाज़्म में यह अंतर्निहत होता है वह परिवर्तित होता है तो यह (जीव) कैसे अपरिवर्तित रह कर बना रहता है? और यदि यह माना भी जाए कि जीव एक विशेष अवस्था में पदार्थ है, तो इस तथ्य के सामने कि अत्यंत सावधानी के जांच द्वारा भी इसको ढूंढने में सफलता नहीं मिली है, इसको हम शरीर के किस हिस्से में पायेंगे? जैसा कि पहले कहा गया है कि जीव, जीवित प्राणियों के सम्पूर्ण भौतिक संरचना में रिसता (permeating) हुआ सूक्ष्म अतीन्द्रिय (supersensuous) पदार्थ है, और जब यह ऐसी संरचना से अलग होता है तब जीवन का समाप्त होना कहा जाता है। इसलिए यह आशा करना उचित नहीं है कि शल्य-चिकित्सक के चाकू से इसको खोजा जा सके। जंतु-संरचना के साथ इसके जुड़ने के लिए परिस्थितियों का एक विशेष संग्रह आवश्यक है, और जब वे परिस्थितियां गड़बड़ाती हैं, यह उपयुक्त परिस्थितियों वाले दूसरे शरीरों द्वारा आकृष्ट होता है। डॉक्टर येगर का "गंध" स्वयं में जीव नहीं है, किंतु उन कड़ियों में से एक है जो इसको भौतिक शरीर के साथ जोड़ता है: यह स्थूल शरीर तथा जीव के बीच का पदार्थ प्रतीत होता है।

टिप्पणियां :

I. एच. पी. ब्लावत्स्की की पुस्तक "*Five Years of Theosophy*" के *Odorigen and Jiva* शीर्षक लेख पर आधारित।

II. अंग्रेजी के मूल लेख में विभिन्न स्थानों पर लिखे हुए शब्दों, जैसे scent, smell और odor के हिंदी रूपांतरण – क्रमशः – सुगंध, महक और गंध, अनुवादित सामग्री में प्रयुक्त किये गए हैं।

चक्रों का सिद्धांत

अंग्रेजी शब्द "cycle" यूनानी शब्द kyklos, जिसका अर्थ वृत्त (circle) है, से बना है। जैसे एक वृत्त दर्शाता है – घूमना, गिरना और उठना, चढ़ने के लिए उतरना, एक चक्कर (revolution) का पूरा होना जिससे एक नया चक्कर प्रारंभ हो सके, अतः चक्रों के एक नवीनीकरण की श्रृंखला को प्रदर्शित करता है। इस को बारंबारता का नियम (Law of Periodicity) भी कहा जाता है जो *दि सिक्रेट डॉक्ट्रिन* में बताए गए तीन मूलभूत सिद्धांतों में से दूसरा सिद्धांत है।

रहस्यमय नियम

संसार के सबसे पुराने धर्म वैदिक में यह सिद्धांत सर्वप्रथम प्रतिपादित किया गया और तब से धीरे-धीरे यह प्रख्यात हुआ। विभिन्न यूनानी दार्शनिकों द्वारा यह पढ़ाया गया और बाद में मध्य-युगीय थिऑसोफिस्टों ने इसका पक्ष लिया, किंतु पश्चिम के बुद्धिमान लोगों ने इसको नकारा। नियमों के विपरीत विज्ञान के लोगों ने स्वयं इस सिद्धांत को पुनर्जीवित किया। महत्वपूर्ण वैज्ञानिक प्रश्नों की तरह अत्यंत विभिन्न प्रकार की घटनाओं के आंकड़े एकत्रित करके गंभीरता से उनकी तुलना की गई है। युद्धों तथा महान व्यक्तियों के प्रकटीकरण की अवधि या चक्रों के आंकड़े, बड़े व्यावसायिक केंद्रों के विकास और प्रगति के आंकड़े; कला तथा विज्ञान के उत्थान और पतन के; उथल-पुथल जैसे भूकंपों, महामारियों; असाधारण ठंड और गर्मी की अवधियों के; क्रांतियों के चक्र, और साम्राज्यों के उत्थान तथा पतन, आदि के आंकड़े – इन सभी का सूक्ष्मतम गणितीय गणना के द्वारा विश्लेषण किया गया। अंत में व्यक्तियों तथा नगरों के नामों तथा घटनाओं में संख्याओं के गुप्त महत्व (occult significance) पर भी हमेशा ध्यान जाता है। यदि, एक तरफ, शिक्षित लोगों का एक बड़ा हिस्सा नास्तिकता तथा संदेह

की ओर भाग रहा है, तो दूसरी तरफ, हम विज्ञान में रहस्यवाद की धारा के शक्तिशाली प्रवेश का प्रमाण भी पाते हैं। यह मानवता में स्वयं को आश्वस्त करने की एक अदम्य आवश्यकता का संकेत है कि पदार्थ के ऊपर प्रमुख महत्व की शक्ति है; एक गुप्त और रहस्यमय नियम है जो संसार को शासित करता है, और जिसका हम अध्ययन करें तथा उसे ध्यान से देखें, अपने को इसके अनुकूल करने का प्रयास करते हुए, न कि अंध रूप से नकारें तथा स्वयं को व्यर्थ में नियति के चट्टान के विरुद्ध चकनाचूर कर दें। राष्ट्रों तथा बड़े साम्राज्यों के भाग्य और पराजय का अध्ययन करते हुए, इतिहास में एक समान लक्षण – अर्थात बराबर समय-अवधि के बाद वैसी ही घटनाओं की पुनरावृत्ति – देखकर कई विचारवान मनुष्य प्रभावित हुए हैं। घटनाओं के बीच यह संबंध काफी हद तक सतत पाया गया है, यद्यपि विवरणों के बाह्य रूपों में निःसंदेह भिन्नता होती है। इस प्रकार पूर्वजों द्वारा अपने ज्योतिषियों, भविष्यवक्ताओं तथा पैगम्बरों में विश्वास, उनके द्वारा अपने बारे में कई महत्वपूर्ण भविष्यवाणियों को जांच कर, पैदा हुआ, भविष्य की घटनाओं की इन भविष्यवाणियों में बिना किसी चमत्कारी चीज की आवश्यकता को मानते हुए। भविष्यवक्ताओं और शगुन बताने वालों का प्राचीन सभ्यताओं में बिल्कुल वही स्थान था जो अब इतिहासकारों, खगोलविदों तथा मौसम वैज्ञानिकों का है। पहले के द्वारा एक साम्राज्य के पतन या युद्ध में हार की भविष्यवाणी में, बाद वाले के द्वारा धूमकेतु की वापसी, तापमान में परिवर्तन आदि की भविष्यवाणी की तुलना में कोई अधिक आश्चर्यजनक चीज नहीं थी। दोनों ने सटीक विज्ञान का अध्ययन किया; जैसे आज का खगोलविद अपना विचार गणितीय गणना से बनाता है, पुराने समय का ज्योतिषी अपनी भविष्यवाणी वैसे ही पैने तथा गणितीय ढंग से सर्वदा पुनरावृत्ति होती घटनाओं का निरीक्षण करके करता था। और, क्योंकि इस पुरातन विज्ञान का रहस्य अब लगभग खो गया है, तो क्या यह कहने के लिए किसी को

अधिकार देता है कि इसका अस्तित्व कभी नहीं था, या उसमें विश्वास करना 'जादू' या 'चमत्कार' और उसी समान कुछ मानना है? *नोवोये व्रेमजा* में एक लेखक कहते हैं, "यदि, आधुनिक विज्ञान द्वारा प्राप्त की हुई प्रसिद्धि के कारण, भविष्य की घटनाओं की भविष्यवाणी के दावे को या तो बच्चों का खेल अथवा सुचिंतित धोखा मानना चाहिए, तब हम विज्ञान की ओर इंगित कर सकते हैं कि उसने इस प्रश्न को लिया है तथा अभिलेख पर डाला है, कि क्या घटनाओं की सतत पुनरावृत्ति में एक निश्चित काल-चक्र (periodicity) है या नहीं है; दूसरे शब्दों में, कि क्या ये घटनाएं एक तय तथा निर्धारित वर्षों की अवधि में प्रत्येक राष्ट्र में फिर से होती हैं : यदि ये काल-चक्र अंध संयोग के हैं या उन्हीं प्राकृतिक नियमों पर निर्भर हैं, जो नियम मानव-जीवन की घटनाओं को नियंत्रित करते हैं।" निःसंदेह बाद वाला सही है।

कुछ कृतियां और शोध

इस रहस्यमय विषय पर कई विद्वतापूर्ण कृतियां आई हैं, और उनमें से कुछ कृतियों तथा गणना का उल्लेख हेलेना पेत्रोव्ना ब्लावत्स्की ने अपनी पुस्तक *Five Years of Theosophy* के एक लेख *The Theory of Cycles* में किया है जहां वह लिखती हैं : एक सुप्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक, डॉ. इ. जस्से द्वारा रचित बहुत विचारोत्तेजक कृति सांख्यिकी के प्रशिया की (Prussian) पत्रिका में छपी, जिसमें चक्रों के पुरातन सिद्धांत की शक्तिशाली ढंग से पुष्टि की गई है। ये अवधियां जो सर्वदा-पुनरावृत्ति करती घटनाओं को लाती हैं, अत्यंत छोटे – यों कहें तो दस वर्षीय चक्र, तथा ऐसे चक्रों तक पहुंचती हैं जो 250, 500, 700, और 1000 वर्षों में पुनरावृत्ति करते हैं, तथा एक दूसरे के अन्दर। विभिन्न पुनरावृत्ति अवधि वाले सभी चक्र, महायुग या मनु की गणना के चक्र के अन्दर हैं, जो स्वयं दो शाश्वतों

(eternities) – प्रलय या ब्रह्मा की रात्रि – के बीच घूमते हैं। जैसे, पदार्थ के वस्तुनिष्ठ संसार में, या प्रभावों की प्रणाली, छोटी राशियां और प्रत्येक ग्रह सूर्य के चारों ओर खिंचते हैं, उसी प्रकार आत्मनिष्ठ के संसार, या कारणों की प्रणाली में, ये असंख्य चक्र, सभी उसके बीच खिंचते हैं जिसको सामान्य मर्त्य लोग की सीमित समझ 'शाश्वत' मानती है, तथा ऋषि और दार्शनिक की अधिक गंभीर अंतःप्रज्ञा, सीमित होकर भी, बड़े शाश्वत (THE ETERNITY) के अन्दर एक शाश्वत (eternity) की तरह देखती है। इस दिशा में परीक्षण के लिए डॉ. जस्से ने इतिहास में लिखित सभी युद्धों के सांख्यिकी अन्वेषणों को चुना, जो विषय वैज्ञानिक सत्यापन के लिए आसान है। अपने इस विषय को सरलतम तथा अत्यंत आसानी से समझने के ढंग से व्याख्या करने के लिए डॉ. जस्से ने युद्धों तथा शांति के अवधियों को पुराने संसार के क्षेत्र पर छोटी और बड़ी तरंग-रेखाओं की तरह दर्शाया। किंतु इस युद्ध और शांति की अवधियों के चक्र को बताने के पहले वह संसार के बड़े साम्राज्यों के उत्थान तथा पतन के अभिलेख को लाकर दर्शाते हैं कि उनसे किस हद तक की क्रिया विश्व के इतिहास में हुई। वह इस तथ्य को दिखाते हैं कि यदि हम पुराने संसार को छः भागों में बांटे – पूर्वी, मध्य, और पश्चिमी एशिया, पूर्वी और पश्चिमी यूरोप, तथा मिस्र – तब हम यह आसानी से समझ पाएंगे कि प्रत्येक 250 वर्ष में एक विशाल तरंग इन क्षेत्रों पर गुजरती है, प्रत्येक क्षेत्र में उसकी बारी में उन घटनाओं को लाती हुई, जो पहले हुई थी। इस तरंग को "250 वर्षों के चक्र" की ऐतिहासिक तरंग कह सकते हैं।

इन तरंगों में से पहली 2000 वर्ष ईसा पूर्व चीन में आरंभ हुई, इस साम्राज्य के "स्वर्णिम युग" में, दर्शन का, खोजों का, सुधारों का युग; 1750 ईसा पूर्व में मध्य एशिया के मंगोल लोगों ने एक शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित किया। 1500 ईसा पूर्व में, मिस्र अपने अस्थायी पतन (degradation) से उठता है और अपना बोलबाला यूरोप के कई हिस्सों

तथा एशिया पर विस्तृत करता है; और 1250 ईसा पूर्व के लगभग, ऐतिहासिक तरंग पहुंचती है और पार कर पूर्वी यूरोप को जाती है, इसको आर्गोनॉटिय (Argonautic) अभियान के साहस से भरती हुई, तथा ट्रॉय की घेराबंदी पर 1000 ईसा पूर्व समाप्त हो जाती है।

दूसरी ऐतिहासिक तरंग लगभग उसी समय मध्य एशिया में प्रकट होती है। 750 ईसा पूर्व के पास स्काइथियन लोग मैदान छोड़ते हैं, और समीपस्थ देशों में बस जाते हैं, 500 ईसा पूर्व के लगभग स्वयं को दक्षिण तथा पश्चिम की ओर ले जाते हैं, पश्चिम एशिया में प्राचीन परसिआ के लिए वैभव का युगारंभ होता है; और तरंग पूर्वी यूरोप पर जाती है जहां लगभग 250 ईसा पूर्व में, यूनान अपनी संस्कृति तथा सभ्यता के उच्चतम स्तर पर पहुंचता है – और फिर आगे पश्चिम, जहां क्राइस्ट के जन्म पर, रोम का साम्राज्य, शक्ति तथा महानता में अपनी पराकाष्ठा पर होता है।

फिर, इस अवधि पर हम सुदूर पूर्व में तृतीय ऐतिहासिक तरंग उठती हुई पाते हैं। लगभग इसी समय दीर्घकालीन क्रांतियों के पश्चात, चीन एक बार फिर एक शक्तिशाली साम्राज्य बनता है, तथा इसकी कला, विज्ञान और वाणिज्य फिर पनपते हैं। तब 250 वर्षों के बाद हम मध्य एशिया के बीच हूणों को प्रकट होते पाते हैं; 500 ईसवी सन में एक नया और शक्तिशाली परसिआ राज्य बनता है; 750 ईसवी सन् में पूर्वी यूरोप में बीजान्टिन साम्राज्य; तथा 1000 ईसवी सन् में इसके पश्चिमी ओर – दूसरी रोम शक्ति उभरती है, पोप का साम्राज्य, जो शीघ्र ही धन और प्रतिभा में असाधारण विकास पर पहुंचता है।

उसी समय चौथी तरंग पूर्व से पहुंचती है। चीन फिर पनपता है; 1250 ईसवी सन् में मध्य एशिया से मंगोल की तरंग बढ़कर रूस सहित विशाल क्षेत्र को ढ़कती है। 1500 ईसवी सन् के लगभग, पश्चिम एशिया में

ओटोमन साम्राज्य अपनी पूरी शक्ति में उठता है, और बाल्कन प्रायद्वीप को जीतता है; किंतु उसी समय, पूर्वी यूरोप में रूस तारतार की अधीनता को फ़ेंक देता है और 1750 ईसवी सन् के लगभग साम्राज्ञी कैथरीन के शासन काल में अप्रत्याशित ऐश्वर्य को उठता है तथा अपने को महिमा से ढकता है। तरंग निरंतर पश्चिम की ओर आगे बढ़ती है; और 18वीं शताब्दी के मध्य से यूरोप में क्रांतियों तथा सुधारों का युग रहा, और लेखक के अनुसार, "यदि भविष्यवाणी करना जायज़ हो, तब 2000 ईसवी सन् के लगभग पश्चिमी यूरोप संस्कृति और प्रगति की उस अवधि में रह रहा होगा जो इतिहास में ऐसा विरला होता है।" इसका संकेत लेते हुए रुसी प्रेस विश्वास करता है कि "उन दिनों की ओर पूर्वी प्रश्न अंततः हल किया जाएगा, यूरोप की राष्ट्रीय असहमतियां समाप्त होंगी तथा नई सहस्त्राब्दी में सेनाएं समाप्त होंगी और सभी यूरोपियन देशों की संधि बनेगी।" * जापान और चीन में पुनरुत्थान के संकेत तेजी से बढ़ रहे हैं जैसे कि सुदूर पूर्व में एक नई ऐतिहासिक तरंग के उठने को इंगित करते हुए।

*(बाद में यूरोपीय संघ बनने से वह विश्वास ठीक ही निकला)

यदि हम 250 वर्ष के चक्र से नीचे चलें तो प्रत्येक शताब्दी, और प्राचीन इतिहास की घटनाओं को समूह में देखें, साम्राज्यों के विकास और उत्थान को चिन्हित करें तब हम पाते हैं कि 700 ईसा पूर्व से प्रारंभ होकर शतवर्षीय तरंग चलती है, निम्नलिखित राष्ट्रों को, प्रत्येक को उसकी बारी में प्रसिद्धि पर लाती है – सीरिया, मेंडेस, बेबीलोन, पर्शिया, यूनान, मकदूनिया, कार्तागेनिआ, रोम, और जर्मनी।

यूरोप में युद्धों की चित्तग्राही (striking) बारंबारता भी डॉ. इ. जस्से द्वारा देखी गई। 1700 ईसवी सन के साथ आरम्भ होकर प्रत्येक दस वर्ष में या तो युद्ध अथवा क्रांति का होना पाया गया। वही रहस्यमय नियम इन

घटनाओं को खगोलीय तरंग या चक्र, जो सौर्य धब्बों कि बारंबारता को नियमित करता है, से जोड़ता हुआ प्रतीत होता है। ऐसी अवधियां जब यूरोपीय शक्तियों ने अत्यधिक विनाशकारी ऊर्जा दिखाई, पचास वर्ष के चक्र को दर्शाईं। इतिहास के प्रारम्भ से इसका वर्णन करना बहुत लम्बा तथा अरोचक होगा। इसलिए हम अपना अध्ययन सीमित करके 1712 ईसवी सन् से प्रारंभ करें, जब सभी यूरोपीय राष्ट्र एक दूसरे से उत्तर में लड़ रहे थे, और तुर्की के युद्ध तथा स्पेन के सिंहासन के लिए युद्ध। 1761 ईसवी सन् के लगभग "सात वर्षीय युद्ध"; 1810 ईसवी सन् में नेपोलियन के युद्ध। 1861 की ओर तरंग अपने नियमित रास्ते से थोड़ी सी हटी; किंतु जैसे इसके लिए कमी पूर्ति करती, या कदाचित असाधारण बल के साथ चलायमान हुई, पूर्ववर्ती तथा बाद के वर्षों में अत्यंत भयंकर तथा रक्तरंजित युद्धों का अभिलेख इतिहास में छोड़ा – पहले क्रिमिआ का युद्ध, और बाद में अमरीका का गृहयुद्ध। रूस और तुर्की के बीच युद्धों का कालचक्र विशेष चित्र ग्राही लगता है, तथा एक बहुत विशिष्ट चरित्र की तरंग दर्शाती है। प्रथमतः तीस वर्षों के चक्र के बीच अंतराल – 1710, 1740, 1770 तब ये अंतराल कम होते हैं और हम बीस वर्ष का चक्र पाते हैं – 1790, 1810, 1829-1830; तब अंतराल फिर बढ़ता है – 1853 और 1878। किन्तु यदि हम पूरी अवधि में युद्ध-समान चक्र पर ध्यान दें, तब हम 1768 से 1812 के बीच – तीन यद्ध, प्रत्येक सात वर्ष की अवधि के, और दोनों छोरों पर दो वर्ष के युद्ध देखते हैं।

अंत में लेखक इस निष्कर्ष पर आते हैं कि, तथ्यों के प्रकाश में, संसार के राष्ट्रों में मानसिक और भौतिक बलों, दोनों की उत्तेजना में एक नियमित कालचक्र की उपस्थिति को नकारना पूर्णतया असम्भव होता है। वह सिद्ध करते हैं कि पुराने संसार के सभी लोगों तथा साम्राज्यों के इतिहास में सहस्त्राब्दियों, शताब्दियों तथा छोटे पचास और दस वर्षों की अवधि के चक्र अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनमे से कोई भी ऐतिहासिक तरंगों से प्रभावित

राष्ट्र के इतिहास में कमोबेश उल्लेखनीय घटनाओं की श्रृंखला को लाने में कभी भी असफल नहीं हुआ।

सभी इतिहासों में भारत का इतिहास एक ऐसा है जो अत्यंत अस्पष्ट और न्यूनतम संतोषजनक है। फिर भी यदि इसके क्रमागत बड़ी घटनाओं पर ध्यान दिया जाए, और इसके वर्षक्रमिक इतिहास पर अच्छी शोध की जाए, तब युद्धों, अकाल, राजनैतिक अनिवार्यताओं, और दूसरे मामलों में चक्रों का सिद्धांत यहां भी प्रत्येक दूसरे देश की तरह ही प्रभावी हुआ मिलेगा।

फ्रांस में एक मौसम वैज्ञानिक ने अत्यंत ठंडे मौसमों के आंकड़ों को संग्रहित किया, और पता किया कि जिन वर्षों में 9 की संख्या थी वे अत्यंत कड़ी ठंड के वर्ष थे। उसकी संख्याएं ऐसी थीं : – 859 ईसवी सन् में एड्रियाटिक समुद्र का उत्तरी हिस्सा जम गया था, और तीन महीनों तक बर्फ़ से ढका था। 1179 ईसवी सन् में अत्यंत सम क्षेत्रों में धरती बर्फ की कई फीट मोटी तह से ढक गई थी। 1209 ईसवी सन् में फ्रांस में बर्फ की गहराई और कड़ाके की ठंड से चारे की ऐसी कमी हुई कि अत्यधिक पशु वहां नष्ट हो गए। 1249 ईसवी सन् में रूस, नॉर्वे और स्वीडन के बीच का बाल्टिक समुद्र कई महीनों तक जमा हुआ था और आवागमन स्लेग (बर्फ पर चलने वाली बेपहिए की गाड़ी) द्वारा हुआ। 1339 ईसवी सन् में इंग्लैंड में इतना भयंकर जाड़ा हुआ कि बहुत संख्या में लोग भूख तथा संसर्ग (exposure) के कारण मर गए। 1409 ईसवी सन् में डेन्यूब नदी अपने स्रोत से लेकर काले समुद्र में मुहाने तक जम गई थी।

1469 ईसवी सन् में अंगूर के सभी खेत और बाग, तुषार के कारण नष्ट हो गए थे। 1609 ईसवी सन् में फ्रांस, स्विट्ज़रलैंड और ऊपरी इटली में लोग अपनी रोटी तथा भोजन का उपयोग करने के पहले उनको पिघलाते थे। 1639 ईसवी सन् में मार्सिल्ल्स का बंदरगाह बहुत दूरी तक बर्फ से ढक गया

था। 1659 ईसवी सन् में इटली की सभी नदियां जम गई थीं। 1699 ईसवी सन् में फ्रांस और इटली में जाड़ा अत्यधिक और सबसे लंबा था। भोजन की वस्तुओं के मूल्य इतना अधिक हो गया कि आबादी का आधा हिस्सा भूख से मर गया। 1709 ईसवी सन् में जाड़ा कम भयानक नहीं था। फ्रांस, इटली, और स्विट्ज़रलैंड में जमीन कई फीट की गहराई में जम गई थी; और दक्षिण तथा उत्तर में बहुत दूरी तक सामान्यतया खुला समुद्र बर्फ की सघन तथा कई फ़ीट गहरी पपड़ी से ढक गया था। बहुत से जंगली जानवर जंगलों में अपनी मांदों से भागकर गावों और शहरों में भी शरण लिए थे; और सैकड़ों में चिड़ियाएं जमीन पर गिर कर मर गईं थीं। 1729, 1749 और 1769 (बीस वर्षों की अवधि के चक्र) में, पूरे फ्रांस में सभी नदियां और नाले कई सप्ताहों तक बर्फ से जम गए थे और सभी फल वाले वृक्ष नष्ट हो गए। 1789 ईसवी सन् में फ्रांस में एक बार फिर बहुत भयंकर जाड़ा आया था। पेरिस में थर्मामीटर तुषार (frost) के उन्नीस अंश पर था। किंतु सबसे भयंकर जाड़ा 1829 का सिद्ध हुआ। लगातार चौवन (54) दिनों तक फ्रांस में सभी सड़कें कई फ़ीट गहरे बर्फ से ढक गईं थीं, और सभी नदियां जम गई थीं। अकाल और आपदा उस वर्ष चरम् पर पहुंची। 1839 में फिर फ्रांस में अत्यंत भयंकर और पीड़ादायक ठंडा मौसम हुआ। 1879 का जाड़ा अंक 9 का घातक प्रभाव फिर लाया। दूसरे देशों के मौसम वैज्ञानिक इसी तरह की शोध कर सकते हैं, क्योंकि यह विषय अत्यंत रोचक तथा शिक्षाप्रद भी है। यह पर्याप्त रूप से दिखाया गया है कि न तो संख्याओं के रहस्यमय प्रभाव से संबंधित पाइथागोरस के विचार, और न ही, प्राचीन विश्व-धर्मों तथा दर्शनों के सिद्धांत सतही और निरर्थक हैं।

जीवन-विकास के चक्र

पूरे समय में चक्रीय तथा कर्म के नियम के अनुसार अवतरण

(आवश्यकता) के चक्र होते हैं।

शाश्वतताएं अत्यधिक गुप्त गणना से सम्बंधित होती हैं, जिनमें सही समग्रता पर पहुंचने के लिए, प्रत्येक संख्या को 7 पर x पावर होना चाहिए : आत्मनिष्ठ या वास्तविक संसार में चक्रों की प्रकृति के अनुसार x बदलता हुआ; और वस्तुनिष्ठ या अवास्तविक संसार में महानतम से लघुत्तम विभिन्न चक्रों को दर्शाते हुए प्रत्येक संख्या को 7 का गुणक अवश्य होना चाहिए।

जीवन का विकास सात ग्लोबों पर प्रथम से सातवें ग्लोब तक सात परिक्रमा या सात चक्रों में बढ़ता है।

विश्व में कोई विशेषाधिकार प्राप्त प्राणी नहीं हैं। एक ध्यान-चोहान को ऐसा बनना पड़ता है; वह एक पूर्ण देव की तरह अचानक जीवन के स्तर पर जन्म नहीं ले सकता या प्रकट हो सकता है। वर्तमान मनवंतर के दिव्य वर्ग (celestial hierarchy) स्वयं को जीवन के अगले चक्र में उच्चतर, श्रेष्ठतर संसारों में स्थानांतरित पाएंगे, और एक नए वर्ग, जो हमारी मानवता के चुने हुए लोगों से बना होगा, के लिए स्थान बनाएगें।

होना (Being), एक परम शाश्वतता के अन्दर एक अंतहीन चक्र है, जहां सीमित तथा संस्कारग्रस्त असंख्य अंतरीय चक्र चलते हैं।

सात आयामी विकास के चक्र सात स्तरीय प्रकृति में बढ़ते हैं; आध्यात्मिक या दैवीय; मानसिक या अर्द्ध-दैवीय; बौद्धिक या ज्ञान की; वासनात्मक; सहजवृत्तीय, या अनुभूतीय; अर्द्ध-भौतिक और शुद्ध पदार्थीय या भौतिक प्रकृति। ये सभी, एक से दूसरे में गुजरते हुए, अपकेंद्रीय (centrifugal) और अभिकेंद्रीय (centripetal) के दोहरे मार्ग में, अपने चरम् तत्त्व में एक, अपने आयामों में सात, चक्रीय ढंग से विकास और प्रगति

करते हैं।

पुराण में वर्णित गरुड़ पृथ्वी से सम्बंधित महान चक्र के रुपक हैं (SD I, 366)।

ब्रह्माण्ड के जीवनों के सृष्टि का चक्र नीचे जाता है, व्यक्त "शब्द" की ऊर्जा की अपनी बढ़त, पराकाष्ठा, तथा घटाव, जैसे सभी चीजें, चाहे उनकी कालावधि (duration) कितनी भी लंबी हो, अस्थायी होती हैं। रचनात्मक बल सारतत्त्व की तरह शाश्वत है; अपने सात आयामों में प्रत्यक्ष व्यक्त की तरह, इसका एक आरंभ है, और इसलिए इसका एक अंत अवश्य होना चाहिए। उस अंतराल में इसकी क्रिया की अवधियां तथा विश्राम की अवधियां होती हैं, और ये ब्रह्मा के "दिन" तथा "रात्रि" हैं। किन्तु ब्रह्म, सारतत्त्व, कभी विश्राम नहीं करता है, क्योंकि यह कभी परिवर्तित नहीं होता और सर्वदा है, यद्यपि इसको किसी जगह 'होना' नहीं कह सकते (SD I, 373-74)।

संपूर्ण पुरातन काल में वह दर्शन माना गया जो आत्मा का पदार्थ में यौगिकता (involution), प्रगतिशील, निम्नगामी चक्रीय उतार, या सक्रिय, स्व-चैतन्य विकास की शिक्षा देता है। ... पूर्वी प्रथाएं देवताओं और देवों के पतन के रूपक से भरी हैं। वे सभी, सीखने की इच्छा या ज्ञान प्राप्त करना – जानना, को 'पतन' के रूपक से व्याखित किए (SD I, 416-17)।

4,320,000 वर्ष के प्रत्येक चक्र के प्रारंभ में, सात (या कुछ राष्ट्रों में आठ) बड़े देवता चीजों की नई व्यवस्था स्थापित करने तथा नए चक्र को प्रेरणा देने के लिए उतरते हैं। आठवां देवता एकीकृत करता हुआ वृत्त या ईश्वर था, बाह्य हठधर्म में अलग और अपने समुदाय से विशिष्ट पृथक किया हुआ। ये शक्तिशाली लोग अपने महान कार्य को करते हैं, और प्रत्येक समय

जब वे हमारे मायावी परदे के अन्दर घुसते हैं, अपने आने की स्मृति में अपने पीछे चिरस्थायी स्मारकों को छोड़ जाते हैं (SD I, 434)।

प्रकृति के रहस्य के सटीक विस्तार, गहराई, चौड़ाई तथा लम्बाई, केवल पूर्व के गुह्य विज्ञान में प्राप्त किए जा सकते हैं। ये इतने विशाल और इतने गूढ़ हैं कि उच्चतम दीक्षित व्यक्तियों में से भी मुश्किल से बहुत कम ही उस ज्ञान को आत्मसात करने में सक्षम हैं। फिर भी प्रकृति की कार्यशाला में एक के बाद एक, तथ्यों और विधियों को सटीक विज्ञान में अपना रास्ता पाने की अनुमति होती है, जबकि इसके भेद को उजागर करने के लिए रहस्यमय सहायता विरले व्यक्तियों को दी जाती है। प्रजातिक विकास से संबंधित महान चक्रों के समाप्ति पर ऐसी घटनाएं सामान्यतः होती हैं (SD I, 611-612)।

गुह्य सिद्धांत "उतार और उभार, विश्राम और सक्रियता" के आवधिक चक्रों को रखते हुए ऊर्जा के एक पूर्वगामी रूप का अस्तित्व सिखाता है (SD I, 625)।

पुनरुत्थान जीवन के प्रथम स्पंदन पर, स्वभावत, "शाश्वत मे अपरिवर्त्य अंधेरा अचैतन्य की परिवर्तनीय चमक (radiance)" ब्रह्माण्ड के प्रत्येक नए पुनर्जन्म पर, निष्क्रिय अवस्था से तीव्र सक्रियता में गुजरती है; यह विभाजित होती है, और तब विभाजन में से अपना कार्य आरम्भ करती है। चक्र अपने क्रिया द्वारा उत्पन्न प्रभावों के अधीन भी होते हैं।

कर्म के चक्र का गुह्य प्रभाव वैश्विक नैतिकता पर पड़ता है। "पदार्थ के चक्र" तथा "आध्यात्मिक विकास के चक्र" होते हैं – प्रजाति के, राष्ट्र के, और अलग व्यक्ति के चक्र। प्रकृति के प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य में एक उद्देश्य होता है, जिसके सभी कार्य चक्रीय और आवधिक (periodical) होते हैं।

हमारे ग्लोब के भूगर्भीय जीवन में एक पूर्वनियति (predestination) है, जैसा इतिहास में, भूत और भविष्य, प्रजातियों तथा राष्ट्रों की नियति है। कर्म, नियति और चक्रों से इसका निकट संबंध होता है। विकास का नियम अब हमें हमारे चक्र के आरोही (ascending) चाप के साथ ले जा रहा है, *जब प्रभाव एक बार फिर कारण में विलीन होकर* पुनः (अब तटस्थ) कारण बनेंगे, और सभी चीजें प्रभावों के असर से अपने मूल सामंजस्य को पुनः प्राप्त कर लेंगी। यह हमारे विशेष "परिक्रमा" का चक्र होगा, महान चक्र या महायुग की कालावधि में एक क्षण (SD I, 641)।

प्रकृति सर्वदा एक निश्चित उद्देश्य से कार्य करती है, जिसके परिणाम हमेशा दोहरे होते हैं। Isis Unveiled I के पृ. 34 में इसका वर्णन निम्न प्रकार किया गया है :

"जैसे हमारा ग्रह वर्ष में एक बार सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाता है, और उसी समय अपनी धुरी पर चौबीस घंटे में एक बार घूमता है, इसी प्रकार एक बड़े चक्र में कई छोटे चक्र, उसी प्रकार छोटे चक्रों की अवधियों का कार्य बड़े सरोस (Saros) के अन्दर पूरा होता है और पुनः आरंभ होता है।"

पुरातन सिद्धांत के अनुसार भौतिक संसार के चक्कर के साथ ज्ञान या समझ (intellect) के संसार में समान चक्कर उपस्थित होता है – भौतिक विकास की तरह संसार का आध्यात्मिक विकास चक्रों में बढ़ता है।

इस तरह हम इतिहास में मानवीय प्रगति के प्रवाह में उतार और चढ़ाव का एक नियमित प्रत्यावर्तन (alternation) देखते हैं। संसार के बड़े राज्य और साम्राज्य अपनी महानता की पराकाष्ठा पर पहुंच कर, उसी नियम के तहत फिर उतरते हैं, जिस नियम के तहत वे चढ़े थे; जब तक कि निम्नतम

बिंदु पर पहुंच कर, मानवता फिर अपना जोर देकर एक बार फिर चढ़ती है, चक्रों द्वारा चढावी प्रगति के नियम से जो ऊंचाई प्राप्त करती है, वह उस बिंदु से कुछ अधिक ऊंचा होता है जहां से वह पहले उतरी थी।

किंतु ये चक्र – पहियों के अन्दर पहिये, जिनको इतने व्यापक और प्रवीणता से भारत में विभिन्न मनु और ऋषियों के द्वारा तथा पश्चिम में कबीरी द्वारा प्रतीक बनाए गए – एक ही समय में सभी मानव समाज को प्रभावित नहीं करते हैं – जैसा चक्रों के प्रजातीय विभाग में समझाया गया।

भव्य चक्र, एथेरेअल रूप के प्रारंभिक मनुष्य से मानव समाज की प्रगति का समावेश करता है। यह मनुष्य के प्रगतिशील विकास – एथेरेअल से नीचे अर्द्ध एथेरेअल तथा शुद्ध भौतिक; चर्म के कोट और पदार्थ से विमोचन (redemption), उसके बाद अपने मार्ग को निम्नगामी चलाकर और तब उर्ध्वगामी होकर परिक्रमा के चरम् बिंदु पर फिर मिलने तक – के अंतरीय चक्रों में से दौड़ता है, जब मन्वंतरीय सर्प "अपनी पूंछ को निगलता है" और सात छोटे चक्र गुजर जाते हैं। ये महान प्रजातीय चक्र हैं जो उस विशेष प्रजाति में समाहित सभी राष्ट्रों और जनजातियों को समान रूप से प्रभावित करते हैं; किंतु उनके अन्दर छोटे तथा राष्ट्रीय और जनजातीय चक्र भी होते हैं जो एक दूसरे से स्वतंत्र होकर चलते हैं। वे कर्म के चक्र कहलाते हैं - कर्म-नियति, यद्यपि बिना किसी गुण के, परम और अडिग तत्त्व, राष्ट्रों और मर्त्यों का सृजक (creator) है, लेकिन एकबार सृजित होकर वे ही इसको प्रकोप या पुरस्कार देने वाला देव बनाते हैं।

पुरातन लोगों के लिए चक्र का अर्थ, घटनाओं के केवल अनुक्रमण (succession), या कमोबेश लम्बे कालावधि की आवधिक समय के स्थान, की अपेक्षा कुछ अधिक था। क्योंकि वे मौसमों या कुछ नक्षत्रों के आवधिक वापसी की अपेक्षा सामान्यतः एक अधिक भिन्नता और ज्ञानी

चरित्र की पुनरावृत्ति से चिन्हित थे। आधुनिक पांडित्य खगोलीय गणनाओं और त्रुटिरहित गणितीय नियमों पर आधारित भविष्यवाणियों से संतुष्ट है। पुरातन ज्ञान, खगोल विज्ञान के ठंडे ढांचे के साथ उसके जीवात्मा और आत्मा के सजीव करने वाले तत्त्व– ज्योतिष – को जोड़ता है। और, जैसे तारे और ग्रहों की गतियां पृथ्वी पर – आलू और उस लाभप्रद सब्जी की आवधिक बीमारियों के साथ ही – दूसरी घटनाओं को नियंत्रित तथा निश्चित करती हैं – उन घटनाओं को सरल खगोलीय गणनाओं के द्वारा भी पूर्वनिर्धारित करने की अनुमति होनी ही चाहिए। गुह्य विद्याविदों (occultists) और ज्योतिषियों के पूर्वज और पूर्ववर्ती लोगों ने सैकड़ों-हज़ारों वर्षों की अवधि में हुई ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति को अपने समय में अभिलिखित किया, उन्ही नक्षत्रों के संयोजन, यदि विल्कुल वैसी नही, तो समरूप प्रभाव उत्पन्न करने ही चाहिए।

मनुष्य का विकास-चक्र

गुह्य विज्ञान की शिक्षाओं के अनुसार मनुष्य के आयु की सामान्यतः परिभाषा – "तीन कोड़ी और दस वर्ष" – एक अंतरीय सत्य बतलाता है। एक दृष्टिकोण से सत्तर वर्ष, महात्मा स्तर के विकास का सात दशकों में परिपूर्ण चक्र प्रत्येक नए अवतार में इंगित करता है, जो विकास के उच्चतर अवस्था में सात वर्षों के प्रत्येक चक्र के दस आयामी ध्यानी – अवतारों को प्रकट करता है। वही सत्तर वर्ष का चक्र मानव विकास की वर्तमान अवस्था के लिए इस प्रकार काम करता है : सत्तर वर्ष की अवधि को आधों (halves) में बांटा जाता है, एक जन्म और बढ़त का, दूसरा क्षय और मृत्यु का। प्रत्येक आधा भाग फिर प्रत्येक सात वर्ष के पांच खंडों में बांटा जाता है : (1) मानव देह का जन्म, (2) सात वर्ष की आयु में जीवात्मा की चेतना द्वारा देह का प्रभार लेना, (3) काम (भावना-तत्त्व) का परिवर्तन जो चौदह वर्ष की आयु में लड़का या

लड़की को परिपक्व करता है, (4) मनस तत्त्व का प्रवेश जो इक्कीस वर्ष को विवेक की आयु बनाता है, (5) प्रारंभिक स्तर से अनुभव तथा कष्ट के फलस्वरुप अट्ठाइस वर्ष पर आध्यात्मिक प्रकटीकरण। तब वापसी का चक्र, वह भी पांच अवधियों में किंतु उलटे क्रम में, जिसमें प्रभावी परिपक्वता हो सकती है; इस प्रकार पैंतीस और बयालीस वर्षों के बीच (प्रथम आधे के अट्ठाइस और पैंतीस वर्षों के बीच की अवधि के तदनुसार) प्रकट आध्यात्मिकता परिपक्व तथा परिपूर्ण होती है, और इसी तरह आगे जब तक भोलेपन वाला दूसरा बचपन, न कि अज्ञान का, बाल-सुलभ किंतु बचकाना नहीं, तिरसठ और सत्तर वर्षों के बीच आता है।

इसमें कोई ग़लतफ़हमी नहीं होनी चाहिए, ये अवधियां मनमानी नहीं हैं। कुछ बच्चे गर्भ धारण के नौ माह की सामान्य अवधि से पहले जन्मते हैं, जिसका अर्थ है कि उनके लिए उस अवधि के कार्य शीघ्रता से पूरे हो जाते हैं। उसी प्रकार, ऐसी जीवात्माएं हैं जो देह का प्रभार सात वर्ष के पहले तथा कुछ दूसरी बाद में लेती है; ऐसे लड़के/लड़कियां हैं जो चौदह वर्ष के पहले या बाद में परिपक्व होते हैं तथा इसी तरह आगे; पुरुष और स्त्री अपने सत्तरवें वर्ष के पहले या बाद में मरते हैं। हमारे लिए क्या समझना आवश्यक है – यह कि प्रत्येक मानव अवतार दस अवस्थाओं का एक चक्र होता है, पांच चढ़ान का चाप (arc) तथा पांच उतार का चाप।

प्रकृति में सात को और अधिक स्पष्टता से दिखाने के लिए, यह कहना है कि सात की संख्या न केवल जीवन की घटनाओं के कालचक्र को निर्धारित करती है, बल्कि यह रासायनिक तत्त्वों, और ध्वनि तथा रंग के क्षेत्र में भी प्रधान होती है, जैसा कि रंगों के वर्ण-क्रम द्वारा हमें प्रकट किया गया है।

यह सब स्पष्टतया दिखता है कि चक्रों का नियम मनुष्य के अन्दर

कार्य करता है। कारण और प्रभाव दोनों, प्राणी की चेतना में मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया हैं तथा अपरिहार्य अवधि स्वयं में एक चक्र बनता है। इस प्रकार कल्प एक ओर सूक्षतम भागों में विभाजित तथा उप-विभाजित किए जाते हैं, वहीं दूसरी ओर वे गुणा करके विस्तृत होते हैं जब तक कि स्वयं शाश्वतता आलिंगित होती है। "होना, परम शाश्वतता के अन्दर एक अंतहीन चक्र है, जिसमें असंख्य अंतरीय सीमित और प्रतिबंधित चक्र चलते हैं" (SD I, 221)।

ये कई चक्र आपस में गुंथे होते हैं, इसलिए एक अणु में रासायनिक परिवर्तन भौतिक ब्रह्माण्ड को पूर्ण रूप में प्रभावित करता है और इसके विपरीत क्रम में भी; आकाशीय पिंडों की गति का प्रतिबिंब पृथ्वी पर मानवीय जीवात्माओं पर पड़ता है।

मनुष्य तथा सौर प्रणाली जिसमें वह रहता है और जिसका वह एक हिस्सा है, के बीच अंतर्संबंध को समझने के लिए हम दोनों के बीच तदनुरूपता (correspondence) पर विचार करें। इस सौर प्रणाली के एक ग्रह के रूप में हमारी पृथ्वी की तीन गतियां हैं – यह अपनी धुरी पर 24 घंटों में एक बार घूमती है; यह सूर्य के चारों ओर 365 दिनों में एक चक्कर लगाती है; पूरे सौर प्रणाली की गति में भाग लेते हुए यह 25868 वर्षों में नाक्षत्रिक (sidereal) चक्र में जाती है।

दैनिक चक्र को निम्न व्यक्तित्व के दैनिक अनुभवों की समतुल्य विचारा जा सकता है। जागने और सोने की सामान्य प्रक्रिया, जो मानव शरीर, जिस शरीर को भोजन देना, व्यायाम करना और आवधिक सफाई करना होता है, के लिए निश्चित है। सात दिनों के सप्ताह, प्रत्येक चंद्र मास और सौर्य मास बनाते हुए, व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। जैसे पृथ्वी पर महासागर के ज्वार और भाटा चन्द्रमा की गति से प्रभावित होते हैं, उसी तरह

हमारा चंद्र-शरीर (या भावना शरीर) चंद्र चक्र से प्रभावित होता है। वार्षिक चक्र को प्रत्येक जीवात्मा के एक जन्म के समतुल्य विचारा जा सकता है, प्रत्येक नया जन्म एक नव वर्ष के समान। अंत में नाक्षत्रिक चक्र को मानव जीवात्मा के विकास के पूरे चक्र के समतुल्य विचारा जा सकता है। ये भौतिक चक्र मनोवैज्ञानिक चक्र के प्रतिबिंब हैं।

मानव जाति का विकास

मानवता अलग-अलग इकाइयों से बनी है। यदि चक्रों का नियम प्रत्येक के संबंध में चलता है, उसी के समान यह समूहों के लिए कार्य करता है; जनजातीय-प्रजातियां, परिवार-प्रजातियां, उप-प्रजातियां, मूल-प्रजातियां, ग्लोब-चक्र, परिक्रमाएं, ग्रहीय-शृंखलाएं, सौर-प्रणालियां, नाक्षत्रिक-प्रणालियां, वे "असंख्य छोटे वृत्त" हैं जो विश्व का एक महान चक्र बनाते हैं।

पुरातन लोग इस ग्रह पर मानव अस्तित्व के मध्यवर्ती अवधियों को चक्रों में विभाजित किये, इनमें से प्रत्येक चक्र में मानव जाति धीरे धीरे उच्चतम सभ्यता के समापन बिंदु पर पहुंची और फिर धीरे धीरे अधम असभ्यता में आ गई (Isis I, 5)। ... चाल्दीय दर्शन के अनुसार *ये चक्र पूरी मानव जाति को एक ही और उसी समय आलंगित नहीं करते* (Isis I, 6)।

प्लेटो विश्व की ज्ञान सम्बंधित (intellectual) प्रगति को प्रत्येक चक्र में उर्वर (fertile) तथा अनुर्वर (barren) में बांटते हैं। वह कहते है कि इहलौकिक (या सांसारिक) क्षेत्रों में विभिन्न तत्त्वों के पिंड दिव्य-प्रकृति के साथ निरंतर परिपूर्ण समरसता में रहते हैं, किंतु "उनके भाग" पृथ्वी से अति निकट सामीप्य के कारण, और *पार्थिव* (जो पदार्थ है, और इसलिए बुराई का क्षेत्र) के साथ मिश्रित होकर कभी-कभी दिव्य प्रकृति के विरुद्ध होते हैं। जब

वे परिसंचरण (circulations) – जिनको एलीफास लेवी "एस्ट्रल प्रकाश की धाराएं" कहते हैं – वैश्विक ईथर में जिसमें सभी तत्त्व होते है, दिव्य आत्मा के साथ समरसता में होते हैं, तब हमारी पृथ्वी और इससे संबंधित प्रत्येक चीज एक उर्वर अवधि का आनंद लेती है। ... किंतु अनुर्वर अवधियों में ... मानव जाति के बहुसंख्यक लोगों की आध्यात्मिक दृष्टि इतनी अंधी हो जाती है कि वे अपने दिव्य आत्मा की श्रेष्ठतर शक्तियों के हर भाव को खो देते हैं (Isis I, 247)।

सामंजस्यता-समरूपता (Correspondence-Analogy) के नियम को लगाकर हम विचार कर सकते हैं कि इस पृथ्वी पर मानव साम्राज्य के कर्म-चक्र का अपना घूमने वाला, परिक्रमण वाला तथा नाक्षत्रिक उप-चक्र होते हैं, जिसके अन्दर (क) स्व-चैतन्य ज्ञानवानों (intelligences) का एक वर्ग लगातार पुनर्जन्मों द्वारा विकसित हो रहा है; (ख) जीवों का एक दूसरा वर्ग, मानवीय सभ्यता के केवल शिखर-तरंग पर आकर उन जन्मजात विचारों के नव जीवनदाता होते हैं, जो विचार पूरी प्रजाति के द्वारा धारण किए जाने हैं, जैसे चक्र अपना मार्ग लेते हैं; (ग) एक तीसरा वर्ग जो बड़े अवतार हैं और जो विनाश के चक्र की क्रिया के परिणामस्वरूप ज्ञान और नैतिकता के पार्थिव प्लावन (earthly cataclysm) के समय निर्माण के चक्र को आरम्भ करने का मुख्य-स्वर उद्घोषित करते हैं।

पुरातन सिद्धांत के अनुसार भौतिक संसार के परिक्रमणों के साथ, ज्ञान (समझ) के संसार में एक समान परिक्रमण रहता है – भौतिक परिक्रमण की तरह संसार का आध्यात्मिक विकास चक्रों में अग्रसर होता है।

मानवजाति के इतिहास का स्वर्ण, चांदी, तांबा और लौह युगों में विभाजन मिथ्या कथा नहीं है। हम उसी विचार को लोगों के साहित्य में

देखते हैं। एक बड़ी आकांक्षा और अचैतन्य उत्पादकता के युग के बाद एक आलोचना और चैतन्यता का युग अवश्य आता है। एक युग, दूसरे युग के लिए विश्लेषण करने तथा आलोचनात्मक ज्ञान का पदार्थ प्रदान करता है।

इस प्रकार, वे सभी महान चरित्र जो मानव जाति के इतिहास में असाधारण महान की तरह उच्च स्तर के होते हैं, जैसे आध्यात्मिक क्षेत्र में बुद्ध-सिद्धार्थ और जीसस, भौतिक विजय के क्षेत्र में सिकंदर और नेपोलियन, केवल उन मानवीय प्रारूपों (types) के प्रतिबिंबित छवियां थे, जो पूर्ववर्ती दससहस्त्राब्दी (decimillennium) में हजारों वर्ष पहले अस्तित्व में थे, तथा हमारे संसार की नियति को नियंत्रित करने वाली रहस्यमय शक्तियों द्वारा पुनरुत्पादित किए गए। पवित्र या लौकिक इतिहास के सभी वर्ष-क्रम में ऐसा कोई प्रमुख चरित्र नहीं है जिसकी प्रतिकृति (prototype) हम विगत धर्मो तथा मिथकों के अर्द्ध-काल्पनिक और अर्द्ध-वास्तविक प्रथाओं में न पा सकें। जैसे आकाश की असीम विशालता में हमारे सिर के ऊपर अमापनीय दूरी पर झिलमिलाता तारा अपने को एक शांत झील के पानी में प्रतिबिंबित करता है, उसी तरह प्रलय पूर्व युगों के मनुष्यों की बिम्ब-सृष्टि (imagery) अपने को उन अवधियों में प्रतिबिंबित करती है, जिसको हम एक ऐतिहासिक सिंहावलोकन में पा सकते हैं (Isis I, 34-35)।

"जैसा ऊपर, वैसा ही नीचे है। वह जो हो चुका है, फिर वापस आएगा। जैसा स्वर्ग में, वैसा पृथ्वी पर" (Isis I, 35)।

चक्रों के नियम के अध्ययन के दो असाधारण निष्कर्षों का सारांश इस प्रकार कहा जा सकता है : (1) हम चक्रों को बनाने वाले हैं; व्यक्तिगत कर्म के द्वारा हम व्यक्तिगत पुनर्जन्मों का वृत्त खींचते हैं; सामूहिक कर्म द्वारा हम सामुदायिक या राष्ट्रीय पतन या उत्थान के सिकुड़ते हुए या फैलते हुए वृत्त खींचते हैं; आध्यात्मिक कर्म द्वारा हम धीर धीरे किंतु लगातार मौलिक वृत्त से

सम्पर्क करते हैं – जो निर्वाण है जब इसमें स्व-चैतन्यता से प्रवेश किया जाता है, तथा प्रलय है जब अचेतन रूप से प्रवेश होता है। (2) प्रत्येक मानव प्राणी प्रकृति के निकट आलिंगन में रहता है, उस प्रकृति में गति करता है, और उसे यह समझना है कि उसका अस्तित्व प्रकृति है। पहिये के अन्दर पहिये, चक्र के अन्दर चक्र, अभिव्यक्ति में एक जीवन परम गगन में समय का वृत्त है, जो कालावधि (Duration) है।

निर्वाण को पहुंचने के लिए एक व्यक्ति को स्व-ज्ञान को अवश्य पहुंचना है, और स्व-ज्ञान प्रेममय कार्य है, बालक (*VOS*, v. 136)।

हे अभ्यर्थी, धैर्य रखो, जैसे एक व्यक्ति जो असफलता से डरता नहीं, सफलता की आशा नहीं करता। अपने जीवात्मा की निगाह ऊपर उस तारा पर स्थिर करो, जिसकी तुम किरण हो, ज्वलंत तारा जो सर्वदा-अस्तित्व की प्रकाशहीन गहराइयों में चमकता है, अज्ञेय का असीम क्षेत्र (*VOS*, v. 137)।

अवतारों, अवरोही स्वर्गीय प्रभावों तथा आध्यात्मिक आवेगों का चक्र

सिनेसियस द्वारा लिखित कृति "*मिस्री लोगों की प्रज्ञा*" (*The Wisdom of the Egyptians*) में लिखा है :

"मानव समाज का उपकार करने के लिए देवता लोग व्यवस्थित अवधि के अनुसार पृथ्वी पर उतरते हैं। किंतु यह तब होता है जब वे एक राज्य को समरसता में करते हैं और उस उद्देश्य के लिए अपने से सहबद्ध जीवात्माओं को पृथ्वी पर भेजते हैं। इसके लिए दैवी और प्रचुर विधान है, जो एक मनुष्य के माध्यम से अनगिनत जन-समूहों पर ध्यान देता है तथा उनको प्रभावित करता है।

वास्तविकता में पृथ्वी पर पवित्र नायकों (Heroes) के समूह का धाम है, जो मानव समाजों को अत्यंत छोटे मामलों में भी सहायता देते हैं। एक तरह से, इन नायकों का समूह देवताओं द्वारा पृथ्वी पर स्थापित एक बस्ती है। किंतु जब पदार्थ अपने उचित पुष्पों को जीवात्मा के विरुद्ध युद्ध करने के लिए उत्तेजित करता है, तब देवताओं की अनुपस्थिति में इन नायक समूहों द्वारा प्रतिरोध छोटा पड़ता है; क्योंकि प्रत्येक चीज अपने उपयुक्त स्थान और समय में ही मजबूत होती है। जब सभी पार्थिव चीजों पर देवों द्वारा आरम्भ में अनुकूलित समरसता पुरानी हो जाती है, वे पृथ्वी पर पुनः उतरते हैं जिससे वे समाप्त हो रही समरसता को ऊर्जा देकर पुनर्जीवित कर सकें। तथापि जब, अत्यंत बड़ी से लेकर अत्यंत छोटी सांसारिक चीजों की पूरी व्यवस्था भ्रष्ट हो जाती है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि चीजों का एक दूसरा व्यवस्थित विस्तार प्रदान करने हेतु देवता लोग उतरें।"

और *भगवद् गीता* में कृष्ण द्वारा कहा गया है :

हे भारत ! जब-जब धर्म का क्षय और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं अवतार लेता हूं। साधुजनों के उद्धार और दुष्टों के संहार तथा भली भांति धर्म स्थापना के लिए, मैं युग-युग में साकार रूप में प्रकट होता रहा हूं। (अ. 4, श्लो. 7-8)

मिस्री प्रज्ञा में लिखे नायक कोई दूसरे नहीं, बल्कि इस या पहले मन्वंतरों के निर्माणकाया – सिद्ध लोग हैं – जो लोग यहां विभिन्न अवस्थाओं या परिस्थितियों में रहते हैं।

यह सिद्ध संघ समय-समय से मानव समाज में आध्यात्मिक आवेग भेजता है। इसी क्रम में पृथ्वी पर आधुनिक सभ्यता को बचाने के लिए प्रज्ञा के इन अमर प्रेमियों द्वारा एक प्रयत्न किया गया। जब उन महान ऋषियों ने

मानवता के विकास को सही गति और दिशा देने के लिए उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में थिऑसोफिकल सोसाइटी की स्थापना करा कर अगले सौ वर्षों के चक्र के लिए जो कुछ आवश्यक था, वह दिया।

कई लोगों का विचार है कि वर्तमान समय में जब "नायकों के पवित्र समूहों" में से अत्यंत उन्नत लोगों द्वारा एक नए चक्र की तैयारी की जा रही है जिसमें दूसरे गोलों से अधिक विकसित जीवात्माओं की सहायता मानव समाज के लिए मिल सके।

ब्लावत्सकी ने 1878 में Isis Unveiled (I, 38) में लिखते हुए कहा था :

यदि हम संकेतों से गलत नहीं हैं, तो वह दिन आ रहा है जब संसार ऐसे प्रमाणों को प्राप्त करेगा कि केवल पुरातन धर्म प्रकृति के साथ समरसता में थे, तथा पुरातन विज्ञान उस सभी को अंतर्निहित करता है जिसको जाना जा सकता है। लंबे समय तक रखे रहस्य प्रकट हो सकते हैं; लंबे समय से भूली पुस्तकें और लंबे समय तक खोयी कलाएं पुनः प्रकाश में लाई जा सकती हैं; बहुत महत्त्व के पपीरी और चर्मपत्र मनुष्यों के हाथों में आ जाएंगे जो बहाना करेंगे कि उन्होंने उनको मम्मियों से उतारा या गड़े तहखानों में उनपर ठमके; पटिये और स्तम्भ, जिनके तराशे खुलासे धर्मशास्त्रियों को अचंभित करेंगे तथा वैज्ञानिकों को उलझाएंगे, खुदाई से मिल सकेंगें तथा व्याख्यित हो सकेंगें। भविष्य की संभावनाओं को कौन जानता है? मोहभंग और पुनर्निर्माण का युग शीघ्र आरंभ होगा – बल्कि, पहले से ही आरंभ हो चुका है। चक्र अपनी अवधि पूरा कर चुका है, एक नया चक्र प्रारम्भ होने वाला है और इतिहास के भविष्य के पृष्ठों में पूरा प्रमाण हो सकता है कि –

यदि पितृ परंपरा में कुछ विश्वास किया जा सके,

अवरोही आत्माएं मनुष्य के साथ संवाद किए हैं,
और उसको अज्ञात संसार के रहस्य बताए।

(*The Heart Doctrine* – W. Q. Judge, पृ. 178)

आध्यात्मिक चक्र, कर्म तथा पुनर्जन्म से निकट संबंध में होते हैं, इसलिए इनका प्रभाव शक्तिशाली होता है। इसी लिए सोसाइटी की स्थापना के बाद थिऑसोफिकल सिद्धांतों का प्रभाव पूरी पृथ्वी पर कई क्षेत्रों जैसे सामाजिक, राजनैतिक, कला और विज्ञान में पड़ा। थिऑसोफिकल सोसाइटी का यह चक्र कितनी लंबी अवधि तक चलता है, यह इस के निष्ठावान सदस्यों पर पर निर्भर है। इसके निष्ठावान, ईमानदार, सक्रिय, निःस्वार्थी सदस्य स्वयं इसके दिव्य ज्ञान को भरसक जितना बन सके आत्मसात करें तथा पूरी निःस्वार्थता और लगन से इस ज्ञान का प्रसार करें तब समाज में व्याप्त अंधविश्वास और कुरीतियां समाप्त होगी और ऐसे सदस्य थिऑसोफिकल सोसाइटी के चक्र को अधिक समय – अगली कई शताब्दियों तक, या सर्वदा चलाते रहेंगें।

तब हम चक्र का प्रतिरोध न करें, न तो कार्य के बारे में शिकायत करें, न ही विश्राम करने के लिए बैठ जाएं। विश्राम के लिए कोई समय नहीं है। कमजोर, निराश, संदेह करने वालों को प्रतीक्षा करना पड़ सकता है, किंतु कर्मशील पुरूष तथा स्त्री इस अवसर के सम्मुख रुक नहीं सकते।

इसलिए हे अटलांटियन्स, उठो, तथा बहुत पहले की गई बुराई को सुधारो!
हे चक्र, चलते रहो, चलते रहो तथा विजय प्राप्त करो;
सदैव चलते रहो!

(*ibid*, 179-181)

धर्मों का चरित्र, उनका बंधुत्त्व तथा तुलनात्मक धर्मों का अध्ययन

धर्मों का चरित्र तथा सच्चा धर्म

प्रत्येक धर्म में, मूल रूप से तीन परतें होती हैं: अनुष्ठान और समारोह – ये बाहरी और सतही होते हैं और समय और व्यक्ति के साथ बदलते हैं; किसी धर्म के धर्मशास्त्र, जिसमें विश्वासों या सिद्धांतों का समूह शामिल होता है – ये भी प्रायः समय से परिवर्तित होते हैं; और आध्यात्मिकता, या रहस्यवाद की सबसे भीतरी परत – इस परत में शायद ही कोई बदलाव हुआ है। आध्यात्मिकता प्रयोगात्मक एवं अनुभवात्मक है।

समय बीतने के साथ, मानवीय लालच और स्वार्थपरता के कारण, अनुष्ठानों/समारोहों और सिद्धांतों/विश्वासों की बाहरी परतें अंधविश्वासी प्रथाओं और विश्वासों में बदल जाती हैं – जो उस धार्मिक समूह/समाज के पतन का कारण बनती हैं। हमारे सारे आपसी झगड़े ऐसी ही अनावश्यक बातों पर केन्द्रित हैं।

सभी धर्मशास्त्रों के मूल सामग्री में समय के साथ जाने-अनजाने बदलाव और/या विकृतियां आ गयी हैं।

धार्मिक शिक्षाओं के आमतौर पर तीन आयाम होते हैं, एक संतोषजनक समग्र मानव जीवन जीने के लिए आचरण में लाए जाने वाले नैतिक मूल्य, अर्थात जीवन जीने के लिए आचार संहिता; सामान्य दर्शन; और गहन अनुभव के लिए रहस्यवादी शिक्षण।

मनु के दस निर्देशों, योग-सूत्रों के यम-नियम, बौद्ध धर्म के पंचशील, बाइबिल में *सरमन ऑन दि माउंट* आदि में दिए गए नैतिक मूल्यों का पालन

किया जाना चाहिए। सार्वभौमिक मूल्य, जैसे – सत्य, प्रसन्नता, आंतरिक शांति, सहिष्णुता, प्रेम, दया, न्याय, सम्मान, साहस और निर्भयता, जीवन में सरलता आदि, और नकारात्मक गुणों जैसे लालच, क्रोध, ईर्ष्या, घृणा, आकर्षण/घृणा महत्वाकांक्षा आदि से बचना – इन सभी शिक्षाओं में किसी न किसी रूप में परिलक्षित होता है। मनुष्य को स्वभाव से मानवीय बनने के लिए या धार्मिक दृष्टि से ईश्वर/ईश्वरत्व के निकट रहने के लिए और समाज के अत्यधिक कल्याण के लिए भी ये नैतिक मूल्य बहुत आवश्यक हैं।

ये नैतिक शिक्षाएं केवल प्रकृति के नियमों के ही बिंदु हैं। तथाकथित पुरस्कार या दंड इस बात पर निर्भर करता है कि कोई व्यक्ति प्रकृति के इन नियमों का पालन करता है या नहीं, न कि किसी संस्कार/समारोह/अनुष्ठान/प्रार्थना आदि पर।

दलाई लामा कहते हैं कि आध्यात्मिक अभ्यास का सही अर्थ किसी की मानसिक स्थिति और कल्याण के विकास और प्रशिक्षण से है। प्रसन्नता के लिए मौलिक आध्यात्मिकता अर्थात अच्छाई, दया, देखभाल जैसे मूलभूत मानवीय गुण आवश्यक हैं।

सच्चा धर्म स्वयं का ज्ञान है और उस ज्ञान के अनुसार जीवन जीना है, और यह बोध होना है कि ईश्वरत्व की शक्तियां, अर्थात, सृजन करने, संरक्षित करने और नष्ट करने की शक्ति, हम में से प्रत्येक के अन्दर हैं। हम कह सकते हैं कि सच्चा धर्म, ईश्वर, मनुष्य और प्रकृति के बारे में सही विचार पर आधारित है।

इन विचारों को मौलिक विचार कहा जाता है। यदि वे ग़लत हैं तो हमारे निष्कर्ष भी ग़लत होंगे। हम देख सकते हैं कि ईश्वर के बारे में गलत विचार, जैसे कि व्यक्तिगत ईश्वर का विचार, ने कई अलग-अलग देवताओं

को जन्म दिया है, और जो बदले में विभाजन पैदा करता है, क्योंकि, जैसा कि एच.पी. ब्लावत्स्की कहती हैं, यह बहुदेववाद को जन्म देता है, जहां एक व्यक्ति कई देवताओं की पूजा करेगा, या उसे किसी एक को सर्वोच्च, 'देवताओं का भगवान' मानकर, उसकी पूजा करनी होगी, यद्यपि वास्तव में इनमें से प्रत्येक देवता सीमित है। इसके विपरीत, एक अवैयक्तिक ईश्वर जो अनंत, शाश्वत, और सर्वव्यापी है, का विचार, जिसका तात्पर्य है कि हम में से प्रत्येक सारतः और संभावित रूप से दिव्य है, और जो हमें अपने विवेक या अंतश्चेतना पर निर्भर करता है, और बाहर के ईश्वर की सहायता मांगने के बजाय अन्दर से सहायता और मार्गदर्शन चाहता है।

सभी सच्चे धर्मों की नींव यह सटीक ज्ञान है कि हर चीज़ अपनी मूल प्रकृति में दिव्य है और सभी प्राणियों के कल्याण के लिए तथा उन सबको स्वयं जैसा समझते हुए कार्य करना है – यही वास्तविक परोपकारिता का अभ्यास है।

धर्मों का बंधुत्व

Religion या धर्म इसके सही भाव में एक बांधने वाला, मनुष्य से मनुष्य क़ो जोड़ने वाला बल है; इसलिए परस्पर-विरोधी धर्म जो मनुष्य से मनुष्य को अलग करते हैं, वे आध्यात्मिक अभिव्यक्ति नहीं हैं, किंतु केवल विनाशक बल हैं।

थिऑसोफी बताती है कि सभी धर्मों का स्रोत एक है, जो स्रोत दिव्य है; किंतु आगे कहती है कि बिना अपवाद के सभी धर्म बुराई से आच्छादित हैं, और सभी दूषण (corruption) से भरे हैं। सभी स्रोत पर सत्य हैं; सभी सतह पर असत्य हैं। इस कथन में दो विरोधी कारक दिखेंगे। यदि एक व्यक्ति कहता है कि: "सभी धर्म सत्य हैं क्योंकि सबका एक दिव्य स्रोत है,

और इसलिए मैं हर एक धर्म से कोई भी तथा प्रत्येक चीज स्वीकार करता हूं," तो वह स्वयं को पागलखाने के लिए तैयार कर रहा होगा! दूसरी ओर, यदि एक व्यक्ति कहता है कि: "सभी धर्म दूषित हो गए हैं, तो हम उन सभी को बाहर फेंक दें," तो वह आध्यात्मिक आत्महत्या (spiritual suicide) के लिए तैयार है। तर्कसंगत होने से – और थिऑसोफी का प्रत्येक साधक एक सही तर्कसंगत व्यक्ति होता है – ऐसे व्यक्ति को, अध्ययन तथा मनन द्वारा इस तथ्य को स्वीकार करना चाहिए कि सभी धर्मों के पास सत्य है, किंतु बिना अपवाद के, सभी बुराई से भरे हैं तथा दूषण से सराबोर हैं।

किसी ऋषि, किसी बुद्ध, किसी महात्मा, किसी क्राइस्ट, किसी पैगंबर ने कभी भी कोई नया धर्म स्थापित करने का प्रयास नहीं किया। उनमें से प्रत्येक एक सुधारक थे। उनमें से प्रत्येक एक विरोधी (protestant) थे, अर्थात उन्होंने तत्कालीन व्याप्त धार्मिक विचारों या दृष्टिकोणों की असत्यता का विरोध किया। उनमें से प्रत्येक ने धर्मों के वहम, झूठ तथा दूषण को बेनकाब किया; उनमें से प्रत्येक ने जीवन का एक ढंग, प्रज्ञा का एक मार्ग, बंधुत्व का एक रास्ता सिखाया। वे सभी एक शाश्वत धर्म को पुनः स्थापित करने के लिए आये।

तो फिर बहुत धर्म क्यों और कैसे बन गए? जीवन का ढंग और प्रज्ञा का मार्ग धार्मिक मत कैसे बन गया? यदि किसी धार्मिक आंदोलन का इतिहास देखें तो हमें तीन स्तर, तीन अवधि मिलेंगे, जिसमें सही दूषित हो जाता है, अच्छा खराब हो जाता है। प्रथम अवधि, शिक्षक, सुधारक, पैगंबर का है। प्रत्येक आध्यात्मिक शिक्षक का कार्य द्वैत होता है: पहला, धार्मिक मतों के दूषण को उजागर करना और दूसरा, अंतरीय जीवात्मा के जीवन का मार्ग सिखाना। उसके बाद द्वितीय अवधि आती है: उनकी मृत्यु के पश्चात, सही शिष्य, धर्म-प्रचारक, छात्र, शिक्षाओं को क्रमबद्ध करने का प्रयास करते

हैं और शिक्षक द्वारा बताई गई या लिखी गई गई शिक्षा को, जितना ठीक से करना संभव होता सकता है उतना, दोहराते हुए उसका प्रख्यापन (promulgate) करते हैं। तीसरी अवधि में पुजारी आगे आ जाते हैं और शिक्षाओं में से दूसरा धार्मिक मत बना देते हैं ! हम देखेंगे कि प्रत्येक आध्यात्मिक आंदोलन इस प्रकार हानि ग्रस्त हो जाता है, प्रत्येक धर्म का पुजारी अपने पैग़ंबर का शत्रु होता है।

तब हमें क्या करना है? सभी धर्मों को न तो नष्ट करना है, न ही उनकी सभी चीजों को स्वीकार करना है। हमारे सामाजिक और सांसारिक जीवन को शुद्ध करने के लिए प्रत्येक धर्म का उपयोग किया जा सकता है। प्रत्येक मत के अनुयायियों को अपने धर्म के मूल सिद्धांतों की ओर वापस लौटने का कार्य करना चाहिए, यदि ऐसा कार्य उनको रुचिकर लगता है। ऐसे अनुयायी लोग ईमानदार और निष्ठा पूर्वक उस प्रकाश को खोजें जिसको उनके शिक्षक तथा पैगंबर ने दिया था। उनको विश्वास से ज्ञान को, प्रथा और अंधविश्वास में आधारित संस्कार और कर्मकांड से अपने धर्म शास्त्रों में प्राप्त प्रज्ञा तथा करुणा पर आधारित जीवन के अनुष्ठान को जाना चाहिए। जीवन का मार्ग ढूंढो, और याद रहे कि धार्मिक गर्व, धार्मिक उच्चता का भाव, पृथकत्व (exclusiveness) का भाव जो मनुष्य से मनुष्य में विभेद करते हैं, अधर्म (irreligion) हैं।

इसके लिए अध्ययन, धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता होगी। उदाहरण के लिए, यदि एक पारसी शुद्धता के मार्ग, *अशोई* (*Ashoi*) के बारे में और अधिक जानना चाहता है, तो उसको *गीता* में, *धम्मपद* में, *सरमन ऑन दि माउंट* (*Sermon on the Mount*) में तथा यहूदियों के पैगम्बरों के कथनों में कई सहायक-सूचनाएं मिलेंगी। यदि मुक्ति के लिए इच्छुक एक ब्राह्मण, अहुर मज़दा की धारणाओं का अध्ययन करेगा, तो

सीखेगा कि क्यों असुर जिससे वह बहुत डरता है, अहुर, त्याग का महान प्रकाश है, तब वह झूठी मुक्ति के भूलों से बचेगा। दो शब्दों "अहुर" और "असुर" में निहित दर्शन तथा सत्य का अध्ययन करने से हिंदू पंथवाद के अधिक भ्रम गायब हो जाएंगे। यदि मुसलमान को वास्तव में सही श्रद्धालु (faithful) बनना है, तो वह उन उद्धरणों के अनुसार जीवन जी कर एक सूफ़ी बनेगा और वह अपने हृदय में प्रेम के साथ अपने सभी साथी मनुष्यों को आलंगित करेगा, न कि उनको मारने की सोचेगा।

यदि हम धर्मों के सही बंधुत्व पर ध्यान दें तो हमारे सामने एक महान दृष्टि क्या होगी? यह एक अदृश्य मंदिर की दृष्टि होगी, जो मंदिर हाथों से बनाया नहीं होगा, जिसमें जीवात्मा प्रार्थना के लिए श्रद्धालुओं को बुलायेगा, और जहां मनुष्य का मन समझदार पुजारी होगा, तथा मनुष्य का हृदय महान उपस्थिति के पर्याप्त शक्ति का अनुभव करेगा। उस अदृश्य मंदिर के दृश्य में किसी मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर में जाने की क्या आवश्यकता रहेगी? कौन अग्नि-मंदिर (Fire Temple) में जाना चाहता है यदि उसके पास अपने हृदय की वेदी की गर्मी है? कौन गिरजाघर में जाना चाहता है यदि उसने बोधि कर लिया है कि हममें से प्रत्येक में क्रिस्टॉस है? कौन विष्णु या शिव के मंदिर में पुष्प ले जाना चाहता है यदि उसने वासनाओं, अभिमान और पूर्वाग्रह के अपने गंदे जूतों को पीछे छोड़ दिया है, तथा जिसका जीवन, सौम्य और दयालु समझ के, विनम्रता और उदारता के, रक्षा करने की शक्ति और पुनरुद्धार की प्रेरणा के पुष्प समान कार्यों से भरा है?

हृदय और मन का सही धर्म केवल तभी जन्मता है जब अज्ञानी विश्वास, प्रथाओं के अंधविश्वास, और मतों के दावे मर जाते हैं। आध्यात्मिक पुनरुद्धार की यह दृष्टि हम थिऑसोफी के साधकों को आने वाले चक्र के लिए परिश्रम करने की प्रेरणा देती है। वह सही प्रजातंत्र, आध्यात्मिक प्रजातंत्र का

युग है जिसके लिए हम कार्य कर रहे हैं। और यह तब तक नहीं उठेगा जब तक कि धार्मिक प्रतिस्पर्धा, धार्मिक कट्टरता, और धार्मिक गर्व मार नहीं दिए जाते। हम मुहम्मद के कथन: "धर्म में कोई बाध्यता न हो" को अपनाएं; और उस शिक्षा के साथ ही साथ हम यह भी समझें कि पापियों में सबसे बड़ा भी आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा बुराई को विजित कर सकता है, जैसा कृष्ण ने सिखाया। हम वैसी प्रार्थना करें जैसा यीशु ने *सरमन ऑन दि माउंट* में शिक्षित किया। आज आपके पास सरमन पढ़ने का समय नहीं है, किंतु केवल यह याद रखो कि हमें अपने हृदय की कोठरी में प्रवेश करना चाहिए तथा मौन में प्रार्थना करनी चाहिए।

आध्यात्मिक प्रजातंत्र का आदर्श समझने के लिए हमें अपने अन्दर जीवात्मा की खोज करनी ही चाहिए, जो जीवात्मा अच्छा है जैसा *गाथा* संकेत करता है; इसको सही होना ही चाहिए, जैसा *सरमन ऑन दि माउंट* दर्शाता है; और इसको सौंदर्य से भरा होना ही चाहिए। चीन के महान शिक्षक कन्फ्यूशियस ने एक बार कहा कि जब हम एक सुंदर चीज से प्रेम करते हैं, तब हम बिना किसी बाधा के, और स्वभावतः ऐसा करते हैं। उन्होंने कहा कि जीवात्मा का सौंदर्य होने के लिए, हमें अपने विचारों को खरा या यथार्थ बनाना ही चाहिए।

संक्षेप में हम इसको ऐसे कह सकते हैं; सही धर्म, जिसमें सभी मतों (creeds) से दूर जाने की आवश्यकता होती है, मानवीय जीवात्मा को अच्छा, सत्य और सुन्दर के त्रय जैसा देखना है। यूनानियों ने ऐसा किया और हमें ऐसा करना चाहिए।

हम उन महान शिक्षकों – जिनका प्रकाश सर्वदा सत्य है, जिनका जीवन सर्वदा अच्छा है, जिनके शब्द सर्वदा सुंदर हैं – के आशीर्वाद का अपने ऊपर आह्वान करें। महान सिद्ध शंकराचार्य ने अपनी पुस्तक *विवेक*

चूड़ामणि में उनका वर्णन करते हैं कि वे शांतिपूर्ण महात्मा लोग आगत वसंत की तरह संसार का पुनरुद्धार करते हुए रहते हैं। हम उनके आशीर्वाद का आह्वान करें ताकि धार्मिक कलह समाप्त हो, तथा हम सभी को एक यशस्वी विश्व बंधुत्व में जोड़ते हुए, एक धर्म का प्रकाश हमारे ऊपर चमके (*The Brotherhood of Religions* - Sophia Wadia)।

तुलनात्मक धर्मों का अध्ययन

थिऑसोफिकल सोसाइटी के तीन घोषित उद्देश्यों में से दूसरा उद्देश्य है : तुलनात्मक धर्म, दर्शन और विज्ञान के अध्ययन को प्रोत्साहित करना (To encourage the study of comparative religion, philosophy and science)। इस दिशा में एनी बेसेंट द्वारा लिखित पुस्तक Seven Great Religions को आधार बनाया जा सकता है। इस पुस्तक में सात धर्मों; हिन्दू, पारसी, जैन, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम और सिख धर्म के बारे में सामग्री है। इस पुस्तक में हर एक धर्म के सर्वोत्तम, शुद्धतम और गुह्यतम रूप की झलक दिखाने की कोशिश की गयी है।

सभी धर्मों के अनुयायियों में दूसरे धर्मों के प्रति कुछ न कुछ भ्रांतियां पैदा हो जाती हैं। उदाहरण के लिए हिन्दू धर्मावलम्बियों में बुद्ध की शिक्षाओं के प्रति भ्रांतियां थीं और अभी भी हैं, हालांकि बुद्ध द्वारा दी गयी शिक्षाएं वैदिक शिक्षाओं का ही सार हैं। इसी प्रकार इस्लाम के अनुयायियों में ईसाई, यहूदी और हिन्दू धर्म के प्रति भ्रांतियां हैं। तुलनात्मक धर्म के अध्ययन से ऐसी भ्रांतियां बहुत हद तक दूर होती हैं और यह समझ में आता है कि बाहरी विभिन्नता के बीच इन धर्मों का जो सार है उसमें एकत्व निहित है। इस प्रकार ऐसे अध्ययन से बिना किसी भेदभाव के विश्व बंधुत्व का प्राणि-केन्द्र बनाने में मदद मिलती है, जो थिऑसोफिकल सोसाइटी का पहला ही उद्देश्य है।

अंग्रेजी शब्द Religion उसी धातु से बना है जिससे शब्द relation बना है और जिसका अर्थ है संबंध। इस दृष्टि से किसी Religion का उद्देश्य और कार्य, उचित relation (संबंध) स्थापित करना है। यह संबंध स्वयं अपने साथ, परिवार के साथ, समाज और अन्य व्यक्तियों के साथ, सृष्टि में अन्य जीवों-योनियों के साथ तथा सूक्ष्म शक्तियों और समूचे ब्रह्माण्ड के साथ होता है। यह संबंध केवल भौतिक स्तर पर नहीं, बल्कि भावना, विचार और आध्यात्मिक स्तर पर भी महत्वपूर्ण है। इन सारे संबंधों का प्रयोजन एक सुचारु व्यवस्था बनाये रखना है जिससे दैवी योजना के अनुसार उचित विकास चलता रहे।

संस्कृत/हिन्दी के 'धर्म' शब्द को देखें तो उसके बहुत व्यापक अर्थ हैं, जैसे धारण करना, व्यवस्था, कर्त्तव्य आदि आदि। 'धर्म' शब्द के प्रयोग के पहले वैदिक साहित्य में 'ऋत' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ है – ब्रह्माण्डीय व्यवस्था (cosmic order)। बाद में और विशेष तौर से *भगवद् गीता* में 'धर्म' शब्द का व्यापक प्रयोग होने लगा। धर्म का प्रयोग जितने भी अर्थों में होता है उनमें अनेक स्तरों पर आपसी संबंध की सार्थकता स्पष्ट देखी जा सकती है। बिना समुचित संबंध के हम अपने कर्त्तव्य का निर्वाह नहीं कर सकते और न समुचित व्यवस्था बन सकती है। सभी धर्मों में जो नैतिकता (ethics) के सिद्धांत समाहित हैं वे भी हमारे अन्य के प्रति उचित संबंध को ही बताते हैं।

थिऑसोफी की शिक्षाओं में यह बताया गया है कि जब मनुष्य को मन दिया गया अर्थात जब से वह वास्तव में मनुष्य (मनस तत्त्व धारण करने वाला, सोचने वाला प्राणी) बना तब उसको शिक्षा देने की आवश्यकता हुई और जो दैवी शक्तियां इस पूरे विकास को दिशा दे रही हैं, उनकी योजना द्वारा एक महान शिक्षक, मनुष्य को शिक्षा देने के लिए पृथ्वी पर भेजे गये

और उसी क्रम में पूर्व चक्र के विकसित मानव जिन्हें हिन्दू पुराणों में ब्रह्मा का मनसपुत्र कहा गया, भी आए। यह श्रृंखला दैवी राजाओं और ऋषियों द्वारा चलती रही।

जो सिद्ध व्यक्तियों की श्रेणीबद्ध संस्था (Hierarchy) बतायी गयी है, उसमें इस पृथ्वी पर तीसरे स्तर पर भगवान मैत्रेय का नाम आता है जो विश्व शिक्षक कहे जाते हैं। उन्हीं के माध्यम से इस पृथ्वी पर मानव समाज को समय-समय पर काल और परिस्थिति के अनुसार शिक्षा देने के लिए अवतार या पैगम्बर आते हैं या वे स्वयं आते हैं। इस प्रकार सभी धार्मिक शिक्षाओं का स्रोत एक ही है और इसलिए सभी धर्मों का सारतत्त्व अवश्य एक ही होना है। केवल उनके बाह्य धार्मिक क्रिया तथा धर्मशास्त्रों में वर्णन अलग-अलग रूपों में होते हैं और कालान्तर में उनका स्वरूप बिगड़ जाता है, इसलिए अंतर और अधिक मालूम होने लगता है। विभिन्न धर्मों में उसी बिन्दु/अवस्था को दर्शाने के लिए नाम अलग-अलग हो जाते हैं उदाहरण के लिए महात्मा ने एक पत्र में लिखा कि बौद्ध धर्म और वेदान्त में कोई भेद नहीं है केवल शब्द अलग-अलग हैं जैसे बौद्ध धर्म के 'अर्हत' शब्द के लिए वेदान्त दर्शन में 'जीवनमुक्त' शब्द का प्रयोग होता है। इसी तरह एनी बेसेंट ने इस्लाम धर्म पर अपनी वार्ता में कहा है कि इस्लाम का उच्चतम दर्शन, जिसमें एक परम, अनेकों का उस एक से संबंध तथा मानवीय आत्मा और दैवी में समता, के बारे में बताया जाता है – शुद्ध वेदान्त है क्योंकि सभी सत्य ज्ञान इस विचार में समाप्त होते हैं। एच. पी. ब्लावत्सकी ने कहा है कि सभी धर्मों के पुजारी (Priest) अपने स्वार्थ के लिए उस धर्म के स्वरूप को विकृत कर देते हैं और इससे न केवल उस विशेष धर्म के अनुयायी भ्रमित हो जाते हैं बल्कि विभिन्न धर्मावलम्बियों में भेद और वैमनस्य भी पैदा होता है।

महात्मा ने एक पत्र मे कहा कि, "धर्म (Religion) किसी भी रूप में

या किसी भी राष्ट्र में जब से वह एक 'शक्ति' बन गया तब से मानवता के पीछे पड़ी हुई बुराईयों का सबसे बड़ा और लगभग दो-तिहाई बुराईयों का मुख्य कारण बन गया है। कर्मकाण्ड करने वाले पुजारी और चर्च जो छलावे हैं उनको मनुष्य पवित्र समझता है। उन्हीं में मनुष्य को अपनी तमाम बुराईयों, जो मानवता का अभिशाप बनकर उसके उपर हावी हो गयी हैं, का स्रोत खोजना है" (महात्मा पत्र सं. 88, पृ. 274)।

एक महान ऋषि ने लिखा है कि प्रत्येक धर्म अलग-अलग स्तरों पर केवल आंशिक सत्य बताते हैं और कोई धर्म पूर्ण सत्य नहीं बता सकता।

थिऑसोफिकल सोसाइटी की संस्थापिका एच. पी. ब्लावत्सकी ने सभी धर्मों में निहित एकता बताते हुए भिन्नता की व्यर्थता को बताया है। जैसे प्रकाश की श्वेत किरण एक प्रिज्म में से जाकर सौर पट्टी या वर्णक्रम (solar spectrum) के विभिन्न रंगों में विभाजित होती है उसी प्रकार एक दैवी सत्य की किरण पुन्ज (Beam) मनुष्य के त्रिआयामी प्रकृति के प्रिज्म में से जाकर विभिन्न रंगों के हिस्सों, जिसे विभिन्न धर्म कहा गया, में विभाजित हो जाती हैं और जैसे सौर पट्टी की किरणें आभासित न होने वाली छाया द्वारा एक दूसरे में मिलती हैं उसी प्रकार महान धर्मशास्त्र जो मूल स्रोत से विभिन्न स्तरों तक अलग होकर प्रकट हुए वे भी छोटे मतभेदों, विचारधाराओं और एक या दूसरी ओर से निकली हुई प्रशाखाओं द्वारा जोड़े गये हैं। एक साथ जोड़ कर उनका समुच्चय एक शाश्वत सत्य को प्रदर्शित करता है, अलग-अलग रूप में वे मानवीय त्रुटि और अपूर्ण लक्ष्यों के छायामात्र रह जाते हैं। *दि सिक्रेट डॉक्टरीन* पुस्तक की संक्षिप्त प्रस्तावना में कहा गया है कि इस पुस्तक के लिखने के उद्देश्यों में से एक है – "पुरातन सत्य जो सभी धर्मों का आधार है, को विकृत होने से बचाना और मूल एकत्व जिसमें से सभी निकले हैं का कुछ सीमा तक अनावरण करना।" आगे प्रस्तुति में कहा गया है कि किसी धर्म

चाहे वह आर्यन हो या सीमेटिक (Semitic) या टूरेनियन (Turanian), उसका कोई संस्थापक नहीं हुआ जिसने किसी नये धर्म का आविष्कार किया या नये सत्य को प्रकट किया। जितने भी संस्थापक हुए वे सही अर्थों में प्रसारक (transmitters) थे न कि मूल शिक्षक। वे सनातन सत्य के नये रूपों और व्याख्या के लेखक थे जबकि जिस सत्य पर उनकी व्याख्या आधारित थी वे सत्य उतने ही पुराने हैं जितनी कि मानवता।

एक जिज्ञासु को सभी धर्मों में विचारों और अर्थों की समानता दिखती है, उदाहरण स्वरूप पतित देवों (Fallen Angels) की परिपाटी के बारे में लगभग सभी धर्मों में कहा गया है। एक समय था जब पूरे संसार, पूरी मानवता का एक ही धर्म था। इस पृथ्वी के सभी धर्म प्रारम्भ में एक ही थे और एक ही केंद्र से निकले थे।

तुलनात्मक अध्ययन द्वारा एक तो बाह्य विकृत रूप और बाहरी आवरण के भीतर जाकर विभिन्न धर्मों का जो सार एकत्व है उसको देखने का प्रयोजन होता है और सभी धर्मों में जो आंशिक सत्य है उसको समग्र रूप से देख करके हम सत्यता के अधिक निकट पहुंच सकते हैं तथा उसको समझ करके हमारा व्यवहार और कार्य उस सार तत्त्व और गहरे सत्य के अनुसार बदल सकता है। सभी धर्मों के प्रति आदर बढ़ता है। ऐसी समझ मनुष्य के जीवन को शुद्ध करती है, उसकी भावनाओं को उच्च स्तर पर ले जाती है तथा उसकी विपत्ति में सान्त्वना देती है। यह एक शांति का संदेश हो जाती है न कि झगड़े पैदा करने वाली। '*एट दि फीट ऑफ दि मास्टर*' में सदाचार के छः बिन्दुओं में से सहनशीलता के संबंध में कहा गया है कि, "तुम्हें सबके प्रति सम्पूर्ण सहनशीलता अनुभव करना है अन्य लोगों के धर्मों के विश्वास में हृदय से उतनी ही रुचि लेकर जितना कि तुम अपने धर्म में लेते हो क्योंकि उनका धर्म उच्च स्तर पर जाने का वैसा ही मार्ग है जैसा तुम्हारा है। सबकी सहायता

करने के लिए तुम्हें सबको समझना ही चाहिए।"

भगवान कृष्ण ने *भगवद् गीता* (अध्याय 4 श्लोक 11) में कहा है – "मनुष्य किसी भी प्रकार से मेरे पास आते हैं, मैं उनका स्वागत करता हूं क्योंकि मनुष्यों द्वारा प्रत्येक ओर से अपनाये गये मार्ग मेरे हैं।"

कर्मकाण्ड और अनुष्ठान क्रिया, परिपाटी का पालन, कोई विशेष शब्द या मंत्र बोलना, किसी विशेष अभ्यास का प्रयोग करना या न करना, ये छोटी बातें हैं। इनके बारे में हम यह प्रश्न पूछ सकते हैं; क्या यह पुरातन धर्म शास्त्रों में संस्थापक या उनके तुरन्त बाद के शिष्यों द्वारा संस्तुत की गयी हैं? क्या इनकी उपयोगिता उनके द्वारा जिनकी आंतरिक शक्तियां विकसित हैं और अपने अनुभव से जो अदृश्य संसार को समझ सकते हैं की व्याख्या की जा सकती है? क्या कोई प्रथा आधुनिक विकास की है अर्थात केवल दो या तीन शताब्दियों पहले की या यह स्थानीय है जो पुरातन शास्त्रों में नहीं पायी जाती और जो गुह्य ज्ञान के द्वारा उचित नहीं ठहराई जा सकती? तब यह किसी व्यक्ति के लिए उसके आध्यात्मिक जीवन में कितनी भी सहायताप्रद हो इसको उस धर्म के एक हिस्से के रूप में किसी अन्य सदस्य पर नहीं थोपना चाहिए और यदि अपना ही कोई धर्मावलंबी इसका पालन नहीं करता है तो उसको हेय दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। आवश्यक बिन्दुओं पर एकता होनी है और अनावश्यक बिन्दुओं पर उदारता होनी चाहिए। अगर इस बुद्धिमतापूर्ण नियम को प्रत्येक व्यक्ति माने तो धार्मिक असहिष्णुता और पंथीय झगड़े जो 'धर्म' शब्द को शर्मिन्दा करते हैं, कम होंगे।

यह ठीक ही कहा है कि धर्मों में जो विविधता है वह वाद-विवाद के लिए नहीं है, बल्कि सभी को मिल करके उत्सव के रूप में मनाने के लिए है (The differences of Religions are not for disputations but are for celebrations)।

सभी धर्मों को और संसार में उनका क्या काम है, इसको समझना आज बहुत आवश्यक है। पृथ्वी पर सभी धर्मों के अनुयायियों के मत और विश्वास से सभी सभ्यताओं और महाद्वीपों में युद्ध और शांति, नैतिकता, राजनीति, परिवार और सामाजिक संरचना प्रभावित होते हैं। तुलनात्मक धर्मों का अध्ययन एक हिन्दू को सही हिन्दू बनने में, एक ईसाई को सही ईसाई बनने में, एक मुस्लिम को सही मुस्लिम बनने आदि में सहायता करता है और साथ ही जो सर्वव्यापी जीवन और चेतना एक है उसकी समझ को और गहरा करता है तथा सनातन सत्य के और निकट ले जाता है। हालांकि इसके साथ ही प्रत्येक धर्म में से कुछ हिस्से को त्यागना होगा। हमें अपने में यह साहस पैदा करना होगा कि अपने धर्म में व्याप्त अंधविश्वास और गलत विचारों से मुक्त हों। यह समझने की आवश्यकता है कि किसी अधिकारी (Authority) को मान लेने से धार्मिक चेतना नहीं प्राप्त होती। हमें स्वयं सत्य का अन्वेषक बनना ही होगा।

निष्कर्ष

ऐट दि फीट ऑफ दि मास्टर में कहा गया है कि आपको कोई बात केवल इस कारण नहीं मान लेनी चाहिए कि बहुत से अन्य लोग उसे मानते हैं, न इसलिए कि सैकड़ों वर्षों से लोग मानते चले आ रहे हैं, और इसलिए भी नहीं कि वह बात किसी ऐसी पुस्तक में लिखी है जिसे लोग पवित्र मानते हैं। आप प्रत्येक बात पर स्वयं विचार कीजिये और अपने विवेक से निर्णय लीजिये कि वह बुद्धिसंगत है या नहीं।

धर्मों के चरित्र को समझ कर, धर्मों के बंधुत्त्व के सही विचार से तथा तुलनात्मक धर्मों के अध्ययन से हम सच्चे धर्म को समझते हैं और उसे जीवन में अपनाते हुए सही धार्मिक व्यक्ति बनते हैं।

सामाजिक सेवा – इसका आध्यात्मिक आयाम

परिचय

व्यक्तियों और संगठनों द्वारा कई प्रकार की सामाजिक सेवाएं प्रदान की जाती हैं, हमारा थिऑसोफिकल ऑर्डर ऑफ़ (TOS) सर्विस उन संगठनो में से एक है। लेकिन ऐसे संगठन केवल भौतिक स्तर पर ही सेवा प्रदान कर रहे हैं, और वह अत्यंत उपयोगी है। थिऑसोफी के राज-योग का अभ्यास करने के तरीकों को तीन आयामी बताया गया है – अध्ययन, ध्यान और सेवा।

सेवा – कर्त्तव्य, परोपकारिता और दान

निस्वार्थ सेवा के रूप में निभाए गए कर्त्तव्य पर जोर दिया गया है। ऐसे कर्त्तव्य का पालन न करने के परिणाम का भी उल्लेख किया गया है। एक प्रश्न के उत्तर में थिऑसोफी की कुंजिका (अध्याय XII) में कहा गया है कि,

“कर्त्तव्य वह है जो मानवता के प्रति देय है, हमारे सह-मनुष्यों, पड़ोसियों, परिवार और विशेष रूप से उन सभी के प्रति जो हमसे अधिक गरीब और असहाय हैं। यह एक ऐसा ऋण है, जिसे यदि इस जीवन में नहीं चुकाया गया, तो अगले जन्म में हमें आध्यात्मिक रूप से दरिद्र और नैतिक रूप से दिवालिया बना देता है। थिऑसोफी कर्त्तव्य का सारतत्त्व है।”

फिर आगे, थिऑसोफिकल कर्त्तव्य की प्रकृति को व्यावहारिक तथा कर्म सिंद्धांत के दृष्टिकोण से व्याख्या की गई है, “हमारा कर्त्तव्य है कि हमारे जीवन के प्याले में जो भी सामग्री है उसे हम बिना किसी शिकायत के अंतिम घूंट तक पियें, जीवन के गुलाब को तोड़ें केवल इसलिए कि उसकी सुगंध

दूसरों को मिले और स्वयं अपने लिए कांटों से संतुष्ट रहें, यदि उस सुगंध का भोग, दूसरों को वंचित किए बिना, नहीं किया जा सकता।"

इस पुस्तक से कुछ अन्य प्रासंगिक अनुच्छेदों को भी देखें, जैसे :

- किसी भी *थिऑसोफिस्ट* को इस नाम पर तब तक अधिकार नहीं है जब तक कि वह कार्लाइल के सत्यवाद की शुद्धता से पूरी तरह से प्रभावित न हो जाए : "मनुष्य का अंतिम एक कार्य में है न कि एक विचार में, चाहे वह सर्वोत्तम विचार ही क्यों न हो" – और जब तक वह अपने दैनिक जीवन को इस सत्य पर निर्धारित करके उसके अनुसार ढालता नहीं।
- सामाजिक-सहयोग को बढ़ावा देने और सामाजिक सुधार के लिए सच्चे प्रयास करने के सिद्धांत हैं – सार्वभौमिक एकता और कारण; मानवीय एकजुटता; कर्म का नियम; पुनर्जन्म। ये सिद्धांत स्वर्णिम श्रृंखला की चार कड़ियां हैं जो मानवता को एक परिवार, एक विश्व बंधुत्व में बांधती हैं।
- स्वार्थ, उदासीनता और क्रूरता कभी भी मानव प्रजाति की सामान्य स्थिति नहीं हो सकती। प्रगति केवल श्रेष्ठ गुणों के विकास से ही प्राप्त की जा सकती है। प्रत्येक थिऑसोफिस्ट अपनी शक्ति भर सभी संसाधनों से, हर बुद्धिमान और सुविचारित सामाजिक प्रयास, जिसका उद्देश्य गरीबों की स्थिति में सुधार करना है, में सहायता के लिए अत्यंत प्रयास करने के लिए बाध्य है। इस तरह के प्रयास, उनकी अंतिम सामाजिक उद्धार की दृष्टि से, या ऐसे उन लोगों में कर्त्तव्य की भावना विकसित करने की दृष्टि से, जो अभी जीवन के लगभग हर संबंध में प्रायः इसकी उपेक्षा करते हैं, करने चाहिए।

- दान के थिऑसोफिकल विचारों का अर्थ है – दूसरों के लिए व्यक्तिगत परिश्रम; व्यक्तिगत कृपा और दयालुता; पीड़ित लोगों के कल्याण में व्यक्तिगत रुचि; व्यक्तिगत सहानुभूति, उनके कष्टों या जरूरतों में पूर्व चिंतन और सहायता आवश्यक है। हम विश्वास करते हैं कि जरूरतमंद के साथ व्यक्तिगत संपर्क और सहानुभूति उसको दिए धन को एक हजार गुना अधिक शक्ति और प्रभाव देते हैं। हम जीवात्मा की भूख को राहत देने में विश्वास करते हैं, यदि अधिक नहीं तो, पेट की भूख के समान ही जीवात्मा की भूख को राहत देना है; क्योंकि कृतज्ञता जिस व्यक्ति के प्रति प्रकट की जाती है उसकी अपेक्षा उस व्यक्ति का अधिक भला करती है जो कृतज्ञता का अनुभव करता है।
- सभी बड़ी सामाजिक बुराइयां, समाज में वर्गों का अंतर और जीवन के मामलों में लिंगों का भेद, पूंजी और श्रम का असमान वितरण – ये सब उस चीज़ के कारण हैं जिसे हम संक्षेप में, लेकिन वास्तव में **कर्म** कहते हैं।
- तथाकथित "निम्न वर्ग" के बीच प्रचलित घोर पीड़ा और दारुण आवश्यकता जैसी बुराइयां किसी व्यक्ति या यहां तक कि राष्ट्र के लिए विशेष नहीं हैं, वे न्यूनाधिक वैश्विक हैं; और मानव अंतर्निर्भरता के इस व्यापक आयाम पर कर्म का नियम अपना वैध और समान विचार-विषय (या मुद्दा) पाता है।
- जब प्रत्येक व्यक्ति ने सामान्य भलाई के लिए धन, श्रम और श्रेष्ठ विचार से अपना योगदान दिया है, जितना कि वह ऐसा कर सकता है, तभी, और केवल तभी, राष्ट्रीय कर्म का संतुलन बनेगा, और तब तक हमें यह कहने के लिए न तो कोई अधिकार है और न ही कोई कारण है, कि पृथ्वी पर प्रकृति की वहन क्षमता से कहीं अधिक

जीवन है (*थिऑसोफी की कुंजिका* अध्याय XI – कर्म क्या है?)।

सेवा का आध्यात्मिक आधार

आत्मा की स्थिरता के कारण मनुष्यों की एकजुटता और एकत्व के स्वयंसिद्ध सत्य के बराबर कभी भी कुछ अन्य नहीं है। कोई भी व्यक्ति श्री कृष्ण के उस दृढ़ कथन को दोहराते नहीं थक सकता, जो उनकी विभूतियों में से प्रथम है :

"मैं सभी प्राणियों के हृदय में स्थित आत्मा हूं। सभी प्राणियों का आदि, मध्य और अंत भी मैं ही हूं" (गीता अ. 10, श्लो. 20)।

सभी प्राणियों में, केवल उच्च जाति में नहीं, केवल हिंदुओं में नहीं, केवल भारतीयों में नहीं, केवल मनुष्यों में नहीं, बल्कि सभी प्राणियों में। संसार भर के सभी पुरुषों और स्त्रियों में एक आत्मा, एक जीवन, एक ईश्वर है। हम कर्मचारियों और कार्यालय-प्रमुखों की बात करते हैं – वे "बिना किसी द्वितीय वाले" के हाथ और सिर हैं, जैसा कि छांदोग्य उपनिषद् दृढ़तापूर्वक कहता है। और कर्मचारियों और कार्यालय-प्रमुखों की बात करें तो क्या हमें गीता को फिर से याद नहीं करना चाहिए?

"हर जगह जिसके हाथ और पैर हैं; हर जगह आंखें, सिर और मुंह, सब कुछ सुनने वाला। वह संसार में सबको आवृत (envelope) करके रहता है" (गीता अ. 13, श्लो. 14)।

अब, व्यावहारिक समाज-सेवा कार्यक्रम के लिए इस आध्यात्मिक कथन का क्या निहितार्थ है? यदि कार्यकर्ता, पर्यवेक्षक और मालिक सभी दिव्य हैं और उन्हें इसका एहसास है तो फिर शायद ही कोई समस्या रहेगी। लेकिन क्योंकि गरीब और भूखे शरीर, या क्षुद्र और नीच मन, या अज्ञानी

और असंस्कृत हृदय, हम सभी के अन्दर ईश्वर की पहचान पर हावी हो जाते हैं, हमारे हाथ हमारे सिर पर वार कर रहे हैं, हमारे मुंह हमारे पेट को भूखा मार रहे हैं! भूखे गरीबों को उनकी अपनी दिव्यता की ओर देखना सिखाएं और शीघ्र ही वे कमाने और खिलाने की क्षमता के साधन संपन्न सागर में आ जाएंगे, लेकिन केवल भूखे गरीबों को ही शिक्षित नहीं किया जाना चाहिए। इससे भी अधिक भयानक स्थिति नियोक्ता (employer), अमीरों की है, जिनके लोभ और लालच ने उन्हें स्वयं अपने अन्दर की इस दिव्यता के प्रति अंधा कर दिया है। कई मामलों में विलासिता में घूमते अमीरों के प्रति गरीबी से जूझ रहे उन लोगों की तुलना में अधिक दया आती है, जिनका शोषण किया जा रहा है। इस सिद्धांत से मनुष्य में आत्मा की शिक्षा, जीवात्मा के पालन (culture) की आवश्यकता होती है।

मानवीय कष्ट – इसका कारण और निवारण

संसार में जाति से जाति और प्रजाति से प्रजाति की प्रतिस्पर्धा पनप रही है। कृष्ण, उपनिषद् और बुद्ध ने मानवीय दुख और मानवीय अज्ञानता की समस्या को सार्वभौमिक आत्मा के दृष्टिकोण से देखा और दार्शनिक दृष्टि के एक शक्तिशाली प्रभाव क्षेत्र द्वारा मानव साम्राज्य के दर्द और गरीबी को नकार दिया। लेकिन बुद्ध ब्रह्म और आत्मा से शुरू नहीं करते। वह उस तथ्य विषयक संसार से प्रारंभ करते हैं, जिसमें दुःख है :

पहला सत्य दुःख का है। उपहास मत उड़ाओ!
जिस जीवन को तुम महत्व देते हो वह दीर्घकाल तक चलने वाली पीड़ा है :
केवल उसके दर्द ही टिके रहते हैं; उसके सुख हैं
उन पक्षियों की तरह जो हल्के हैं और उड़ जाते हैं।

(*The Light of Asia*, पृ. 218)

बुद्ध ने मानवीय कष्ट और मानवीय दुःख के कारण और निवारण पर अपनी अचूक उंगली रखी। ऐसा कौन सा शोक है जो अपने आप उत्पन्न होता है और इच्छा से उत्पन्न नहीं होता? बुद्ध कहते हैं कि, तन्हा, तृष्णा, काम – ये अज्ञान और कष्ट की जड़ें हैं। और क्योंकि जो लोग परिश्रम करते हैं और जिनके लिए वे परिश्रम करते हैं, वे इस विस्मयकारी बृहत् तथ्य को नहीं समझते हैं, बीमारियां पनपती हैं भले ही उनसे लड़ने के लिए डॉक्टर हों, कष्ट बहुतायत में होता है भले ही उसे समाप्त करने के लिए समाज-सेवी लोग हों :

> अतः कलह और लालसाएं बढ़ते हैं जो पृथ्वी पर युद्ध का कारण बनते हैं,
> इसलिए धोखा खाए हृदय शोक करते हैं और नमकीन आंसू बहते हैं;
> इस तरह वासना, ईर्ष्या, क्रोध, घृणा की वृद्धि होती है,
> इस तरह वर्ष रक्त से सने वर्ष का पीछा करते हैं, जंगली लाल पैरों के साथ...
>
> (*The Light of Asia*, पृ. 220)

जब अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा कि वह मूल कारण क्या है जो मनुष्य को उसके दैवीय स्वभाव के बावजूद गलत करने के लिए प्रेरित करता है, तो भगवान ने वही उत्तर दिया जो बुद्ध ने दिया था :

"यह वासना है, यह क्रोध है, जो रजस से उत्पन्न होता है; सर्वग्रासी, सर्वप्रदूषक। इसे पृथ्वी पर मनुष्य का शत्रु जानो" (गीता.अ. 3, श्लो. 37)।

इस शत्रु से लड़ने के लिए – पंचशील, "पांच निषेधों" की आवश्यकता है – हत्या मत करो, चोरी मत करो, झूठ मत बोलो, व्यभिचार

मत करो, नशा मत करो। यह बुद्ध का मार्ग ही एकमात्र छोटा मार्ग मालूम होगा। इसका तात्पर्य सबसे पहले और सबसे महत्वपूर्ण स्व-सुधार से है, "पांच निषेधों" के अनुसार जीवन जीना।

उपनिषद् और गीता, बुद्ध और धम्मपद के उपदेश, *सरमन ऑन दि माउंट* आदि को केवल गहन दर्शन के ग्रंथ के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए, बल्कि मनोविज्ञान के व्यावहारिक नियमावली (manual) के रूप में भी देखा जाना चाहिए जो हमें मनुष्य की संरचना के बारे में सिखाते हैं , अपने पर्यावरण के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण और उस पद्धति के बारे में जिसके द्वारा वह अपने अवरोधों को दूर कर सकता है तथा अपने जीवन के मानक को न केवल अर्थशास्त्र के स्तर पर, बल्कि नैतिकता और मन के स्तर पर भी ऊपर उठा सकता है।

बंधुत्व के विरुद्ध पाप विभिन्न तरीकों से स्वयं को व्यक्त करता है; हमारे देश में ऊंची जाति और नीची जाति, हिंदू-मुस्लिम तनाव, सांप्रदायिक प्रतिद्वंद्विता और प्रांतीय ईर्ष्या एक ही गर्भ से पैदा होती हैं, भाईचारा-हीनता की इसी कोख में राष्ट्रीय घमंड और अन्य राष्ट्रों के प्रति घृणा पैदा होती है, जिससे बलवान द्वारा निर्बल का शोषण होता है और फिर रक्तरंजित विनाश होता है। इसके उपचार के रूप में प्रस्तुत मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक सिद्धांत हमारे उपनिषदों एवं गीता में है। इन पुरानी श्रद्धेय पुस्तकों की सबसे बड़ी और सबसे अधिक दोहराई जाने वाली शिक्षा यह है कि सभी चीजों – बड़ी और छोटी – की नींव एक अदृश्य और अविभाज्य आत्मा पर है।

अशोक के विश्व-प्रसिद्ध शिलालेखों में, जिन्हें सही मायने में "पत्थरों में उपदेश" कहा जाता है, न केवल पुरुषों और स्त्रियों के लिए अस्पतालों, डॉक्टरों और औषधीय जड़ी-बूटियों का उल्लेख मिलता है, बल्कि जानवरों के लिए भी उल्लेख मिलता है। न केवल बीमारों और विकलांगों के लिए,

बल्कि स्वस्थ लोगों के लिए भी, हम समाज सेवा के कार्य किए हुए पाते हैं, बरगद के पेड़ों की छाया वाली सड़कें, मनोरंजन के लिए आम के बगीचे, हर आधे कोस पर खोदे कुएं, और विश्राम गृह थे। सामाजिक सेवकों के लिए शाही निर्देश का अत्यंत प्रेरक अंश जारी किया गया था जिसमें सम्राट सभी लोगों को अपने बच्चों के रूप में बताते हैं, और फिर से वह जोर देकर कहते हैं: "मेरा सर्वोच्च कर्त्तव्य, वास्तव में, सभी की भलाई का संवर्धन करना है।"

अधिक से अधिक विचारक और कार्यकर्ता आत्मा के महत्व पर जोर दे रहे हैं, जिसके बिना भौतिक लाभ बहुत कम सहायक हो पाते हैं। सम्राट अशोक द्वारा पूरी तरह से बोध किए गए और व्यक्त किए गए सत्य को समाज सुधारक और समाज सेवी अस्पष्ट रूप से अनुभव कर रहे हैं, कि बाह्य सेवा के कार्य तब तक बहुत कम महत्व रखते हैं जब तक कि वे आध्यात्मिक समझ पर आधारित न हों। इसलिए अशोक ने नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा का प्रसार किया और उन्हें इस बात की सबसे अधिक उत्सुकता थी कि लोगों को धर्म द्वारा निर्धारित मार्ग का वास्तव में अनुसरण करना चाहिए।

गांधी जी का सेवा संघ, उनके ग्यारह नियमों [अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शारीरिक श्रम, स्वाद पर नियंत्रण, निर्भयता, सभी धर्मों के लिए समान आदर, स्वदेशी, तथा गैर-पृथक् भाव (unexclusiveness) या विश्वबंधुत्व की भावना] में, पंचशील के समान नैतिक आदर्श पर आधारित था, अहिंसा से प्रारंभ होकर और विश्वबंधुत्व पर समाप्त होते हुए। गांधी जी का पंथ दूसरों पर थोपा नहीं गया था, बल्कि यह इसके सदस्यों द्वारा स्व-थोपा गया था, और वह कठोर स्व-अनुशासन की मांग करता था, और इसी में इसके प्रभाव और इसकी शक्ति का रहस्य, साथ ही इसका गंभीर उत्तरदायित्व भी निहित है।

समाज सेवा का थिऑसोफिकल आदर्श

एच. पी. ब्लावत्सकी ने बताया कि एक थिऑसोफिस्ट को किस चीज़ की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए:

वह जो परोपकारिता का अभ्यास नहीं करता है, वह जो अपना आखिरी निवाला अपने से कमजोर या गरीब के साथ साझा करने के लिए तैयार नहीं है, वह जो अपने मानव भाई, चाहे वह किसी भी जाति, राष्ट्र या पंथ का हो, जब भी और जहां भी उसे दुख दिखता है, उसकी सहायता करने में उपेक्षा करता है, जो मानवीय दुख की कराह के प्रति अपना कान बहरा कर देता है, वह जो किसी निर्दोष व्यक्ति की निंदा सुनता है, चाहे वह भाई थिऑसोफिस्ट हो या नहीं, और उसके बचाव का कार्य उसी प्रकार नहीं करता जैसे वह अपना बचाव स्वयं करेगा – वह थिऑसोफिस्ट नहीं है।

प्रज्ञा के एक गुरु ने कहा:

"थिऑसोफी को केवल नैतिक सत्यताओं के संग्रह का प्रतिनिधित्व नहीं करना चाहिए, सैद्धांतिक शोध प्रबंधों में सार-वर्णित तत्त्वमीमांसी नैतिकता का एक बंडल मात्र नहीं होना चाहिए। थिऑसोफी को व्यावहारिक बनाया जाना ही चाहिए, और इसलिए इसे व्यर्थ चर्चा के भार से मुक्त किया जाना चाहिए... इसे अपनी भावना – पारस्परिक सहिष्णुता, दान और प्रेम की भावना – के साथ पूरी तरह से संतृप्त जीवन के एक सर्वव्यापी नियमावली (या कोड) में वस्तुनिष्ठ अभिव्यक्त होना है। इसके अनुयायियों को दृढ़ता से उल्लिखित और दृढ़ता से लागू नैतिकता का उदाहरण स्थापित करना होगा..." (*Letters from The Masters of the Wisdom – second series* , पत्र संख्या 82, पृ. 157)।

एच. पी. ब्लावत्स्की *प्रैक्टिकल ऑकल्टिज्म* में कहती हैं:

"जब कार्य करने का समय आए तो बुद्धिमानी से कार्य करना, विश्राम का समय आने पर धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करना, मनुष्य को (मामलों के) उठते-गिरते ज्वार (tides) के अनुरूप बनाना, ताकि प्रकृति और नियम को उसके पीछे रखते हुए, और सत्य तथा उपकार को उसका प्रकाश स्तंभ के रूप में रखकर, वह आश्चर्यजनक प्राप्ति कर सकता है। इस नियम की अज्ञानता के परिणामस्वरूप एक ओर अविवेकी उत्साह की, और दूसरी ओर अवसाद तथा सदैव निराशा की अवधियां बनती हैं। इस प्रकार मनुष्य ज्वार-भाटा का शिकार बन जाता है जबकि उसे उनका स्वामी होना चाहिये" (*दैनिक जीवन के लिए कुछ व्यावहारिक सुझाव* – भाग II, पृ.75)।

मास्टर और एच. पी. ब्लावत्सकी के उपरोक्त कथन समाज सेवा के लिए थिऑसोफिकल आदर्श का सार प्रस्तुत करते हैं।

परिपूर्ण या उत्तम सेवा

आधुनिक विचारों में अवधारणाओं और आकांक्षाओं की एक नई धारा को डालने के लिए, संक्षेप में, एक उन्नत नैतिकता, एक विज्ञान और दर्शन के लिए तार्किक आधार, जो आज के ज्ञान के अनुकूल है, प्रदान करने के लिए थिऑसोफी दुनिया के सामने आई है। जन मानस में नए प्रभावों और जीवन की उत्कृष्ट धारणाओं को डाले बिना, मात्र भौतिक परोपकार बेकार है। मानव जाति द्वारा महान आध्यात्मिक सत्यों को धीरे-धीरे आत्मसात करने से ही सभ्यता के रूप में क्रांति आएगी, और अंततः सतही दुख की छेड़छाड़ की तुलना में बुराई के लिए कहीं अधिक प्रभावी रामबाण इलाज होगा। रोकथाम इलाज से बेहतर है।

– एच. पी. ब्लावत्सकी

हमें हर समय इस विचार में व्यस्त रहना चाहिए कि हम दूसरों के लिए क्या कर सकते हैं – ये दूसरे लोग मनुष्य, जानवर, पौधे, खनिज साम्राज्य, प्रारंभिक-जीव (elemental) साम्राज्य और देव साम्राज्य भी हो सकते हैं और इन सबसे ऊपर, हम पृथ्वी पर सिद्ध संघ के कार्य के लिए एक नलिका या माध्यम बन सकते हैं। हमें यह सोचते रहना चाहिए कि हम अपने साथी प्राणियों के लिए क्या कर सकते हैं, हम उन्हें कैसे बेहतर समझ सकते हैं, जैसे जैसे समय बीतता है हम अपने संबंधों को और अधिक सुंदर, अधिक सौम्य और अधिक समझदार कैसे बना सकते हैं। अगर हम ऐसा जीवन जी सकें तो यह एक अद्भुत स्वप्न जैसा होगा और फिर हमें चिंताओं का बोझ महसूस नहीं होगा। हमें सभी लोगों के रहने के लिए एक बेहतर, अधिक सामंजस्यपूर्ण और शांतिपूर्ण संसार के लिए काम करना चाहिए। यदि हम केवल अपने विचार, अपने ध्यान, अपनी अंतर्दृष्टि के माध्यम से उस स्वप्न को पूरा करने में सहायता कर सकते हैं, तो हमें स्वयं को विशेषाधिकृत समझना चाहिए। ऐसी सेवा एक प्रकार का योग बन जाती है। इस तरह के योग का अभ्यास हमें अपने साथी प्राणियों के निकट लाता है, जिससे हम उन्हें अधिक समझ और देख-भाल वाली नजरों से देखते हैं, जिससे हम अपना सब कुछ उनके साथ साझा करते हैं; और यही एकमात्र प्रकार का योग है जो अभ्यास करने लायक है। जीवन की पूर्णता, चरित्र की सुंदरता, ये सब ऐसी परिपूर्ण सेवा से ही प्राप्त हो सकते हैं। अपने साथी प्राणियों की परिपूर्ण सेवा में वह परिपूर्ण सौन्दर्य प्रकट होता है जो हमारे अन्दर है।

सच्ची सेवा

सच्ची सेवा आध्यात्मिक सेवा है जो लोगों के मन तथा हृदय को उन्नत करती है, उनके सोचने और जीने के तरीके को बदलने में उनकी सहायता करती है ताकि संसार में शांति और सद्भाव का परम शासन हो सके।

हम कैसे सोयें?

हेलेना पेत्रोव्ना ब्लावत्स्की द्वारा अपनी पुस्तक *Five Years of Theosophy* में लिखे गए लेख How Shall We Sleep? में दो व्यक्तियों सीता नाथ घोष और बरों वॉन रिचेनबच के लेखों के इस विषय पर विचार के बारे में लिखा गया कि उनके विचार सीधे विरोधी हैं, क्योंकि रिचेनबच सोने वाले के सिर को उत्तर की ओर रखने की अनुशंसा करते हैं, जबकि घोष इस स्थिति की पूर्णतया भर्त्सना करते हैं।

आगे ब्लावत्स्की लिखती हैं कि उनका विनम्र विचार है कि दोनों लेखक सही हैं, अपने-अपने दृष्टिकोण से, जैसा कि वे दिखाने का प्रयत्न करेगीं। इसका क्या कारण है कि सोने में हमारी अवस्था का कोई महत्त्व होना चाहिए? क्योंकि हमारी देह को ऐसी अवस्था में होना है कि वह पृथ्वी के मुख्य चुम्बकीय धाराओं के साथ सामंजस्यता में हो; किंतु जैसे ये धाराएं संसार के सभी हिस्सों में समान नहीं हैं, इसलिए सोने वाले व्यक्ति की अवस्था विभिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न होगी।

हमारी पृथ्वी पर तीन मुख्य चुम्बकीय धाराएं हैं – अर्थात, उत्तरी गोलार्ध में, उत्तरी ध्रुव से भूमध्य (या विषुवत) रेखा की ओर; दक्षिणी गोलार्ध में, दक्षिणी ध्रुव से भूमध्यरेखा की ओर; ये दो धाराएं उष्ण कटिबंध में मिलती हैं और उनका संयुक्त मार्ग पूर्व से पश्चिम की ओर हो जाता है। इसलिए सोने वाले की अवस्था बदलना चाहिए, इसके अनुसार कि वह उष्ण कटिबंध में है या उससे उत्तर अथवा दक्षिण में है।

उत्तर के ठंडे या शीतोष्ण क्षेत्र में उसे अपने सिर को उत्तर की ओर रखकर लेटना है; दक्षिण में दक्षिण की ओर; उष्ण कटिबंध में, पूर्व की ओर – ताकि बिना किसी व्यवधान के चुंबकीय धारा उसके देह में सिर से पैर की ओर प्रवाहित हो, क्योंकि चुम्बकीकरण के लिए यह स्वाभाविक अवस्था है।

निम्न रेखा-चित्र विषय को और स्पष्ट कर सकता है, और इस प्रकार प्रश्न के दूसरे भाग, कि क्या और कब हमें दाहिने या बाएं करवट, पेट या पीठ के बल लेटना चाहिए – का उत्तर देने में सहायक हो सकता है:–

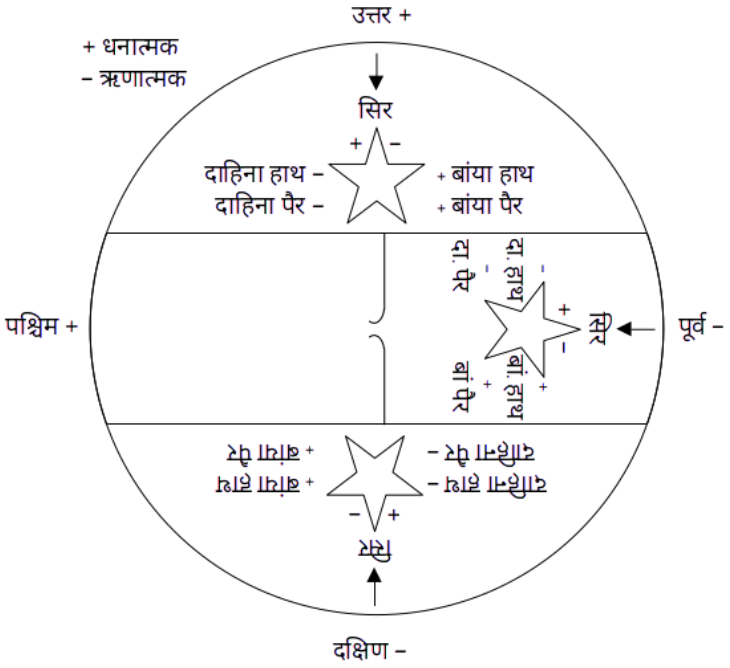

"हम कैसे सोयें?" के योग्य लेखक अपने रेखाचित्र में दिखाते हैं कि उनकी सोच में सिर पूर्ण धनात्मक और दोनों पैर ऋणात्मक होने चाहिए। ऐसा लगता नहीं, किंतु सिर का दाहिना पक्ष और बायां पैर धनात्मक हैं, तथा सिर का बायां पक्ष और दाहिना पैर ऋणात्मक हैं, और उसी प्रकार दाहिना हाथ ऋणात्मक तथा बायां हाथ धनात्मक है।

चूंकि उत्तरी ध्रुव धनात्मक और सिर का बायां पक्ष ऋणात्मक है, उत्तरी क्षेत्र में रहने वालों के सोने की स्वाभाविक अवस्था होगी – दाहिने करवट, सिर उत्तर की ओर; और दक्षिणी क्षेत्र में इसकी ठीक उल्टी। जो लोग उष्ण कटिबंध में रहते हैं उनकी अत्यंत स्वाभाविक अवस्था पेट के बल सोना होगी, क्योंकि सिर का बायां या ऋणात्मक पक्ष उत्तर या धनात्मक धारा की ओर मुड़ा होगा, तथा इसके प्रतिकूल सिर का दायां या धनात्मक पक्ष दक्षिण या ऋणात्मक धारा की ओर होगा।

वे यह भी लिखती हैं कि एक व्यक्ति और उसका परिवार कई वर्षों से अपने सिर को उत्तर या पश्चिम की ओर कर के सोते रहे हैं (उनके विचार से उनके गोलार्ध में सही अवस्था), और उन लोगों को खेद का कोई अवसर नहीं मिला; वास्तव में उस समय से उनके घर में कदाचित ही चिकित्सक का आना हुआ।

गर्ग, मार्कण्डेय और दूसरों द्वारा नियत नियम केवल मैदानों के निवासियों से सम्बंधित हैं, न कि पहाड़ी निवासियों से। नियम है कि, सोने जाते समय मनुष्य पहले सोलह श्वासों तक दायीं करवट लेटें, तब बायीं ओर मुड़े उसका दुगुने समय तक. और उसके बाद वह किसी भी अवस्था में सो सकता है। इसके आगे, यह कि एक मनुष्य को जमीन पर नहीं ही सोना चाहिए, रेशमी या ऊनी कपड़े पर, अकेले पेड़ के नीचे, चौराहे पर, पहाड़ पर या आसमान (इसका जो भी अर्थ हो) पर नहीं सोना है। न ही उसे गीले कपड़ों में, भीगे पैर, या नग्न अवस्था में सोना है; उसे कुशा घास या उसी तरह के दूसरी घास पर नहीं सोना है, यदि वह दीक्षित न हो। इस प्रकार के कई और नियम भी हैं।

सौर मंडल में जीवन और चुंबकत्व का मुख्य स्रोत सूर्य है। इसलिए संसार के लिए, प्रकाश और चुंबकत्व के स्रोत के रूप में पूर्व दिशा, धनात्मक

है। उसी कारण से उत्तरी गोलार्ध के लिए दक्षिण (भूमध्य रेखा और न कि उत्तर) धनात्मक है। गति विज्ञान के नियमों के तहत इन दोनों बलों का परिणामी एक चुंबकीय धारा दक्षिण-पूर्व से उत्तर-पश्चिम की ओर होगी। यह प्रचलित दक्षिण-पूर्वी हवा के वास्तविक कारणों में से शायद एक है। किसी भी दशा में उत्तरी ध्रुव को धनात्मक नहीं सोचा जा सकता, क्योंकि उस स्थिति में वहां कोई बर्फ नहीं होगा। चुंबकीय धाराओं के स्रोत में आभा (aurora) नहीं बन सकता, किंतु उनके अंत में बन सकता है। इसलिए स्रोत भूमध्य रेखा या दक्षिण की ओर ही होना चाहिए। जीवन, सभ्यता, प्रकाश और लगभग प्रत्येक चीज का मार्ग पूर्व से पश्चिम, या दक्षिण-पूर्व से उत्तर-पश्चिम की ओर प्रतीत होता है। पश्चिम की ओर सिर करके सोने का दंड मन की व्यग्रता कहा जाता है, जब कि उत्तर की ओर सिर करके सोना प्राणनाशक कहा गया है।

इस नियम के उल्लंघन का उदाहरण निम्नलिखित उपाख्यान (anecdote) से दिया गया है:–

शिव के पुत्र गणेश के पैदा होने पर सभी देवता परिवार को बधाई देने तथा शिशु को आशीर्वाद देने आए। सबसे अंत में शनि आए, और वह कई बार पूछे जाने के बाद ही आए। जब वह शिशु को देखने गए, वह सिरविहीन प्रतीत हुआ। यह तुरंत उत्तेजना पैदा किया, और सभी देवता भ्रमित थे। अंत में शनि स्वयं महादेव के पास गए और करबद्ध हो कर उनको याद दिलाए कि यह उनकी (शनि की) उपस्थिति के कारण, तथा बिस्तर में शिशु का सिर उत्तर की ओर रखने के कारण से हुआ। क्योंकि ऐसा नियम था। तब देवता लोग आपस में सलाह किए और संदेशवाहकों को भेजा यह पता करने के लिए कि अन्य कौन प्राणी उत्तर की ओर सिर करके सो रहा था। अंत में उन्हें उस अवस्था में एक हाथी का पता मिला। उसका सिर तुरंत काटकर गणेश

के कंधों पर रख दिया गया। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि बाद में गणेश इतना ज्ञानवान और बुद्धिमान हुए कि यदि उनका सिर हाथी का नहीं होता, तो एक मानव-सिर में इतना ज्ञान नहीं समा सकता। यह लाभ उनको उत्तर की ओर सिर करके सोने तथा देवताओं के आशीर्वाद प्राप्त होने की परिस्थितियों से मिला। हाथी के लिए वही अवस्था किन्तु देवताओं का आशीर्वाद न होने के कारण परम मृत्यु साबित हुई।

आगे ब्लावत्स्की लिखती हैं :

"सीता नाथ का "मेडिकल चुम्बकत्व" पर पत्र पढ़ कर और इसके बहुत पहले बरों वॉन रिचेनबच का "चुम्बकत्व में अनुसंधान" का अध्ययन करके मैं अत्यंत कष्ट से हैरान हूं, जहां तक कि ये दोनों प्राधिकारी (authorities) एक-दूसरे से पूर्णतया विरोधी प्रतीत हुए – एक इस पर जोर देता हुआ "उत्तर की ओर सिर कभी भी नहीं, किसी भी परिस्थिति में नहीं," दूसरा "सर्वदा और सभी परिस्थितियों में सिर उत्तर की ओर"। कई वर्षों तक सीता नाथ को न जानते हुए, मैंने बरों वॉन रिचेनबच की सलाह माना, किंतु मैंने अपने स्वास्थ्य पर उस प्रभाव को नहीं प्राप्त किया जिसकी मैंने आशा की थी, और अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि मुझे मानव-समाज के उपयोग के लिए तथा सभी को स्वास्थ्य लाने के लिए किसी निश्चित नियम का पता नहीं चला। इस लेख को ध्यानपूर्वक पढ़ने पर मुझे यह प्रतीत होता है कि एक अत्यंत महत्वपूर्ण बिन्दु छूट गया है या नजरअंदाज कर दिया गया है – अर्थात, सोने वाले की अवस्था, कि क्या वह अपने चेहरे पर या अपने पीठ पर सोया है? यह अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसके सही उत्तर से दोनों सिद्धांतों में सामंजस्य किया जा सकता है, यह याद रखा जाए कि दोनों प्रयोग और निरीक्षण पर आधारित होने का दावा करते हैं। यह विचार ठीक नहीं है कि मनुष्य के लिए एक-तरफी अवस्था स्वाभाविक है और इस तरह दो

विकल्पों को छोड़ दिया जाए। क्या पीठ पर या पेट पर लेट कर सोने की अवस्था उचित है? इस प्रश्न पर दोनों में एक भी शब्द नही कहा गया है कि कौन प्रयोग किस तरफ किए गए।

इन सभी में एक चीज तो स्पष्ट प्रतीत होती है कि, धनात्मक को ऋणात्मक की ओर होना चाहिए तथा ऋणात्मक को धनात्मक की ओर। यदि हम इससे संबंधित एक रेखाचित्र बनावें तो इन अवस्थाओं से ये परिणाम होंगे – उत्तर को धनात्मक और दक्षिण को ऋणात्मक, पूर्व को ऋणात्मक और पश्चिम को धनात्मक लेते हुए।

अवस्था I. – पीठ के बल लेटे हुए।

क.	सिर पूर्व की ओर	सभी में सामंजस्य
ख.	सिर उत्तर की ओर	सिर और पैर में विसंगति, हाथों में सामंजस्य
ग.	सिर दक्षिण की ओर	सिर और पैर में सामंजस्य, हाथों में विसंगति
घ.	सिर पश्चिम की ओर	सभी में विसंगति

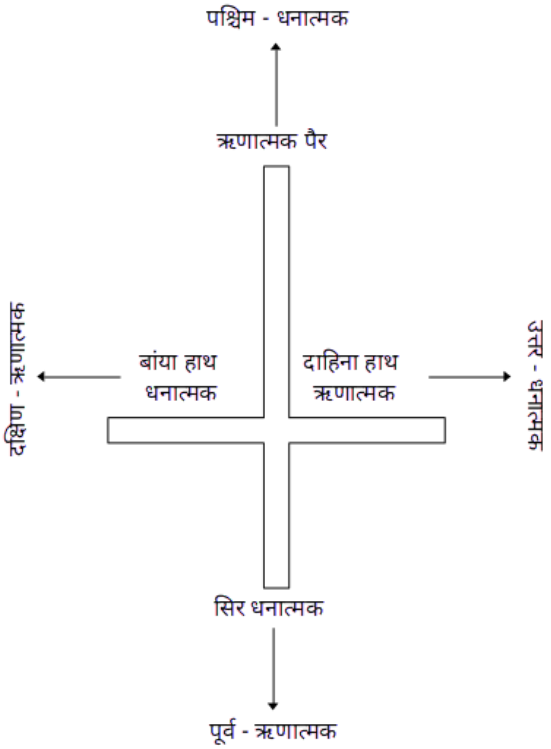

अवस्था II. – पेट के बल लेटे हुए।

क.	सिर पूर्व की ओर	सिर और पैर में सामंजस्य, हाथों में विसंगति
ख.	सिर उत्तर की ओर	सभी में विसंगति
ग.	सिर दक्षिण की ओर	सभी में सामंजस्य

घ.	सिर पश्चिम की ओर	सिर और पैर में विसंगति, हाथों में सामंजस्य

अब, प्रतिभासित विरोधी सिद्धांतों पर इससे कुछ प्रकाश आएगा, यदि हम पता कर सकें कि: (1) प्रसिद्ध गर्ग और मार्कण्डेय ने मनुष्यों के सोने के लिए किस अवस्था को उचित माना? (2) किन अवस्थाओं में उन पर बरों वॉन रिचेनबच ने प्रयोग किया?

यह उन सभी लोगों के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न है, जो लोग स्वास्थ्य के उपहार का मूल्य समझते हैं और जो बुद्धिमान होंगे। दक्षिणी देशों में अपनी यात्रा में मैंने ध्यान दिया कि कम से कम वहां के निम्न वर्ग के मूल निवासी तो हमेशा अपने पेट के बल सोते हैं, अपने पीठ को सूर्य की ओर करके, और सभी जानवर वही करते हैं, जबकि कम से कम, धूप में पीठ के बल सोना अत्यंत संकट पूर्ण हो सकता है।"

किस दिशा में सिर करके सोना चाहिए, इसको एक अन्य पहलू से भी देखा जा सकता है। एक व्यक्ति के देह में चुंबकीय धाराएं प्रवाहित होती रहती हैं। जब वह सोता है, तब यदि पृथ्वी की चुंबकीय धारा और व्यक्ति के देह की चुंबकीय धारा में सामंजस्य नहीं है तो उसे बहुत स्वप्न आते है और नींद में व्यवधान पड़ सकता है। ऐसा व्यक्ति अपने सिर को किसी दूसरी दिशा में करके प्रयोग करे कि किस अवस्था में स्वप्न आना न्यूनतम होता है या एकदम बंद हो जाता है; तो ऐसी अवस्था उसके लिए उपयुक्त होगी। मनुष्य के देह में चुंबकीय ध्रुवदर्शकता (polarity) उसके भावना और मन की स्थिति से भी बदलती है। इसलिए उसके सोने के लिए एक ही निश्चित अवस्था सर्वदा उपयुक्त नहीं भी हो सकती है। उस स्थिति में उसे अपने सिर की दिशा बदलना भी ठीक होगा। फिर, दूसरे स्थान में जाने पर वहां की

स्थानीय चुंबकीय प्रवाह में कुछ विघ्न होने के कारण भी उसके देह की चुंबकीय धारा से सामंजस्य बिगड़ा हो सकता है; उस स्थिति में भी उसे सोते समय सिर की दिशा बदल कर उपयुक्त अवस्था में सोना ठीक होगा।

जब आध्यात्मिक साधना या अन्यथा भी एक व्यक्ति भावना और मन में लगातार समत्व की स्थिति में रहने लगता है, तब वह अपना सिर किसी भी दिशा में कर के सोये, उसपर चुंबकीय प्रवाहों के विसंगति से भी बुरा प्रभाव नहीं पड़ता है। इसीलिए एक योगी या सिद्ध मनुष्य को किसी भी दिशा में सिर करके सोने में मनाही नहीं है।

इस लेख की सामग्री सोने के लिए सही अवस्था का मार्गदर्शन या संकेत देती है।

प्रेम - अस्तित्व का आधार, सार, स्वभाव, और लक्ष्य

सामान्य

सामान्य जीवन में हमें प्रेम हर जगह दिखता है – चिड़ियों के घोसले में, जानवर की मांद में और मनुष्य के घर में। वास्तव में प्रेम सभी प्राणियों के हृदय में कार्यरत भावना है।

प्रेम हमारे अस्तित्व का सबसे मौलिक सार है, जो हमारे सभी पहलुओं में प्रतिबिंबित होता है। यहां तक कि कामुकता (sexuality) भी एक ऐसा प्रतिबिंब है, फिर भी हमारे अचैतन्य, जहां से हम आए हैं, के रास्ते पर एक प्रतिबिंब है और जो हमें ध्रुवीयता में निचले रूप के अस्तित्व से बांधे रखता है, हमें अपने उच्च गुणों के प्रति अंधा बनाते हुए, जब तक हम इसके प्रभाव और अभिव्यक्ति के दास रहते हैं। प्रायः हम समझौता कर लेते हैं और कामुकता को प्रेम का साधन मान लेते हैं, इन दोनों विपरीतताओं को पर्यायवाची भी मान लेते हैं, या कामुकता को अपनी दिव्यता तक पहुंचने का एक रास्ता मान लेते हैं। यह सब केवल हमारी सीमित समझ और उससे भी अधिक हमारे बंधन की जकड़न को दर्शाता है, जिसे हम छोड़ नहीं पाते। लेकिन इसको छोड़ना आसान नहीं है। यदि हम अपने शरीर का दास रहते हुए भी अपनी कामुकता से इनकार करते हैं, तो हम संघर्ष पैदा करते हैं। इस पर काबू पाने का उचित तरीका विवेक, धैर्य, ज्ञान और स्व-उत्तरदायित्व (self-responsibility) विकसित करना है, यदि प्रेम, जो अंतिम उपचार है, विकसित नहीं है।

केवल बुद्धि से संपर्क के माध्यम से ही हम – अपने व्यक्तित्व में जीते हुए भी – सभी अभिव्यक्तियों में प्रेम को एक ही सार के रूप में खोजने में सक्षम होते हैं। यह सच्चा, सबसे गहरा और वास्तविक प्रेम बन जाता है, जो क्षणभंगुर और सर्वदा परिवर्तनशील से परे होता है। वास्तव में, अंततः, प्रेम ही है जो हमारे मन को हमारे भीतर की दिव्य वास्तविकता के प्रति खोलता है। बड़े पैमाने पर मानवता के हिस्से के रूप में प्रेम वह गुण भी है जो सभी साथी प्राणियों में देवत्व जगाता है। इस प्रकार, हमारे हृदय में प्रेम, हमारे मन में प्रज्ञा, हमारे जीवात्मा में स्वतंत्रता और हमारे शरीर में पवित्रता के साथ हमें दूसरों के साथ मित्रतापूर्ण संवाद करने के लिए कहा जाता है– ताकि हम सब एक साथ अपने दिव्य घर को पुनः स्थापित कर सकें, जिसके द्वारा हमारी सच्ची पूर्ति (fulfilment) मिल सके।

किर्चर, मानव स्वभाव की प्रत्येक अनुभूति को हमारी चुंबकीय स्थिति में परिवर्तन का परिणाम मानते हैं। क्रोध, ईर्ष्या, मित्रता, प्रेम और घृणा, ये सभी चुंबकीय वातावरण के परिवर्तन हैं जो हमारे अन्दर विकसित होते हैं और लगातार हममें से निकलते रहते हैं। प्रेम सबसे अधिक परिवर्तनशील अनुभूतियों में से एक है, और इसलिए इसके आयाम असंख्य हैं। आध्यात्मिक प्रेम, एक मां का अपने बच्चे के प्रति, एक कलाकार का किसी विशेष कला के प्रति, शुद्ध मित्रता के रूप में प्रेम, सौहार्दपूर्ण स्वभाव में सहानुभूति की विशुद्ध रूप से चुंबकीय अभिव्यक्तियां हैं। शुद्ध प्रेम का चुंबकत्व प्रत्येक सृजित वस्तु का प्रवर्तक (originator) है। अपने सामान्य अर्थ में लिंगों के बीच प्रेम विद्युत है, और वह इसे प्रजातियों का बुखार (amor febris specie) कहते हैं। आकर्षण दो प्रकार के होते हैं : सहानुभूति (sympathy) और आसक्ति अथवा सम्मोहन (fascination); पहला पवित्र और प्राकृतिक, दूसरा बुराई और अप्राकृतिक (Isis Unveiled I, 209-10)।

प्रेम – एक उत्थानकारी शक्ति

हेलेन केलर की आत्मकथा में हमने पढ़ा है कि उनकी शिक्षिका मिस सुलिवन ने उन्हें सादृश्य द्वारा "प्रेम" समझाया, "तुम जानती हो, तुम बादलों को नहीं छू सकती; लेकिन तुम वर्षा को महसूस करती हो और जानती हो कि एक गर्म दिन के बाद इसे पाकर फूल और प्यासी धरती कितनी खुश हैं। तुम प्रेम को छू भी नहीं सकतीं; लेकिन तुम उस मिठास को महसूस करती हो जो यह हर चीज़ में डाल देती है। प्रेम के बिना तुम प्रसन्न नहीं होगी या खेलना नहीं चाहोगी।"

वास्तव में अहिंसक कार्यकर्ता का स्थान धैर्यपूर्वक की गई प्रेमपूर्ण सेवा के परिणाम स्वरूप प्राप्त होता है। यह एक सार्थक कार्य है, मानव स्थिति के लिए एकमात्र योग्य कार्य है। किंतु इसे समझने के लिए, एक व्यक्ति को समग्र रूप से मानवता से प्रेम करना होगा, और तीव्रता से प्रेम करना होगा। जो इस प्रकार प्रेम करता है, और सौदेबाजी की भावना से मुक्त होकर प्रेम करता है, उसके हृदय से जीवन बोलता है, और वह वाणी राग युक्त, मधुर और पवित्र होती है, जो उसे उज्ज्वल मुस्कान प्रदान करती है जो सभी बादलों को हटा देती है।

दिव्य या आध्यात्मिक प्रेम

प्राचीन ऋग्वेद में सदगुण को प्रथम स्थान दिया गया है। प्रसिद्ध स्तोत्र (दस, 129) में काम – प्रेम – *इरोस* (Eros) को प्रथम संचलन (movement) कहा गया है जो **एक** में अमूर्त उत्साह की शक्ति द्वारा जीवन में आने के बाद उठा। अथर्ववेद में हम पाते हैं : "काम-देव सबसे पहले जन्मे। न तो देव, न पितृ, न ही मनुष्य उनकी बराबरी कर सके। आप इनसे

श्रेष्ठ हैं और सर्वदा महान हैं।" काम-देव की अवधारणा सदियों के दौरान *इरोस* की तरह निम्नीकृत हो गई है। एच.पी. ब्लावत्सकी के अनुसार, "वेद के ऋषियों ने कामदेव को – एक सृजक बल जो परम की एक किरण है, वह जैसे ही जीवन में आयी तो उसकी चेतना में, सार्वभौमिक भलाई, प्रेम और उन सभी – जो जीवित हैं और महसूस करते हैं, जिनको सहायता और दया की आवश्यकता है – के लिए जो पहली चैतन्य, सर्व सम्मिलित इच्छा, अनंत कोमल करुणा और दया की पहली भावना उत्पन्न हुई – उसका वैयक्तिकृत प्रतीक माना। इस अवधारणा में यौन प्रेम का कोई विचार नहीं है, काम मुख्य रूप से रचनात्मक प्रसन्नता और प्रेम की दिव्य इच्छा है।"

आगे एच. पी. ब्लावत्सकी *दि सिक्रेट डॉक्टरीन* में लिखती हैं : "कामदेव या प्रेम अपने आदिम अर्थ में इरोस (Eros), दिव्य संकल्प शक्ति (Divine Will) या स्वयं को दृश्य सृष्टि के माध्यम से व्यक्त करने की इच्छा है। यहां से इरोस का मूलरूप, फोहत, पृथ्वी पर महान शक्ति "जीवन-विद्युत" या "जीवनदायी" शक्ति की आत्मा बन जाता है (SD II, 65)।

काम-देव, इरोस, अपने मूल प्राचीन शुद्ध अर्थ में, आदर्श जीवनदायी सदगुण का वैयक्तिकृत प्रतीक हैं।

दिव्यता सभी जीवन में अंतर्निहित है, चाहे वह अच्छा हो या तथाकथित बुरा और अविभाज्य रूप से एक है, अभिव्यक्ति के माध्यम से विविधता में प्रतिबिंबित होती है। यह सभी का आंतरिक एकत्व ही है जो मनुष्य में प्रेम का गुण उत्पन्न करता है। जितना अधिक हम इस एकत्व द्वारा, सबमें एक ही प्रकाश से संबंध बनाने में सक्षम होते हैं, उतना ही अधिक हम स्वयं प्रेम बन जाते हैं, पूरी तरह से और बिल्कुल स्वाभाविक रूप से।

अपने शरीर के दास होते हुए भी, हमें स्वार्थ और आत्म-दया की कीचड़ से बाहर निकलकर, स्व-उत्तरदायित्व, पवित्रता, प्रेम और दिव्यता की ओर मार्ग बनाना है।

चूंकि प्रत्येक मनुष्य स्वाभाविक रूप से दिव्य है, हमारे सभी संबंध, स्वयं सहित सभी में प्रतिबिंबित उसी दिव्यता को खोजने और उस सार्वभौमिक दिव्य सार से जुड़ने के अवसर हैं। यह हमारे रिश्तों के माध्यम से पारस्परिक लाभकारी सहयोग का आधार बनता है, और एक उच्च उद्देश्य के लिए यह सहयोग सभी में समान दिव्य सार की आंतरिक जागरूकता के परिणामस्वरूप प्रेम पर आधारित होना चाहिए।

बचपन से आयु में बड़े होते हुए हम इंद्रियों की बाहरी दुनिया की ओर आकर्षित होकर, दिव्य से अपना अंतर्निहित संबंध खो देते हैं। यदि इस स्थिति को रूपांतरित किया जा सकता है ताकि बच्चे ऐसे सामाजिक वातावरण में बड़े हो सकें जहां दिव्य से संबंध अटूट है या फिर से स्थापित हो गया है, तो हम उन्हें – जो ऐसा करने के लिए पर्याप्त परिपक्व हैं – सशक्त बना सकते हैं – विविधता में एकता की, प्रेम से प्रेम की, शांति से प्रज्ञा की, शुद्ध देवत्व से स्वतंत्रता की जागरूकता में विकसित होने के लिए और स्वाभाविक रूप से वह बनने के लिए जो हम सब सही में हैं : मानव रूप में देवता।

यदि क्षणभंगुर को क्षणभंगुर जाना जाए तो नित परिवर्तनशील में कोई कष्ट नहीं है। यदि हम अपनी दिव्यता के प्रति जागरूक हैं तो हमारे व्यक्तित्व द्वारा थोपी गई कोई दासता नहीं है। यदि प्रेम स्वयं को पा लेता है तो कोई डर नहीं रहता है। हमारे अपने स्व को सभी दूसरों में जानते हुए, एकता में कोई संघर्ष नहीं है।

जितनी काम-मनस की मूल कार्यप्रणाली अलगाव और क्षणभंगुर में स्व-खोज के माध्यम से है, जो स्वाभाविक रूप से दुख की ओर ले जाती है, उतनी ही बुद्धि-मनस की कार्यप्रणाली सभी अभिव्यक्तियों में एक ही दिव्य, शुद्ध सार की जागरूकता है। इस प्रकार, सभी में सही जागरूकता होते हुए प्रेम स्वयं को स्वाभाविक रूप से व्यक्त करता है। हमारी दिव्य प्रकृति की उपस्थिति में हमारी दासता से मुक्ति के कारण, प्रेम की अभिव्यक्ति में कोई कृत्रिम प्रयास शामिल नहीं होता है, क्योंकि प्रेम अंततः वह आधार है जिस पर सारा अस्तित्व टिका हुआ है। तो फिर प्रेम कोई भावना मात्र नहीं है; हमारा सही स्वभाव ही प्रेम है।

जो कुछ भी जीवित है, अंततः दिव्य प्रेम पर जीवित है, और हम इस तथ्य को पहचानने में सक्षम हैं, यदि यह एक बार हमारे स्वयं के स्वभाव में पा लिया जाता है और दूसरों में भी, उनके निम्न तत्त्वों द्वारा ढके जाने और इस प्रकार आंतरिक दिव्यता के प्रतिबिंब में बाधा डालने के बावजूद। यह अनुभूति हमें उस दिव्यता से संबंध करने देती है, भले ही अन्य प्राणी स्वयं अपनी उच्च प्रकृति के बारे में नहीं जानते हों। लेकिन अगर परस्पर अनुभूति है, तो हम धन्य हैं जिसे शब्दों में बयान नहीं किया जा सकता!

हम समझते हैं कि स्वतंत्रता, शांति, प्रेम और ज्ञान हमारे उच्चतर स्व के सही स्वभाव हैं। इसलिए यह हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपनी दासता, अपने निम्न तत्त्वों के साथ अपनी गलत पहचान को समाप्त करें, ताकि इन बाहरी वस्त्रों में हमारी वास्तविक दिव्यता प्रतिबिंबित हो सके। ऐसा करने के लिए, हमें अपने व्यक्तित्व को शुद्ध करने की आवश्यकता है ताकि दिव्य सूर्य का प्रकाश विकृत और मंद न होकर हमारे निर्मल वस्त्रों में से चमक सके। केवल तभी दूसरों के साथ हमारे संबंधों में स्थिर शांति आ सकती है, और प्रेम के स्वयं व्यक्त होने की अपेक्षाएं स्थापित हो सकती हैं।

वास्तविक स्वतंत्रता बंधन से मुक्ति है, अर्थात बाहरी संवेगों के प्रति हमारी सभी स्वचालित प्रतिक्रियाओं से मुक्ति। जब तक हम बाह्य के दास हैं, तब तक हम स्वतंत्र नहीं हैं, दास रहते हुए हम चैतन्य (conscious) विकल्पों के माध्यम से अपना जीवन नहीं चला सकते। यहां तक कि प्रेम भी इच्छा से प्रेरित होता है जब तक हम ऐसे दास हैं। केवल वास्तव में स्वतंत्र होकर ही हम चैतन्य रूप से प्रेम करने में सक्षम होते हैं।

स्वार्थी प्रेम और संघर्ष की ओर ले जाने वाली इच्छाओं, लगाव या बंधन के बजाय, हम दूसरों में उसी दिव्यता से संबंध करना प्रारंभ कर सकते हैं।

सब चेतना एक है, सारा संसार एक है, उसमें सारा प्रेम दिव्य प्रेम है, उसमें सारा सौंदर्य एक दिव्य सौंदर्य है, और संसार की सारी पवित्रता ईश्वर की एकमात्र पवित्रता है। प्रत्येक मनुष्य की अच्छाई ईश्वर की अच्छाई है जो उसमें से प्रकट होती है, और संसार की सारी सुंदरता और महिमा, जैसा कि हम पृथ्वी और समुद्र तथा आकाश में देखते हैं, एक दिव्य सुंदरता के अलावा और कुछ नहीं है; और जैसे-जैसे हम विभिन्न उप-स्तरों की ओर उठते हैं, हम उस सुंदरता को अपने सामने अधिक से अधिक खुलते हुए देखते हैं, जब तक कि हम प्रत्येक सुंदर चीज़ के माध्यम से सभी सुंदरता को देखना नहीं सीख जाते। यह सब एक है।

जब यह सीख लिया जाएगा, तो हर चीज़ में और उसके माध्यम से दिव्य की महिमा दिखाई देगी। तब हमारे लिए जीवन आश्चर्यजनक रूप से प्रसन्न और प्रेम से भरपूर हो जाएगा। उस प्रसन्नता के माध्यम से हम शाश्वत आनंद का कुछ अनुभव करेंगे, और उस प्रेम के माध्यम से हमें शाश्वत प्रेम का बोध होगा। केवल इसी तरह से बड़ी उन्नति हो सकती है, केवल तभी जब हमें यह एहसास हो कि हम स्वयं समग्र में एक बिंदु के अलावा और कुछ

नहीं हैं; तब हमारी चेतना **उसकी** चेतना में मिल जाने की स्थिति में होती है, ताकि हमारे माध्यम से वह इस सारी सुंदरता को देख सके, और हम, जैसे उसमें होकर, इसे देख सकें और इसका बोध भी कर सकें (Talks on the Path of Occultism – Vol. one – पृ. 68-69)।

जहां तक आप प्रेम करते हैं और सेवा करते हैं, दिव्य जीवन आपमें अभिव्यक्ति के लिए एक नलिका ढूंढ रहा है, और जब आप उच्चतर संसार को पहुंचते हैं और व्यापक चेतना तक विस्तार करते हैं, तो आपको यह भी पता चल जाएगा कि हर संत ने क्या चाहा है, हर गुरु ने क्या पूरा कर लिया है; आप अपने अन्दर दिव्य जीवन को अपने जीवन के रूप में अनुभव करेंगे, इस प्रकार आप अपने प्रभु के आनंद में प्रवेश करेंगे (*Meditations on the path and its qualifications* – Annie Besant, पृ. 229, 13 दिसंबर; *जीवन की कुछ समस्याएं*)।

प्रेम और ध्यान

चैतन्य रूप से सभी प्राणियों में एक ही सार्वभौमिक सार का बोध होने की वास्तविक स्व-जागरूकता की स्थिति, दिव्य के साथ हमारे संबंध के परिणामस्वरूप प्रेम के प्रकट होने का अंतिम आधार है।

शुद्धता के अलावा, उच्चतर की ओर उन्मुखीकरण (orientation) स्थापित करना भी आवश्यक है, जो उचित ध्यान का उद्देश्य है। केवल यह उन्मुखीकरण, जैसे दर्पण एक जगह पर लगाना और उसे धूल से साफ करना, उच्च तत्त्वों को बिना धुंधले हुए चमकने देता है। इसके लिए हमें शुद्धिकरण के माध्यम से अपनी समझ (मनस) को काम तत्त्व से अलग करना चाहिए, इस प्रकार उच्च मन और इसकी बुद्धि की ओर प्रवृत्ति के अंतराल को पाटना

चाहिए। यह अंततः हमारे साफ और शुद्ध किए हुए निचले तत्त्वों में, बुद्धि की प्रकृति - प्रेम और प्रज्ञा – को एक निर्मल प्रतिबिंब के रूप में स्थापित करता है।

अच्छी तरह से निभाए गए कर्त्तव्यों के साथ-साथ, ध्यान हमें अपने अन्दर के उच्च स्व की ओर अपने व्यक्तित्व की वास्तविक समस्वरता (attunement) करने में सहायता करता है। उत्तेजना और वासना को वास्तविक प्रेम और शांति से बदलने की यह आवश्यकता है। ध्यान, जो पहले जान-बूझकर किया गया, को कभी-कभार केवल कुछ मिनटों तक ही सीमित न होकर, अधिकाधिक हमारे जीवन की स्थिर पृष्ठभूमि बन जाना चाहिए। ध्यान को, हमेशा अपने स्वभाव को दिव्य, जो हम अन्दर हैं, की ओर उठाते हुए और अपने निम्नतर वाहनों को हमारी उच्च प्रकृति से जोड़ते हुए, अंततः उस चमत्कार की ओर ले जाते हुए, उस मिलन स्थल तक, हमारे वास्तविक दिव्य सार के बारे में धीरे-धीरे जागरूक होते हुए, सतत होना चाहिए।

एक बार जब हमारे भीतर का स्व मिल जाता है, तो हम अंततः अपने स्व को निचली आसक्तियों और बंधनों से मुक्त कर सकते हैं। वास्तव में ऐसी आंतरिक जागरूकता, या ध्यान, सच्ची स्वतंत्रता, वास्तविक और दिव्य पूर्ति है जिसे हम पहले अपनी इच्छाओं के माध्यम से व्यर्थ में खोज रहे थे। जागरूकता की ऐसी स्थिति स्वाभाविक रूप से बंधन की इन जंजीरों को तोड़ देती है और शांति, स्वतंत्रता तथा एक शाश्वत भावना – दिव्य प्रेम – की ओर ले जाती है। एक बार मिल जाने पर, इच्छा समाप्त हो जाती है, हम और कुछ नहीं चाहते, शाश्वत से भरे हुए, दिव्य – सभी प्राणियों में दिव्य – की इच्छा के अलावा अन्य सभी इच्छाएं समाप्त हो जाती हैं।

सांसारिक संबंधों में प्रेम भी आंतरिक अर्थ में आत्मा का ही

प्रतिनिधित्व करता है। वृहदारण्यक उपनिषद् (अ. 2, खण्ड-4, मं.-5) में ऋषि याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी को बताते हैं कि एक व्यक्ति अपने पुत्र, पत्नी, परिवार, देवताओं या अन्य सभी को प्रेम करता है, स्वयं उन लोगों के लिए नहीं, किन्तु स्वयं की आत्मा के लिए। इसलिए सुनना, मनन करना और ध्यान द्वारा आत्मानुभूति करना चाहिए और तब सब विदित होता है।

प्रेम – दर्शन, न्याय और कर्त्तव्य

दि सिक्रेट डॉक्टरीन, अंक III, पृ. 265 में प्रेम के संबंध में एक रोचक फुटनोट है :

लेखक को (जैसा कि गुप्त विद्याविदों या occultists को है) "philosophy" शब्द, जिसकी व्याख्या "प्रज्ञा का प्रेम" ("love of wisdom") की जाती है, की आधुनिक व्युत्पत्ति पर एक बहुत ही तर्कसंगत आपत्ति थी, और ऐसा कुछ भी नहीं है। दार्शनिक वैज्ञानिक थे, और दर्शन एक वास्तविक विज्ञान था – केवल शब्दाडम्बर नहीं, जैसा कि हमारे समय में है। यह "philosophy" शब्द दो ग्रीक शब्दों से बना है जिसका अर्थ इसके गुप्त भाव को व्यक्त करना है, और इसकी व्याख्या "प्रेम की प्रज्ञा" ("wisdom of love") के रूप में की जानी चाहिए। अब यह शब्द है, 'प्रेम', जो गुह्य अभिप्राय में छिपा है : 'प्रेम' यहां एक संज्ञा के रूप में नहीं है, न ही इसका अर्थ 'स्नेह' या 'अनुराग' है, बल्कि यह शब्द Eros (काम) – दिव्य सृष्टि में प्राथमिक तत्त्व, प्रकृति में प्रजनन की अमूर्त इच्छा, जिसके परिणामस्वरूप घटनाओं की एक सर्वकालिक (everlasting) श्रृंखला उत्पन्न होती है – के लिए उपयोग किया जाता है। इसका अर्थ है 'दिव्य प्रेम', संपूर्ण प्रकृति में फैला हुआ दिव्य सर्वज्ञता का वह सार्वभौमिक तत्त्व जो एक ही समय में मुख्य कारण और प्रभाव है। 'प्रेम की प्रज्ञा' (या

'philosophia') का अर्थ वस्तुनिष्ठ घटनाओं और उसके ज्ञान के नीचे छिपी हर चीज़ के प्रति आकर्षण और प्रेम था। दर्शनशास्त्र (या philosophia) का अर्थ सर्वोच्च निपुणता या सिद्धत्व – देव के प्रति प्रेम और उनके साथ आत्मसात होना है। पाइथागोरस ने अपनी विनम्रता में स्वयं को दार्शनिक (या जो दृश्य चीज़ों में छिपी हर चीज़, कारण और प्रभाव, या परम सत्य, को जानता है) कहलाने से भी मना कर दिया था, और स्वयं को केवल एक ऋषि, दर्शनशास्त्र या प्रेम की प्रज्ञा (Wisdom of Love) का आकांक्षी कहते थे। विशुद्ध सांसारिक अनुप्रयोग के कारण अपने बाह्य अर्थ में प्रेम को तब भी मनुष्यों द्वारा उतना ही निम्नीकृत किया गया था जितना कि अब।

और आगे कुछ पन्ने, पृष्ठ 271 में हम पाते हैं :

इस आत्मा, उच्चतम, एक, और सार्वभौमिक को, मर्त्य के स्तर पर, सूर्य के प्रतीक द्वारा बताया गया, इसकी जीवन-दायिनी प्रभा (effulgence) अपनी बारी में जीवात्मा – जो इकाई स्व (आत्मा) का सर्व-स्व (परमात्मा) के साथ पुनः मिलन में सर्वदा एक बाधा रही पार्थिव वासनाओं को मारता है – का प्रतीक चिन्ह है।

इस प्रकार हम सार्वभौमिक प्रेम के उस उच्च स्वरूप को अपने अस्तित्व के मूल आधार के रूप में देखते हैं। यह सबके भीतर इस एक सार्वभौमिक स्व के बारे में हमारी जागरूकता है, जो अंततः हमें हमारे सांसारिक वासनाओं के बंधन से मुक्ति दिलाती है।

प्रेम की कड़ियां हर क्रमिक सांसारिक जीवन में बढ़ती हैं, जिसमें जुड़े हुए दोनों आपस में हाथ पकड़ते हैं, और उन्हें स्वर्ग में जीवन के दौरान, जहां घृणा की कड़ियां नहीं ले जाई जा सकतीं, अधिक दृढ होने का अतिरिक्त

लाभ होता है।

जब जीवात्मा अपने भौतिक शरीर के मस्तिष्क पर अतीत की अपनी स्मृति को प्रभावित करने में सफल हो जाता है, तो ये स्मृतियां जीवात्माओं को और भी निकट लाती हैं, और संबंधों को सुरक्षा और बल की भावना मिलती है, जैसा एक जीवन का कोई भी संबंध नहीं दे सकता; ऐसे जीवात्माओं का सुखद आत्मविश्वास बहुत गहरा और मजबूत होता है, वे अपने अनुभवों से जानते हैं कि प्रेम मरता नहीं है।

त्रिगुणी ईश्वर में शक्ति, प्रज्ञा और प्रेम के आयाम हैं। सभी मानवीय क्रियाएं इस त्रिगुणात्मक ईश्वर की छाप लेती हैं। ये तीनों आयाम एक-दूसरे को अंतर्भेद (interpenetrate) करते हैं। प्रेम के अंतर्गत हम मन की उन क्रियाओं को पाते हैं जिनका संबंध एक ओर धर्म से है, और दूसरी ओर परोपकार से - इन दोनों शब्दों को उनके व्यापक अर्थ में उपयोग करें तो धर्म का अर्थ है अपने से ऊपर के लोगों की सेवा, परोपकार का अर्थ है उन लोगों की सेवा जो हमारे चारों ओर और नीचे हैं – ताकि प्रेम के इस आयाम के अंतर्गत हम उन संपूर्ण मानवीय क्रियाओं को शामिल करें जो विकास में हमसे ऊपर वाले लोगों को श्रद्धांजलि और सेवा प्रदान करती हैं, और हमसे नीचे तथा चारों ओर के लोगों को भरोसा, करुणा और सहायता देती हैं। देवताओं और मनुष्यों के विभाजन को विचारते हुए, धर्म का संबंध देवताओं की प्रत्यक्ष सेवा से होगा जबकि परोपकार का संबंध सबसे पहले इस भौतिक स्तर पर मनुष्यों, उन मनुष्यों की जिन्हें हम अपने चारों ओर देखते हैं, की प्रत्यक्ष सेवा से होगा।

यदि हम जीवन की क्रियाओं पर नजर डालें तो धर्म के संबंध में हम पाते हैं कि एक तरफ भौतिकवाद उससे लड़ रहा है तो दूसरी तरफ अंधविश्वास उसे नष्ट कर रहा है; इसलिए धर्म के विरुद्ध मानवता के हाथ में

दो खंजर हैं – संशयवाद जो अविश्वास करता है, और अंधविश्वास जो गलत विश्वास करता है – इनमें से प्रत्येक उसके जीवन को खतरे में डाल रहा है। ये दोनों ही मानव प्रगति के लिए घातक हैं। जहां तक परोपकार का संबंध है, मानवीय दुख बहुत बड़ा है और इतना बड़ा है कि मनुष्य उससे निपट नहीं सकता। जहां आधुनिक सभ्यता सर्वाधिक सफल है, जहां वह सर्वाधिक विजयी है, वहां हम दुखों का सबसे बड़ा समुच्चय और सबसे भयानक दुख पाते हैं जो मानव जीवन को कुचल सकता है; परोपकार न केवल उनके सामने असहाय प्रतीत होता है, बल्कि वे आक्रोश, वर्ग घृणा, क्रांति और अराजकता की धमकियों को भी जन्म दे रहे हैं। इस प्रकार सभ्यता अपनी नींव से ही खतरे में है, और मनुष्य लोग नहीं जानते कि खतरे का सामना कैसे किया जाए, क्योंकि उन्होंने प्रेम की भावना को खो दिया है।

वह प्रज्ञा जो आपको सहायता करने के योग्य बनाता है, वह इच्छाशक्ति जो प्रज्ञा को निर्देशित करता है और प्रेम जो इच्छाशक्ति को प्रेरित करता है – ये आपकी योग्यताएं हैं। इच्छा, प्रज्ञा और प्रेम ईश्वर के तीन आयाम हैं; और आप, जो स्वयं को उसकी सेवा में नामांकित करना चाहते हैं, को संसार में इन आयामों को अवश्य दिखाना चाहिए (*At the Feet of the Master*)।

दि क्लाउड ऑफ अननोइंग (*The Cloud of Unknowing*) में, जीवात्मा का परम की प्राप्ति के सिद्धांत में एक बड़े सादगी की विशेषताऐं हैं। केवल एक ही केंद्रीय आवश्यकता है : सारी इच्छाशक्ति को ईश्वर पर परिपूर्ण और तीव्र भावुक ढंग से स्थिर करना, ताकि यह "तुम्हारा प्रेम और तुम्हारा अर्थ, तुम्हारे हृदय की पसंद और बिंदु हो।" जान-बूझकर किया गया संन्यासी का अभ्यास नहीं, संसार को नकारने से नहीं, मानसिक समझ के प्रयास से नहीं, किंतु सक्रिय रूप से प्रेम करने और चुनने से, उससे जिसे

आधुनिक मनोवैज्ञानिक ने "प्रेम और इच्छा का संश्लेषण" कहा है, मनुष्य की आत्मा अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है।

प्रारंभ से लेकर अंतिम तक साधक से प्रसन्न और सोच-समझकर किए गए कार्य की मांग की जाती है; अनुभव की सर्वांगीण पूर्णता पर जोर दिया जाता है। महान अंग्रेजी रहस्यवादियों का पसंदीदा विषय, "प्रेम आलसी नहीं हो सकता," को रिचर्ड रोले ने कहा। इसी तरह *क्लाउड ऑफ अननोइंग* के लेखक के लिए भी ऊर्जा सच्चे स्नेह का प्रतीक है। "हमेशा, और अधिक, और भी अधिक करते रहो, ताकि तुम सदैव करते रहो। ... फिर उपवास मत रखो : देखो तुम तुम्हें (स्वयं को) कैसे सहते हो, क्या तुम नहीं देखते कि वह तुम्हारे साथ कैसे खड़ा और तुम्हारे में रहता है?"

"क्योंकि वह तुम्हारा अस्तित्व है, और तुम उसी में हो; केवल कारण और अस्तित्व के द्वारा नहीं, परन्तु वह तुममें तुम्हारा कारण और तुम्हारा अस्तित्व दोनों है (Introduction, पृ. 2 -3)।"

जीवन हर जगह है; इसे सभी जीवित चीजों में खोजा जाना है और विश्व के किसी भी हिस्से की कल्पना इसके बिना नहीं की जा सकती है, यदि उस विश्व को एक सुसंगत संपूर्ण माना जाता है।

मनुष्य के विकास में यह सबसे महत्वपूर्ण कारकों में से एक है, सार्वभौमिक एकता और सुसंगतता के नियम का बोध, गहन और पूर्ण बोध। सभी अलगाव जो व्यक्तियों के बीच, संसारों के बीच, विश्व और जीवन के विभिन्न ध्रुवों के बीच मौजूद हैं, मानसिक और शारीरिक कल्पना के पाखंड हैं तथा मानव कल्पना का एक दुःस्वप्न है।

हममें से कुछ लोग जिन्होंने एकता का बोध किया है, समझते हैं कि

प्रेम और न्याय एक हैं, तथा अन्याय और क्रूरता भी एक जैसे हैं।

महात्मा ने अपने एक पत्र में कहा है : "अपने देश से प्रेम करना सीखने में एक व्यक्ति मानवता से अधिक प्रेम करना सीखता है" (पत्र सं. 11, पृ. 33)।

"जब तक अंतिम मुक्ति जीवात्मा को पुनः अवशोषित नहीं कर लेती, तब तक उसे उच्च कला के सौंदर्य प्रभावों द्वारा व्यक्त शुद्धतम सहानुभूति के प्रति, अधिक पवित्र और अधिक उत्तम मानवीय लगावों की पुकार का इसके सबसे कोमल तंतुओं से उत्तर देने के लिए *अवश्य* चैतन्य रहना चाहिए। निःसंदेह, मुक्ति की दिशा में प्रगति जितनी अधिक होगी, ऐसी स्थिति उतनी ही कम होगी, जब तक कि इन सब के शीर्ष पर, एक सार्वभौमिक भावना, एकमात्र सच्चा और पवित्र, एकमात्र निःस्वार्थ और शाश्वत – प्रेम, *समग्र* रूप से मानवता के लिए एक असीम प्रेम के साथ मिल जाने के लिए, मानवीय और विशुद्ध रूप से व्यक्तिगत भावनाएं रक्त-संबंध और मित्रता, देशभक्ति और प्रजातीय झुकाव सभी हट जाएंगे। क्योंकि यह मानवता ही है जो महान अनाथ है, इस धरती पर एकमात्र विरासत से वंचित है। और यह हर उस व्यक्ति, जो निस्वार्थ आवेग में इसके कल्याण के लिए कुछ करने में सक्षम है, का कर्त्तव्य है कि कुछ करे, चाहे वह कार्य कितना भी छोटा क्यों न हो" (पत्र सं. 15, पृ. 48-49)।

"मैं हूं, जैसे मैं था और जैसा मैं था, वैसा हूं; और, वैसा ही मैं कदाचित सदैव बना रहूंगा – लॉज और मानव जाति के प्रति अपने कर्त्तव्य का दास; न केवल सिखाया, बल्कि अलग व्यक्तियों की प्रत्येक प्राथमिकता को मानव प्रजाति के प्रति प्रेम के अधीन करने का इच्छुक" (पत्र सं. 29, पृ. 92)।

प्रेम के स्तर और इसकी सीढ़ी

प्रेम कई स्तरों का हो सकता है और होता है। नीचे के सांसारिक प्रेम, जिसमें स्वार्थ और अधिकार की भावना भी होती है, से ऊपर ऐसा प्रेम जिसमें केवल आनन्द की अनुभूति होती है जैसे प्रिय संगीत की धुन सुनने में या प्रिय साहित्य पढ़ने में तथा इससे बहुत आगे – ऐसा प्रेम जिसमें सर्वव्याप्त एकत्व की भावना व्यक्त हो जाती है।

एक प्रज्ञा के महात्मा प्रेम की उस सीढ़ी की ओर संकेत करते हैं जिसमें कई पायदान होते हैं : "जो प्रेम करता है वह जीवित रहता है। जो स्वयं से प्रेम करता है वह नरक में रहता है। जो दूसरे से प्रेम करता है, वह पृथ्वी पर रहता है। दूसरे से प्रेम करने में, हम अपने स्वार्थ की दीवार से ऊपर निकल जाते हैं, अपनी प्रसन्नता को तुच्छ समझकर किनारे कर देते हैं, और सहजता से दूसरे के हित को अपने अस्तित्व के केंद्र में रख देते हैं। जो दूसरों से प्रेम करता है वह स्वर्ग में रहता है। जब हम सह-मनुष्यों के लिए निस्वार्थ अवैयक्तिक प्रेम उत्पन्न करने में सक्षम होते हैं, प्रेम के दायरे का विस्तार करते हुए 'महान अनाथ – मानवता' को उसमें सम्मिलित करके और बदले में प्रेम किए जाए बिना प्रेम करने में सक्षम होते हैं, दूसरों के कल्याण के लिए हम अपनी भलाई का त्याग करने के लिए तैयार होते हैं, तब हम स्वयं को स्वर्ग की आनंदमय मानसिक स्थिति में पाते हैं। किंतु अभी भी एक उच्चतर पायदान है। वह जो चुपचाप सभी प्राणियों की आत्मा को अधिक प्रेम करता है वह उस आत्मा में रहता है; और यह शाश्वत शांति है। यहां तक कि दूसरों की सहायता करने की संतुष्टि को भी त्याग देना चाहिए, क्योंकि परमार्थ से भी उच्चतर जीवन है, परम के साथ स्व-पहचान का जीवन, अनेक में एक को पहचानने में सक्षम बनना, और सभी प्राणियों का मित्र होना तथा जो सब कुछ जीवित है और सांस लेता है, उनके साथ सामंजस्य में बने रहना।"

प्रेम के कार्य

परस्पर प्रेम – प्रेम करना और बदले में प्रेम पाना – प्रेम की सबसे आम अभिव्यक्ति है, जो ऐसी प्रसन्नता लाती है जो आती है और चली जाती है। सांसारिक प्रेम का अर्थ व्यक्तियों से लगाव है, लेकिन वह प्रेम उच्चतर प्रेम की ओर उन्नति-सोपान (stepping stone) बन सकता है और अवश्य बनना भी चाहिए। संत *From the the Book of Confidences* में कहते हैं, "प्रेम एक दीक्षा है," और आगे जोड़ते हैं, "सच्चा प्रेम कभी भी वहां सेवक नहीं हो सकता जहां पृथक-भाव (exclusiveness) है – जहां अकेले दो लोगों के लिए ही प्रसन्नता का प्रयास किया जाता है; कभी भी वहां नहीं जहां परिग्रह (possession) की भावना है – चाहे वह शरीर की हो, मन की हो, जीवात्मा की हो, घर की हो या धन की हो।"

किसी प्रियजन को उच्च जीवन जीने के लिए मुक्त करने के लिए, गहन लेकिन व्यक्तिगत प्रेम का भी त्याग करना पड़ता है। मनुष्य को संसार से प्रेम करना चाहिए क्योंकि सब एक हैं। ऐसे प्रेम से मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है क्योंकि स्व की मृत्यु ही एकमात्र सच्ची मृत्यु है। ऐसा व्यक्ति सभी के लिए जीता है, उसकी शक्तियां पुनः प्राप्त हो जाती हैं, क्योंकि सार्वभौमिक प्रेम शक्तियों की शक्ति है।

हम अपनी इच्छाओं को कदम-दर-कदम शुद्ध कर सकते हैं, जिसकी शुरुआत पदार्थीय चीजों की इच्छा को समाप्त करने से होती है, क्योंकि इनका आनंद केवल अलग व्यक्तित्व द्वारा ही लिया जा सकता है। दूसरा कदम शक्ति, ज्ञान, खुशी, प्रसिद्धि और यहां तक कि प्यार जैसी सूक्ष्म इच्छाओं पर काबू पाना है, जब आवेश करुणा में बदल जाता है, जो जीवित और सांस लेने वाले सभी प्राणियों के लिए एक सार्वभौमिक प्रेम विकसित

करता है।

प्रेम एक महान शिक्षक भी है. यदि मनुष्य दूसरों की परवाह किए बिना स्वार्थी, स्व-केंद्रित हो जाते हैं तो वे प्रेम से एकत्व की शिक्षा नहीं लेते। फिर उन्हें दर्द द्वारा अनुभव से सीखना होगा। प्रत्येक मानव हृदय में शाश्वत जीवन का वृक्ष है और प्रेम तथा कर्त्तव्य उसके फल हैं। यदि यह वृक्ष उसे फल खाने के लिए आकर्षित नहीं करता है, तो उसे अच्छे और बुरे वाले ज्ञान के वृक्ष के फल खाने होंगे।

सार्वभौमिक प्रेम का अति उत्तम कार्य मनुष्य का रूपांतरण करना है। प्रेम के इस कार्य को खलिल जिब्रान ने अपनी पुस्तक *दि प्रॉफेट* में एक जगह अति सुंदर भावनात्मक रूपक में व्यक्त किया है :

> "जब प्रेम तुम्हें अपने पीछे आने का संकेत करता है, तो उसके पीछे चलो, यद्यपि उसके मार्ग कठोर और खड़ी चढ़ाई के हैं।
>
> और जब वह तुम्हें अपने पंखों में समेटता है तो तुम मान जाओ,
>
> यद्यपि उसके घिर्रियों में छिपी हुई तलवार तुम्हें घाव कर सकती है
>
> और जब वह तुम से बात करे तो उस पर विश्वास करो,
>
> यद्यपि उसकी आवाज़ तुम्हारे सपनों को चकनाचूर कर सकती है, जैसे उत्तरी हवा बगीचे को बर्बाद कर देती है।
>
> प्रेम जैसे तुम्हें शीर्ष पर ले जाता है वैसे तुम्हें सूली पर भी चढ़ाएगा,
>
> जैसे वह तुम्हारा विकास करता है, वैसे तुम्हारी छंटनी भी करता है।

जब वह तुम्हें ऊंचाइयों पर ले जाता है और तुम्हारी सबसे कोमल शाखाओं, जो सूर्य के प्रकाश में हिलती हैं, को दुलराता है,

उसी तरह वह तुम्हें तुम्हारी जड़ों की ओर नीचे ले जाकर उनको हिलाकर उनमें चिपकी हुई मिट्टी को बाहर करता है।

बालियों के गुच्छों की तरह जब वह तुम्हें समेटता है तो वह तुम्हें कूट-पीटकर नग्न करता है,

वह तुम्हें तुम्हारी भूसी से मुक्त करने के लिए छानता है,

वह तुम्हें पीसकर धवल कर देता है,

वह तुम्हें कोमल बनाने तक गूंथता है,

और तब वह तुम्हें अपनी पवित्र अग्नि में डाल देता है,

जिससे तुम ईश्वर के पवित्र भोज के लिए पवित्र रोटी बन सको।

प्रेम ये सब चीज़ें तुम्हारे साथ करता है ताकि तुम अपने हृदय के रहस्यों को जान सको,

और इस ज्ञान में तुम महान जीवन के हृदय का एक अंश बन सको।"

प्रेम से संबंधित एक अत्यंत प्रासंगिक विचार मध्य युग के महान संत कबीर ने अपनी साखियों में व्यक्त किया है :

"यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
शीश उतारे भुईं धरे, तब पैठे घर माहिं।।
प्रेम न बाड़ी उपजै, प्रेम न हाट विकाय।

राजा परजा जो रुचै, शीश देय ले जाय।।
छिनहिं चढ़ै छिन ऊतरै, सो तो प्रेम न होय।
अघट प्रेम पिंजर बसै, प्रेम कहावै सोय।।
प्रेम प्रेम सब कोई कहै, प्रेम न चीन्है कोय।
आठ पहर भीना रहै, प्रेम कहावै सोय।।

प्रत्येक द्वारा सीमित संबंध या चीज में असीमित का अनुभव करना ही चाहिए। उदाहरण के लिए यदि हम अपनी मां से प्रेम करते हैं तो हममें दुनिया की सभी माताओं के प्रति प्रेम का भाव उत्पन्न होना चाहिए और तब ऐसा प्रेम दिव्य प्रेम के रूप में व्यक्त होता है। प्रेम का विशेष गुण यह है कि वह जीवन के एकत्व की जीवन्त पहचान देता है और इसलिए दूसरों के अनुभवों को हमारे अनुभवों के साथ जोड़ता है।

महात्मा बुद्ध ने कहा था कि घृणा को घृणा द्वारा नहीं हटाया जा सकता, घृणा को प्रेम द्वारा ही हटाया जा सकता है।

प्रेम ही केवल वह मार्ग है जिसके द्वारा एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को उसके आंतरिक मर्म में पकड़ या समझ सकता है।

निष्कर्ष

सच्चा प्रेम सबका आधार, नींव और स्रोत है।

वास्तविक निस्वार्थ प्रेम को अपने अस्तित्व का आधार, सार, और स्वभाव समझ कर सार्वभौमिक एकत्व का बोध करके ही मनुष्य अपने जीवन को परिपूर्ण बना सकता है और जीवन के सही लक्ष्य तक पहुंच सकता है तथा अन्य को भी उस लक्ष्य तक पहुंचने में सक्रिय सहायक हो सकता है।

हे गुप्त प्रेम ! करे सबको एकत्व मे आलिंगित,
तादात्म्य का अनुभव करें जो तुम्हारे साथ मे,
जाने वे भी हैं परस्पर एक सबके साथ में।

भगवद् गीता की शिक्षाओं में एक अंतर्दृष्टि

कृष्ण का अवतार द्वापर के अंत में हुआ जब व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में व्यवस्था या धर्म की स्थिति बदतर हो रही थी तथा आने वाले कलियुग में और अधिक बदतर होने जा रही थी। अवतार होने के नाते कृष्ण इस तथ्य को और अपने अवतरित होने के उद्देश्य को भी जानते थे कि उनको इन दो युगों की संधि-बेला में बिगड़ती हुई व्यवस्था को ठीक दिशा देने के लिए एक आध्यात्मिक आवेग देना है। व्यवस्था का बदतर होना चक्रीय विकास की प्रक्रिया का एक हिस्सा है। हालांकि जीवन के विकास का जो महान चक्र इस पृथ्वी पर चल रहा है, उसमें मानवता अपने समुच्चय में चौथे परिक्रमण (Round) और पांचवीं प्रजाति (Root Race) में है, और इस तरह मध्य या घुमाव बिन्दु पार करके आरोही चाप या निवृत्ति मार्ग प्रारम्भ हो गया है। किन्तु इस महान चक्र के अन्दर कई स्तरों के छोटे चक्र भी चलते हैं और महायुग वाले चक्र में नीचे जाते हुए कलियुग प्रारम्भ हो चुका है। इसलिए ऐसी स्थिति में एक अवतारी व्यक्ति को आना ही पड़ता है, इस छोटे चक्र के निम्न प्रभाव को कुछ कम करने के लिए ताकि महान चक्र की प्रक्रिया में कोई बड़ा अवरोध न हो जाए। इसी उद्देश्य के लिए मानवीय इतिहास में अवतारों, पैगम्बरों, महान शिक्षकों की एक लम्बी श्रृंखला चली आ रही है।

महायुग के छोटे चक्र की निम्न प्रवृत्ति में भौतिकवाद की बढ़त होती है और आध्यात्मिकता का ह्रास होता है। इसलिए इस भौतिकवाद को कम करके आध्यात्मिकता को बढ़ाने से ही पूरी मानवता के महान विकास चक्र में सहायता मिलती है।

कृष्ण की शिक्षा जो *भगवद् गीता* में मिलती हैं, वह इसी कार्य या कृष्ण के शब्दों में 'धर्म की स्थापना' के लिए है। धर्म (व्यवस्था) प्रत्येक स्तर – स्वयं अपने में, परिवार में, समाज में, राष्ट्र में, विश्व में, और ब्रह्माण्ड में

आवश्यक है। बिना यज्ञ या पवित्र त्याग के इन सभी स्तरों पर धर्म नही रह सकता। प्रथम यज्ञ अपने स्वपन, अहंकार के त्याग से होता है। ऐसे त्याग से उच्च चेतना के साथ योग होता है। इसीलिए इन शिक्षाओं में, एक यज्ञ की तरह स्वार्थपूर्ण इच्छाओं को त्यागना, बिना फल की इच्छा के काम करना, और बुद्धियुक्त काम करना, इत्यादि का संदेश दिया गया है। उचित धर्म या कर्त्तव्य के लिए योग ही साधन है जो स्वयं को एक उच्चतर अवस्था में रूपान्तरण करना है। धर्म का पालन योग के बिना संभव नहीं है। जैसे जैसे धर्म का स्तर बदलता है मनुष्य की समझ स्पष्ट होते हुए, उसी के अनुसार उसका योग भी होता है। और इसे मनुष्य को स्वयं ही अपने विकास के लिए समझना पड़ता है। इसीलिए गीता में कई बार जब अर्जुन कृष्ण से पूछते हैं कि उनको क्या करना चाहिए तो कृष्ण इसका सीधा उत्तर उनको नहीं देते हैं बल्कि उनको और अधिक गहरी व्याख्या में ले जाते हैं, इस उद्देश्य से कि अर्जुन की समझ अधिक स्पष्ट तथा गहरी बने और उसके अनुसार वह स्वयं निर्णय लेकर काम करें। इसलिए हम देखते हैं कि *भगवद् गीता* के हर एक अध्याय का नाम एक प्रकार का योग ही कहा गया है। पहले अध्याय से लेकर अंतिम 18वें अध्याय तक कृष्ण और अर्जुन दोनों की उपस्थिति है और इस सतत् शिक्षा में एक मानसिक रूपान्तरण करने की प्रक्रिया दिखती है।

भगवद् गीता भारत से निकली हुई एक सबसे महत्वपूर्ण कृति है। भारतीय आध्यात्मिक/धार्मिक पुस्तकों को दो स्तरों में बांटा गया है, अर्थात श्रुति जिसमें वेद, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र आते हैं और स्मृति जिसमें पुराण, रामायण, महाभारत इत्यादि आते हैं। श्रुति को स्मृति से श्रेष्ठ माना जाता है। यद्यपि *भगवद् गीता*, महाकाव्य महाभारत, जो स्मृति है, का हिस्सा है, किन्तु विद्वान मनीषियों ने गीता को एक श्रुति ही माना है – अर्थात इसमें दी गयी शिक्षा उच्च स्तर की मानी गयी है, इसीलिए इसको गीतोपनिषद भी कहा जाता है। ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और *भगवद् गीता* हिन्दू प्रथा के तीन

आधार-भूत ग्रंथ कहे जाते हैं। बाइबिल के साथ *भगवद् गीता* दुनिया की एक ऐसी पुस्तक है जिसका सबसे अधिक भाषाओं में अनुवाद हुआ है। बहुत से दार्शनिकों, विद्वानों, संतों और सामाजिक तथा राजनीतिक व्यक्तियों ने भी गीता की व्याख्या अलग-अलग ढंग से की है। बाल गंगाधर तिलक ने लिखा है कि इनमे से बहुत सी व्याख्याएं उस तरह की हैं जैसे बन्दर समुद्र तो पार कर ले किन्तु उसकी गहराई नही जान पाता।

कृष्ण ने गीता में अपने समय के प्रचलित सभी महत्वपूर्ण दार्शनिक विचारों और प्रथाओं का संश्लेषण (synthesize) किया है – किसी भी विचार और प्रथा को एकदम से न नकारते हुए किन्तु उनकी त्रुटियों को समझाते हुए तथा सभी को एक समुचित क्रम देते हुए। गीता को उपनिषदों का सार भी कहा जाता है और इसलिए कहा गया है कि 'सभी उपनिषद् गाय हैं और ग्वाले के पुत्र कृष्ण इन गायों का दूध निकालने वाले हैं, पार्थ यानी अर्जुन बछड़ा हैं, शुद्ध समझ के मनुष्य दूध को पीने वाले हैं और गीता परम् अमृतमय दूध है।'

थिऑसोफिकल साहित्य में गीता का प्रमुख स्थान है। एच. पी. ब्लावत्स्की की प्रमुख पुस्तकों – *आइसिस अनवेल्ड*, *दि सिक्रेट डाक्टरीन*, *दि वायस ऑफ दि साइलेंस* और *थिऑसोफिकल ग्लॉसरी* में गीता का संदर्भ आता है।

महात्मा गांधी ने लिखा है कि गीता पढ़ने की प्रेरणा उनको थिऑसोफिकल सोसाइटी से मिली थी।

एच. पी. ब्लावत्स्की ने *आइसिस अनवेल्ड* में ऐंकली डुपेरॉन को उद्धृत करते हुए लिखा है कि महाभारत की कई पांडुलिपियों में गीता नहीं मिलती है, और इसलिए कुछ लोग विश्वास करते हैं कि *भगवद् गीता* प्रारंभ

में महाभारत का हिस्सा नहीं थी और इसको व्यास, जो महाभारत के रचयिता माने जाते हैं, ने उसमें आध्यात्मिक तत्त्व लाने के लिए बाद में महाभारत से जोड़ा। इसके विपरीत कई विद्वान जैसे टी. सुब्बारॉव ने लिखा है कि व्यास ने गीता को महाभारत में बड़े ही उचित स्थान पर रखा है और यह उसका ही हिस्सा है।

गीता की कृति शुद्ध आध्यात्मिक और नैतिक है और एक अर्थ में यह वेदों की प्रतिरोधी भी लगती है क्योंकि इसकी शिक्षाएं वेदों में वर्णित कर्मकाण्ड से विपरीत जाती हैं। इसमें ब्राह्मण धर्म के महानतम रहस्य समाहित हैं। जब कृष्ण अपने शिष्य अर्जुन को कहते हैं कि निःस्वार्थ बनो, अपनी इन्द्रियों और वासनाओं, जो बुद्धि को भ्रमित करती हैं, को वश में करो, तो वह एक शुद्ध बौद्ध सिद्धान्त ही बता रहे हैं। छोटे लोग, बड़े लोगों का अनुकरण करते हैं। जीवात्मा को कर्म के बन्धन से स्वयं को मुक्त करना है और अपने दिव्य उद्गम के अनुसार ही काम करना है। ईश्वर केवल एक है और सभी देवता उससे नीचे हैं और वे उसी की कई शक्तियां हैं। उचित सद्कार्य के द्वारा ही पूजा करने को, पारंपरिक पूजा से, अधिक प्रधानता दी गयी है। ताओ-ते-चिंग में भी गीता की शिक्षाओं का प्रभाव दिखाई देता है।

थिऑसोफिकल ग्लॉसरी में ब्लावत्स्की कहती हैं कि गीता प्रधानतया उच्चतम आध्यात्मिकता की गुह्य शिक्षा है। वह यह भी कहती हैं कि जॉब की पुस्तक के समान गीता जैसी पुरातन शिक्षाएं रहस्यमय दीक्षा के समय दी जाती हैं। एनी बेसेन्ट अपनी पुस्तक *हिन्ट्स ऑन दि स्टडी ऑफ दि भगवद् गीता* में कहती हैं कि गीता की शिक्षाएं उनके लिए हैं जो निवृत्ति मार्ग में – प्रवेश कर रहे हैं या कार्य कर रहे हैं। एनी बेसेन्ट और भगवान दास द्वारा लिखी पुस्तक *भगवद् गीता* के प्राक्कथन में गीता का सार बताते हुए लिखा गया है कि यह वास्तव में उच्चतम तर्क की पाठ्यपुस्तक है। इसका केवल

एक उद्देश्य है – सार्वभौमिक आत्मा या आत्मचेतना के एक अद्वितीय और अनंत तथ्य पर आधारित, उसी से प्रारम्भ करते हुए, उसी में जीवन जीते हुए और उसी में लौटते हुए – मनुष्य में एक उच्चतर आध्यात्मिक समझ जगाना और स्थापित करना। अंग्रेजी में *भगवद् गीता* का पहला अनुवाद सन् 1775 में लन्दन में किया गया और यह अनुवाद चार्ल्स विल्किंस द्वारा प्रकाशित किया गया था। यह कार्य उस पुरातन शिक्षा को शताब्दी के प्रत्येक अंतिम चतुर्थांश में एक आध्यात्मिक आवेग देने की प्रथा में ही कहा जा सकता है, विशेषतौर से पाश्चात्य भौतिक संस्कृति में लिप्त लोगों के लिए; जैसा हम सभी जानते हैं कि एक आध्यात्मिक आवेग देने के लिए आधुनिक थिऑसोफी का संदेश सन् 1875 में दुनिया के सामने लाया गया। गीता के सन् 1775 में हुए इस अंग्रेजी अनुवाद में एक महत्वपूर्ण परिचय वारेन हेस्टिंग्स द्वारा लिखा गया है। इस परिचय के एक अनुच्छेद में वह इस प्रकार कहते हैं – "गीता की शिक्षाओं के निष्कर्ष से मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं होता कि गीता एक महान मौलिक कृति है जिसमें लगभग एक अप्रतिम उच्चतम विचार, तर्क, शब्द-चयन है तथा मानव समाज के सभी जाने-माने धर्मों में से यही केवल एक अपवाद है जो इसाई मत के सिद्धान्तों से ठीक-ठीक तालमेल रखते हुए मूल सिद्धान्त की बड़े शक्तिशाली ढंग से व्याख्या करती है।"

जैसा हम सभी जानते हैं कि कृष्ण द्वारा यह शिक्षा अर्जुन को युद्धक्षेत्र में दी गयी थी जब कौरवों और पाण्डवों में युद्ध आरम्भ होने वाला था और अर्जुन को यह दिखायी पड़ा कि युद्ध में अपने ही संबंधियों, श्रेष्ठों और शिक्षकों को मारना पड़ेगा तब वह विषाद में पड़ जाते हैं और धनुष छोड़कर रथ में बैठ जाते हैं, कृष्ण से यह कहते हुए कि वह युद्ध नहीं करेंगे। तब कृष्ण अपनी वृहद और गूढ़ शिक्षाएं देते हैं – मनुष्य के कर्त्तव्य को समझाते हुए, उसके आन्तरिक स्वभावों, प्रकृति के गुणों के ऊपर उठने का उपाय और

बिना लगाव के सही ढंग से कर्त्तव्य करना, आदि, आदि बताते हैं। अर्जुन बहुत से प्रश्न करते है और स्पष्टीकरण मांगते हैं जिसका कृष्ण प्रत्युत्तर देते हैं, अर्जुन को अधिक गहरे स्तर की समझ और बुद्धि की ओर ले जाते हुए। बीच-बीच में प्रायः कृष्ण अर्जुन को युद्ध के लिए प्रोत्साहित करते हैं। शिक्षाओं के पूरा होने के बाद अर्जुन कृष्ण से पूछते हैं कि अब उन्हें क्या करना चाहिए। कृष्ण इसका उत्तर देते हैं कि अब वह (अर्जुन) जैसा चाहें वैसा स्वयं कर सकते हैं। तब अर्जुन कहते हैं कि अब वह कृष्ण के बताये अनुसार ही करेंगे अर्थात युद्ध करेंगे। इससे सतही तौर पर ऐसा प्रतीत हो सकता है कि कृष्ण द्वारा दी हुई पूरी शिक्षा का उद्देश्य अर्जुन को युद्ध के लिए प्रोत्साहित करना ही है – एक सम्पत्ति के झगड़े के अन्याय को दूर करने के लिए। किन्तु कई धर्मशास्त्रों के अनुसार गीता में दिया हुआ वर्णन अक्षरशः नहीं लिया जा सकता और इसमें गहरा अर्थ है। यद्यपि महाभारत के ऐतिहासिक युद्ध के परिप्रेक्ष्य में ये शिक्षाएं दी गयी हैं किन्तु गीता इस संघर्ष-मय संसार में रहते हुए मनुष्य को एक उच्चतर आध्यात्मिक जीवन जीने के लिए गंभीर शिक्षाएं देती है। गीता युद्ध को प्रोत्साहित नहीं करती। यह सभी युद्धों में महानतम युद्ध जो हमारे कर्त्तव्य के क्षेत्र में होता है और जो मनुष्य के मन में ही होता है, को बताती है। अपने प्रत्येक कर्त्तव्य को ठीक से पूरा करना, दूसरों के कर्त्तव्यों को करने के खतरे से बचते हुए और अपने कर्त्तव्यों को करने में बिना किसी हानि-लाभ का आकलन करते हुए – यही इस पुरातन ग्रंथ का संदेश है।

गीता की सम्पूर्ण शिक्षाएं मुख्यतः तीन प्रकार के योग में समझी जाता है अर्थात कर्मयोग (अ. 2-5), भक्तियोग (अ. 6-12) और ज्ञानयोग (अ. 13-18)। किन्तु इनमें कोई स्पष्ट विभेद नहीं किया गया है और हर एक अध्याय की शिक्षाएं मिली जुली हैं। इसमें कर्म, भक्ति और ज्ञान के मार्गों को तारतम्यता के साथ समझाते हुए बताया गया है जिससे व्यक्ति अपने दिव्य

तत्त्व के साथ एकत्व की प्राप्ति कर सके। इसमें सभी अलग-अलग प्रथाओं जैसे सांख्य, योग, वेदांत, संन्यास आदि का समुच्चय करके बताया गया है।

टी. सुब्बाराव ने अपनी टिप्पणी में कहा है कि सम्पूर्ण *भगवद् गीता* को तीन भागों में बांटा जा सकता है। पहले छः अध्यायों में से प्रथम अध्याय परिचयात्मक है, शेष अध्याय पांच सिद्धांतों – सांख्य योग, कर्म योग, ज्ञान योग, कर्म संन्यास योग और आत्मसम्यम योग को बताते हैं। ये सिद्धांत दूसरे दार्शनिकों द्वारा सुझाये गये हैं, और इनमें कृष्ण उस मुक्ति के मार्ग को नहीं सम्मिलित करते हैं जिसको वह स्वयं अगले छः अध्यायों में सर्वोत्तम बताते हैं। अंतिम छः अध्यायों में विभिन्न ढंगो से यह बताने का प्रयत्न करते हैं कि प्रकृति, कर्मो यहां तक कि मनुष्यों में परिलक्षित विभिन्न मानसिक और नैतिक गुणों, नाना प्रकार के भावनात्मक स्वभावों, और विभिन्न अभ्यासों के लिए उत्तरदायी है। कृष्ण द्वारा सुझाया मार्ग सार्वभौमिक उपयोग के योग्य है और इसकी पृष्ठभूमि में, अज्ञात तथा अदृश्य रूप से, वह गुह्य विधि है जिसकी सुविधा के लिए दीक्षा की सभी प्रणालियां अस्तित्व में लायी गयी हैं (*Philosophy of The Bhagavad Gita*, पृ. 141)।

भारतीय दर्शन के छः विभाग तथा भारतीय विज्ञान के छः अंग, परम ज्ञान (Absolute Knowledge) की घटित अभिव्यक्ति हैं। ये प्रज्ञा धर्म के छः संतान हैं। इनमे से प्रत्येक की त्रिपक्षीय अभिव्यक्ति (ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञात) *भगवद् गीता* के अठारह अध्यायों के विषय-वस्तु हैं। कुरुक्षेत्र में महायुद्ध अठारह दिन चला और युद्ध-रत सेनायें अठारह विभागों में बंटी थी; इसका वर्णन अठारह पर्वों में है।

गीता एक महान सागर की तरह है जिसके छोर पर शिशु भी खेल सकते हैं और जिसकी गहराइयों में महान जीवात्माएं भी तैर सकती हैं। गीता का योग सामान्यतया अच्छे तर्कों के साथ कर्म का मार्ग और यह सांख्य या

ज्ञान का मार्ग भी कहा जाता है। किन्तु इसपर भी ध्यान जाता है कि गीता में योग को बुद्धियोग भी कहा गया है (अ. 2. श्लो. 39, 50)। यह बहुत स्पष्टता से बुद्धि या शुद्ध और करुणामय समझ, जो मन का उच्चतर और आध्यात्मिक पक्ष है, का स्थान बताती है। कार्यों को बुद्धि, जो हमारी आध्यात्मिक जीवात्मा है, की सहायता से करने के लिए, लोगों को, बुद्धि के प्रकाश या उसकी शिक्षाओं की आवश्यकता है। हम बुद्धियोग को मनुष्य के सांसारिक चेतना में बुद्धि को उतारने का मार्ग भी कह सकते हैं जिससे उसमे बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य करने की क्षमता हो सके। योग की सामान्य धारणा है कि इन्द्रियों के बन्धन से जीवात्मा को स्वतंत्र करना और पुनर्जन्म के चक्र से बाहर आ जाना। बुद्धियोग, शुद्ध और करुणामय समझ की आध्यात्मिक शक्ति को हमारी देह के इस मंदिर में डालने की धारणा लाता है ताकि जीवात्मा के ओजस और तेजस हमारी देह के प्रत्येक छिद्र से प्रवाहित हो। यह लोगों को संसार के दुखों और संघर्षों से दूर किसी जंगल या पहाड़ के शिखर पर चले जाने के बजाय, मानवीय दिनचर्या में सभी दायित्त्यों को पूरा करते हुए, आध्यात्मिक जीवन जीने के योग्य बनाता है। बुद्धियोग किसी भी तरह का ज्ञानविहीन कार्य करना नहीं है, किन्तु केवल जीवात्मा के ज्ञान (Soul Wisdom) में स्थापित होकर ही कार्य करना है। उन सभी कार्यों, जो काम या वासना से उत्पन्न होते हैं, को त्याग देना चाहिए और जो कार्य किए जाएं उनको बुद्धि के प्रकाश में करना है। इसके लिए स्वभाव में वैराग्य लाना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार हम संसार में रहते हैं, हम सभी उत्तरदायित्वों और कर्त्तव्यों को पूरा करते हैं, हम कार्यों में कुशलता प्राप्त करते हैं किन्तु हम कार्य के फल के प्रति बिना किसी लगाव या मोह के कार्य करते हैं। यह बुद्धियोग, अपनी सम्पत्ति को फेंक देना नहीं है किन्तु उनका उचित उपयोग करते हुए रहना है। यह केवल अच्छे कार्य करना नहीं है किन्तु कार्यों के संसार अर्थात क्रियालोक जो प्रकृति का शक्तिशाली इन्द्रजाल है,

को पूरी तरह समझना है। बुद्धियोग बुराइयों से दूर भागना नहीं है किन्तु उनसे युद्ध करके उनको विजित करना है। यह एक शुद्ध अवस्था में जीवात्मा के सुख या आनंद की भावना नहीं है, किन्तु अराजकता में व्यवस्था और बुराई के मूल में ही अच्छाई और शोक या दुख में आनंद प्राप्त करना है। यह संसार का डर नहीं है, किन्तु मानवता के प्रति प्रेम है जो देह में बुद्धि का उतरना संभव करता है। इसलिए बुद्धियोग भविष्य के ईश्वर – मनुष्य के विकास के लिए पहला अभ्यास है। कृष्ण अपनी शिक्षाओं में अर्जुन को बुद्धियोग करने के लिए कहते हैं। बुद्धियोग से कर्म नीचा है, यह बताते हुए अर्जुन को बुद्धि की शरण में जाने को कहते हैं (अ. 2, श्लो. 49)। अर्थात किसी भी बात और शिक्षा को इसलिए अच्छा नहीं मानना चाहिए कि वह पुरानी परिपाटी/परंपरा का है, या वह शास्त्रों में लिखा है इत्यादि, इत्यादि। अपनी बुद्धि से उसके औचित्य को समझ कर उसके अनुसार कर्म करना चाहिए। बुद्धि-युक्त कर्म में अच्छे और बुरे कर्म के विचार छूट जाते हैं, ऐसे कर्म कुशल कर्म होते हैं (अ. 2, श्लो. 50)। बुद्धियोग को गीता का हृदय भी कहा जाता है।

गीता का पहला श्लोक 'धर्म' शब्द से शुरू होता है और कृष्ण ने पूरी शिक्षा को 'धर्म संवाद' ही कहा है (अ. 18, श्लो. 70)। हम जहां भी हैं, हमारा वह कर्मक्षेत्र ही कुरुक्षेत्र है और वही हमारे धर्म या कर्त्तव्य का क्षेत्र है। पूरी शिक्षा का उद्देश्य उस कर्त्तव्य को बुद्धिमत्ता पूर्वक ठीक ढंग से करने के लिए है।

अध्याय 1 में अर्जुन को विषाद में बताया गया है जब वह देखते हैं कि उनको अपने ही संबंधियों, मित्रों और शिक्षकों को मारना पड़ेगा। समाज में न्याय स्थापित करने के लिए, कृष्ण अर्जुन को उनके क्षत्रिय धर्म की याद दिलाते हैं। इस तरह जब अर्जुन के पारिवारिक या कुल धर्म और जाति धर्म अर्थात न्याय के लिए क्षत्रियोचित युद्ध करने के बीच एक विरोधाभास हो रहा

है और तब कृष्ण युद्ध के लिए कहते हैं तो वह एक छोटे कर्त्तव्य अर्थात कुल धर्म के ऊपर जाति धर्म या तुलना में बड़े धर्म को महत्व देने की बात करते हैं।

अर्जुन एक आदर्श श्रावक हैं। कृष्ण उनको बताते हैं कि जो शिक्षा वह दे रहे हैं वह परम् गुह्य है जिसको एक समय लोग जानते थे लेकिन यह खो गई थी। वह यह सलाह देते हैं कि इस गुह्य ज्ञान को विनम्रता द्वारा सेवा करके, अन्वेषण और प्रश्न करते हुए समझना चाहिए; और तब बुद्धिमान ऋषि चीजों के सत्त्व के परम् ज्ञान को बतायेंगे (अ. 4, श्लो. 34)। इसके पूर्व, दूसरे अध्याय (अ. 2, श्लो. 43, 44) में कृष्ण अर्जुन को कर्मकांडों की सीमित उपयोगिता – केवल सांसारिक और स्वर्गीय सुख प्राप्त करने तक की ही बताते हैं। यह भी संकेत देते हैं कि जो गुह्य दर्शन वह बताने का प्रयत्न कर रहे हैं वह वेदों की शिक्षाओं से भी उच्चतर और उत्तम है क्योंकि वेद तीन गुण बताते हैं और इस दर्शन में तीन गुणों के परे जाने (गुणातीत होने) को कहा गया है (अ. 2, श्लो. 45), फिर वेदों से लाभ की छुद्रता बताने के लिए उनकी तुलना एक सर्वत्र जल मग्न स्थान में केवल एक लघु ताल से करते हैं (अ. 2, श्लो. 46)। आगे फिर 15वें अध्याय में वेदों की तुलना ज्ञान के वृक्ष या अश्वत्थ की पत्तियों से की गयी है (अ. 15, श्लो. 1) – पत्तियां गिर जाती हैं और फिर उनकी जगह नई और ताजी पत्तियां उत्पन्न होती हैं। अपनी शिक्षाओं के अंत में कृष्ण कहते हैं कि इस प्रकार मैंने तुम्हें वह ज्ञान दिया है जो गुह्यतम गुह्य है अर्थात अधिक रहस्यमय है, अपने मन में इसका पूरा मनन करो और फिर जैसा तुम्हें लगे वैसा करो (अ. 18, श्लो. 63)। इस प्रकार अर्जुन को, शिक्षाओं को समझ कर और अपनी समझ के अनुसार निर्णय लेने के लिए कहा गया है। अर्जुन का मन और हृदय इन शिक्षाओं से संतृप्त हो गया और इसलिए उनका उत्तर आता है कि, "मेरा भ्रम दूर हो गया है, मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया है और मैं निश्चित हूं कि मेरे संदेह दूर हो गए हैं, इसलिए मैं आपके वचन के अनुसार कार्य करूंगा" (अ. 18, श्लो. 73)।

अर्जुन अब अपने निम्न जन्तु स्वभाव से लड़ने के लिए तैयार हैं और यह निश्चित है कि वह विजय प्राप्त करेंगे।

पुरातन और सही मनोविज्ञान के ग्रंथों में कदाचित ही कोई है जो गीता की शिक्षाओं की स्पष्टता तथा इसकी प्रेरणा की गहराइयों के बराबर हो। दूसरे अध्याय (श्लोक 62-63) में एक बड़ी व्यावहारिक शिक्षा दी गया है :

"इंद्रियों के विषयों पर ध्यान करते हुए मनुष्य उनसे जुड़ जाता है, इस जुड़ाव से इच्छाऐं उठती हैं, इच्छाओं से क्रोध आता है। क्रोध से मोह होता है, मोह से स्मृति भ्रमित होती है, भ्रमित स्मृति से बुद्धि नाश होती, बुद्धि – नाश से वह नष्ट हो जाता है (वह अपने सच्चे आत्म-स्वरूप को भूलने लगता है)।"

जब अर्जुन, कृष्ण से एक स्थितप्रज्ञ मनुष्य के लक्षण पूछते हैं (अ. 2-श्लो. 54) तो कृष्ण का उत्तर आता है कि, "जब मनुष्य अपने हृदय की सारी इच्छाओं को त्याग देता है और वह स्वयं के द्वारा स्वयं में ही संतुष्ट होता है; जिसका मन दुःख के बीच भी उद्विग्न नहीं होता है; सुख के बीच उदासीन रहता है, राग, भय और क्रोध से बाहर हो जाता है; जो प्रत्येक स्थिति में अर्थात किसी भी शुभ और अशुभ में आसक्ति-रहित होता है जिसकी कोई पसंद या नापसंद नहीं होती है, जिसकी इन्द्रियां, इन्द्रिय-विषयों से हटकर अन्दर की ओर खिंच जाती हैं, सबसे अपने को संयमित करते हुए वह समत्त्व भाव में होता है और जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया है और जिसकी समझ प्रज्ञावान है, वही स्थितप्रज्ञ है" (अ. 2 श्लो. 55 से 61)। यह ध्यान देने की बात है कि स्थितप्रज्ञ का लक्षण बताते हुए किसी विशेष स्तर का अध्ययन, साधना, कर्मकाण्ड इत्यादि के बारे में नहीं कहा गया है। केवल दैनिक जीवन में मनुष्य की विशेष मनोभाव की स्थितियों के बारे में बताया गया है।

अध्याय 2 के श्लोक 40 में कृष्ण दीक्षा की प्रणाली की ओर संकेत करते हैं यह कहते हुए कि इसमें मरने के बाद कोई दीक्षा समाप्त नहीं होती, न उसके कोई बुरे परिणाम होते हैं और इसका छोटा अभ्यास भी बड़े खतरों से बचाता है। एक व्यक्ति के सही प्रयास के प्रभाव अगले जीवन में न तो नष्ट हो जाते हैं और न ही उसको हानि करते हैं। यह लम्बा जीवन स्वयं में एक प्रकार की दीक्षा है जहां हम जिस प्रकार जीवन का पाठ पढ़ते हैं उसी तरह सफल या असफल होते हैं।

देव या दैवीय शक्तियां कई स्तर की हैं, जो हमारा पोषण करती हैं और हम एक-दूसरे का परस्पर भावयुक्त पोषण करते हुए परम् सुख प्राप्त कर सकते हैं। जो व्यक्ति स्वार्थपूर्ण स्वतंत्रता के नियम से प्रकृति का शोषण करता है और केवल स्वयं के लिए लाभ लेता है उसको चोर कहा गया है (अ. 3, श्लो. 11, 12)। इस प्रकार गीता सभी प्राकृतिक शक्तियों में अंतर्निर्भरता के नियम को बताती है और यदि हम इन अंतर्संबंधों को ठीक से समझ कर अपना कार्य करेंगे तो हम सुखी रहेंगे। पूरा संसार एक है और विश्व एक पूर्ण संग्रह है – धूल के कण आकाश में फैले हुए अनगिनत तारों की तरह है और मनुष्य इनमें से किसी के बिना भी न तो रह सकता है, न ही विकास कर सकता है।

चार वर्णों (अ. 4, श्लो. 13) और प्रकृति के तीन गुणों (अ. 14, श्लो. 5) के बारे में बताते हुए इंगित किया गया है कि मनुष्य के मुख्यतः बारह (4x3) प्रकार के जन्मजात स्वभाव होते हैं और हर एक का उसके अपने स्वभाव के अनुसार ही स्वधर्म अर्थात उसका कर्त्तव्य बनता है और उसी के अनुसार उसका स्वकर्म होता है इसलिए उसको अपने स्वभाव को जानकर उसके अनुसार कर्त्तव्य को समझ कर तदनुसार कर्म करना चाहिए।

कर्म, विकर्म तथा अकर्म में भेद जानना चाहिए। जो कर्म में अकर्म

तथा अकर्म में कर्म देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान होता है और सभी कर्मों को करते हुए समतुल्यता में रहता है (अ. 4, श्लो. 17, 18)। 'कर्म में अकर्म' को श्लोक 20 में बताते हुए कृष्ण कहते हैं कि जो कर्म के फल से आसक्ति को त्याग कर सर्वदा संतुष्ट रहकर कहीं आश्रय नही खोजता, वह कर्म करते हुए भी कुछ नही कर रहा होता है। फिर 'अकर्म में कर्म' को श्लोक 22 में बताते हुए कहते हैं कि जो बिना प्रयत्न के ही, जो कुछ प्राप्त है उससे संतुष्ट है, द्वंदों के युग्म से स्वतंत्र है, सफलता-असफलता में समतुल्य है, वह कर्म करते हुए भी नहीं बंधता। ताओ-ते-चिंग और चुआंग जु की शिक्षाओं में बतायी गयी कर्म-विहीनता (Wu-Wei or non-action) इसके समान है, यह चेतना की वह अवस्था हे जिसमें वस्तुनिष्ठ (objective) और आत्मनिष्ठ (subjective) का द्वैत भाव समाप्त हो जाता है, कर्ता और कर्म का भेद समाप्त हो जाता है।

योग को मध्यमार्ग बताते हुए कृष्ण कहते हैं कि योग उसके लिए नहीं है जो बहुत अधिक खाता है, या जो बिल्कुल नहीं खाता, या जो बहुत अधिक सोता है या बहुत अधिक जागता है। जो अपने आहार-विहार, कार्य, सोने और जागने में नियंत्रित है, योग उसके सभी दुखों को हर लेता है (अ. 6, श्लो. 16, 17)।

गीता के अध्याय 6 में एक बहुत ही कठिन शिक्षा की बात की गयी है अर्थात समत्व में रहना, ब्रह्म के ऊपर ध्यान करते रहना, चाहे गर्मी हो या सर्दी, सुख हो या दुख, सफलता हो या असफलता। हम इस स्थिति को आसानी से नहीं पहुंच सकते, शायद कई जन्मों में भी नहीं, किन्तु प्रयत्न करना ही है। हमारा उस दिशा में किया गया प्रत्येक कर्त्तव्य हमारे आंतरिक स्वभाव में सुरक्षित रहता है और मृत्यु के समय समाप्त नहीं हो जाता। यह एक आध्यात्मिक प्राप्ति होती है जिसको ईसा मसीह ने स्वर्ग में प्राप्त धन

कहा था।

गीता में जो कर्मयोग बताया गया है उसके कई आयाम हैं जैसे –

- कर्म न करने की प्रवृत्ति का त्याग।
- केवल सही काम करना और कर्त्तव्य समझ कर करना – इसमें किसी की पसंदगी और नापसंदगी का विचार न होना।
- कर्मफल की इच्छा के बिना कर्म करना – जो मिले उससे संतुष्ट होना।
- कर्म के परिणाम की सफलता या असफलता से प्रभावित न होना।
- 'कर्ता' का भाव न होना – सारे कर्म प्रकृति अपने गुणों के अनुसार करती है।
- सभी कर्मों और उनके फलों को ईश्वर या अपने उच्च स्व को अर्पित कर देना।
- नैष्य कर्म अर्थात प्रयास रहित कर्म होना। कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म की भावना होना।
- कर्म में किसी भी संकल्प का त्याग होना अर्थात किसी विशेष लक्ष्य या भविष्य की योजना की कल्पना का त्याग।
- कर्म से जो फल आता है उसको लोकसंग्रह या सभी प्राणियों के हित के लिए त्याग देना।

ऐसे ही कर्म किसी बंधन में नहीं बांधते हैं और ऐसे ही कर्म वास्तविक यज्ञ होते हैं। यही बुद्धि युक्त कर्म होते है या बुद्धियोग होता है। ऐसा कर्म स्व का ज्ञान प्राप्त करने, ज्ञान का आदान-प्रदान करने और उनके गंभीर अर्थों पर मनन करने और अभ्यास करने से होता है। इसीलिए कृष्ण सभी यज्ञों में ज्ञानयज्ञ को श्रेष्ठ बताते हैं (अ. 4, श्लो. 33) और कहते हैं कि इसी ज्ञानयज्ञ द्वारा उनकी पूजा होती है (अ. 18, श्लो. 70)।

दसवें अध्याय में अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए कृष्ण कहते हैं कि मैं सभी प्राणियों के हृदय में स्थित आत्मा हूं। इस प्रकार हममें से प्रत्येक परमात्मा है और हर एक में कृष्ण का निवास है।

टी. सुब्बाराव ने *भगवद् गीता* पर अपनी टिप्पणी में कहा है कि अध्याय 10 में कृष्ण द्वारा वर्णित उनकी विभूतियां उनके ज्ञान और शक्तियों की आध्यात्मिक क्षमताएं हैं और जो कुछ भी आध्यात्मिक अवनति की ओर तथा मूर्त भौतिक जीवन की ओर ले जाती है वह प्रकृति से निर्गत (emanates) होती हैं। वास्तव में ब्रह्माण्ड में ये दो संघर्ष करने वाली शक्तियां हैं – एक व्यक्त प्रकृति है जिसका आधार मूल प्रकति में है, दूसरी दैवीय प्रकृति में है जो नीचे के प्रत्येक स्तर में सबसे नीचे के जीवों तक उस प्रकाश का प्रतिबिंब है जो व्यक्त ईश्वर से निकलता है। यह दैवीय प्रकृति (या ईश्वर का प्रकाश) मनुष्य को निम्नतम स्तर से आध्यात्मिक जीवन के उच्चतम स्तर तक ले जाने का प्रयत्न करती है और दूसरी शक्ति जिसका स्थान प्रकृति में है लगातार आत्मा को पदार्थीय अस्तित्व में ले जाने का प्रयत्न करती है। यही धारणा उन वर्णनों का आधार है जो बहुत से धार्मिक प्रणालियों के दर्शन में स्वर्ग में असुरों और देवों के बीच और ब्रह्माण्ड में अच्छे और बुरे तत्त्वों के बीच युद्ध के रूप में बताये गये हैं। *दि सीक्रेट डॉक्टरीन* में यह कहा गया है कि यह आत्मा और पदार्थ का युद्ध तब तक रहेगा जब तक अंतरीय दिव्य मानव अपने बाहरी भौतिक स्व को स्वयं अपने आध्यात्मिक स्वभाव में समायोजित नहीं कर लेता। तब तक निम्न स्व की अंधेरी और तेज वासनाएं अपने स्वामी दिव्य मानव से शाश्वत् विरोध की अवस्था में रहेंगी। किन्तु जन्तु एक दिन वश में कर ही लिया जाएगा क्योंकि इसका स्वभाव बदल जाएगा और फिर इन दोनों के बीच एक समरसता प्रभावित होगी – जैसा कि मर्त्य मानव की रचना के लिए आत्मा के अधोमुख होने के पहले था।

वैराग्य स्वयं अपने अलग अस्तित्व और वस्तुओं/व्यक्तियों से मोह का त्याग है, न कि ऊपरी/बाहरी वस्तुओं का त्याग जैसा कि इसका साधारण अर्थ मान लिया जाता है। सकाम कर्म का त्याग ही संन्यास बताया गया है और कर्मों के फलों को छोड़ देना त्याग बताया गया है (अ. 18, श्लो. 2)।

जब कृष्ण अ. 18 श्लोक 66 में कहते हैं कि सभी पारंपरिक धार्मिक प्रथाओं/अभ्यासों को त्याग कर केवल मेरी शरण में आओ तो इसका अर्थ है कि मनुष्य को अपने स्व-स्वभाव से कृष्ण के स्वभाव या कृष्ण-चेतना अर्थात वैश्विक या सार्वभौमिक चेतना में जाना चाहिए और फिर उसके जो अपने पूर्व स्वभाव और पारंपरिक धर्म के अनुसार कर्म थे, वे छूट जायेंगे और उसका काम वैश्विक चेतना के अनुसार सबके कल्याण के लिए होने लगेगा। अध्याय 18 के श्लोक 66 को गीता का चरम् वाक्य (उच्चतम शिक्षा) कहा गया है।

गीता और महाभारत में कुछ संबंधित प्रतीक और रूपक

गीता के प्रति सही श्रद्धा यह है कि इसकी शिक्षाओं पर विचार करके अपने मन और कार्य को उसके अनुसार दिशा दिया जाए। इसलिए यह आवश्यक है कि इसमें दिये गये शब्दों और श्लोकों के अक्षरीय अर्थ के भीतर जो गंभीर आध्यात्मिक तथ्य बताए जा रहे हैं उनको भी समझने का प्रयास किया जाए। गीता में वर्णित चरित्रों के नाम और कई वस्तुओं के नाम तथा अन्य विवरणों के गुह्य अर्थ भी समझने योग्य है। इनमें से कुछ शब्दों, श्लोकों और वर्णनों के संबंध में हम आगे देखेंगे। इस काव्य में कृष्ण स्वयं ही घोषित करते हैं कि वह आध्यात्मिक प्रज्ञा की ज्योति जलाएंगे ताकि शब्दों का वास्तविक अर्थ जाना जा सके।

आध्यात्मिक शिक्षायें प्रायः रूपक के माध्यम से दी जाती हैं। ऐसे

रूपक कई प्रकार और कई स्तर के होते हैं। पुराणों में वर्णित घटनाएं ऐसे रूपक हैं जो ऐतिहासिक तथ्य नहीं हैं। जबकि महाभारत और गीता में रूपक का आधार ऐतिहासिक घटना है और इसलिए ऐसे रूपक अधिक उच्च या गहरे स्तर के हैं।

गीता के परिपेक्ष्य में जो युद्ध है वह केवल मनुष्य के अन्दर लगातार चल रहे युद्ध का एक रूपक है जो हमारे दिव्य स्वभाव और अज्ञान वाले स्वभाव के बीच लगातार चलता रहता है और ये दोनों स्वभाव एक-दूसरे के ऊपर हावी होने का प्रयत्न करते हैं। प्रथम अध्याय में प्रथम श्लोक के प्रथम शब्द 'धर्मक्षेत्र' का सीधा अर्थ कर्त्तव्य का क्षेत्र और 'कुरुक्षेत्र' का अर्थ कर्म का क्षेत्र अर्थात हम जिस भी स्थिति में हों वहीं हमारे कर्त्तव्य बनते हैं और उसी के अनुसार हमारे कर्म होने चाहिए।

'धृतराष्ट्र' का शाब्दिक अर्थ है एक ऐसा व्यक्ति जो धरती या राज्य को पकड़े हुए है। धृतराष्ट्र को अंधा राजा कहा गया है क्योंकि वह ठोस भौतिकता में ही संलिप्त हैं और उनके राज्य में जो महत्वपूर्ण तथ्य या विसंगतियां हैं उसको देख नहीं पा रहे हैं। वह अंधे हैं क्योंकि देह प्रत्येक ढंग से अंधा ही है। वह मृत अस्तित्व हैं जिनमें उसके पुनर्नवीनीकरण के लिए प्यास है, इसलिए अंधे हैं। आंख स्वयं में देख नहीं सकती और कान स्वयं में सुन नहीं सकता – इन घटनाओं का वास्तविक अनुभवकर्ता तो जीवात्मा ही है जो मनुष्य में पीठासीन आत्मा है। तो यह अंधे राजा मनुष्य का वह हिस्सा हैं जो अस्तित्व के लिए प्यास के तत्त्व को अन्दर रखते हुए भौतिक जीवन को पकड़े रहता है। कुरुक्षेत्र ऐसी देह, जो कर्म द्वारा प्राप्त हुई है, को दर्शाता है। इसलिए राजा यह नहीं पूछते हैं कि उनका शरीर स्वयं में क्या कर रहा है, किन्तु पूछते हैं कि भौतिक अस्तित्व के अनुयायी अर्थात मनुष्य के भौतिक जीवन से जुड़े हुए निम्नतर तत्त्वों का समूह, कौरव और पाण्डु के अनुयायी

अर्थात आध्यात्मिक क्षमताओं का समूह, पांडव इस पवित्र मैदान में क्या कर रहे हैं। संपूर्ण गीता का काव्य धृतराष्ट्र के इस प्रश्न से प्रारंभ होता है, यह आध्यात्मिक विकास का वह पहला स्तर दर्शाता है जब देहात्मा अपनी उच्च और निम्न वृत्तियों को जानना चाहता है। सेनाध्यक्ष और सेनापति जिनके नाम संजय अपने उत्तर में राजा को बताते हैं, वे मनुष्य में सभी निम्नतर और उच्चतर क्षमताओं की सूची है। उनमें नाम इस तरह रखे गए हैं जिससे हमारी स्वयं की शक्तियों का संकेत मिलता है।

महाभारत की कहानी को मनुष्य के विकास की कहानी के रूप में भी लिया जाता है। थिऑसोफी के दृष्टिकोण से राजा धृतराष्ट्र एक भौतिक मानवीय देह हैं जिसको अमर विशुद्धात्मा ने बनाया है ताकि वह विकास की यात्रा कर सके। यह मर्त्य खोल अर्थात भौतिक शरीर, तृष्णा या जीवन की प्यास द्वारा अस्तित्व में लाया जाता है। वह अंधे हैं क्योंकि शरीर अपनी अंतरीय क्षमताओं के बिना केवल एक संज्ञाहीन पदार्थ ही है और इसलिए स्वयं शासन करने के अयोग्य है, और इसीलिए महाभारत में प्रतिनिधि के रूप में किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा राज्य का शासन चलाना बताया गया है। शरीर या धृतराष्ट्र नाममात्र के राजा हैं। थिऑसोफिकल सिद्धांत में यह बताया गया है कि हमारे अन्दर विकास की दो धाराएं हैं। महाभारत की कहानी में कौरव इन दो धाराओं में से अधिक भौतिक धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं और पाण्डव राजकुमार आध्यात्मिक पक्ष की धारा का – अर्जुन अमर चिंगारी का प्रतिनिधित्व करते हैं। विद्वान थिऑसोफिस्ट टी. सुब्बराव ने *भगवद् गीता* पर अपनी टिप्पणियों में कहा कि कृष्ण ईश्वर को दर्शाते हैं और अर्जुन जिनको 'नर' कहा गया है, मानवीय विशुद्ध आत्मा का प्रतिनिधित्व करते हैं। कौरव और पाण्डव हमारे सूक्ष्म अवस्थाओं की दो वृत्तियों – भौतिकता और आध्यात्मिकता को दर्शाते हैं। हमारे स्वभाव का निचला स्तर अर्थात कौरव पहले विकसित होकर इस भौतिक स्तर पर इस समय के लिए शक्ति प्राप्त

करते हैं और उनमें से एक दुर्योधन प्रबल होता है जिससे पाण्डव या हमारे स्वभाव के अधिक आध्यात्मिक हिस्से देश से या हमको शासन करने से बाहर कर दिए जाते हैं। लम्बी भटकन और विभिन्न कठिनाइयां, जिनमें पाण्डवों को दिखाया गया है, वे विकास की अवश्यकताएं हैं जिससे हमारे अचछे तत्त्व मनुष्य के विकासीय संघर्ष में प्रभावी हो सकें। यह राष्ट्रों और प्रजातियों के चक्रीय उत्थान और पतन को भी दर्शाता है।

अर्जुन को गीता में 'नर' भी कहा गया है। इस शब्द का सामान्य अर्थ है – मनुष्य। यह स्पष्टतया बताता है कि गीता सामान्य रूप से किसी भी मनुष्य से संबंधित है और महाभारत की कहानी मानव सम्राज्य के विकास की कहानी है। महाभारत में गीता का स्थान मनुष्य के विकास की एक निश्चित अवस्था को दर्शाता है जब वह समझता है कि उसके स्वयं में एक दिव्य चिंगारी, एक दिव्य आत्मा है और वह चैतन्य रूप से उसको खोजने और उस दिव्य आत्मा से अपने को जोड़ने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार वैश्विक आत्मा या परमात्मा से जुड़ता है क्योंकि आध्यात्मिक जीवात्मा एक अविभाज्य तत्त्व है। मानव की यह कहानी किसी भी मनुष्य के जीवन में लागू की जा सकती है जो आध्यात्मिक आभासों के प्रति जागृत हो गया है।

प्रतिरोधी सेनाएं जो कुरु के मैदान में मिल रही हैं, मनुष्य की क्षमताओं और शक्तियों के दो समुच्चय को दर्शाती हैं। एक वह जो उसे नीचे की ओर खींचने की कोशिश कर रही हैं और दूसरी वह जो उसे प्रकाश की ओर आकांक्षित कर रही हैं। यह युद्ध केवल उस महान युद्ध को ही नहीं बताता है जो मानव साम्राज्य अपनी पूर्णता में चलाता है किन्तु उस संघर्ष को भी बताता है जो अपरिहार्य हो जाता है, जैसे ही मानव परिवार की एक इकाई अर्थात एक व्यक्ति अपने जीवन को अपने उच्चतर स्वभाव से शासित करने का संकल्प लेता है। इसलिए अर्जुन जिनको 'नर' कहा गया है, प्रजाति

की तरह न केवल एक मनुष्य का प्रतिनिधित्व करते हैं, बल्कि एक ऐसे अकेले व्यक्ति का भी, जो अपने अधिक अच्छे स्वभाव के विकास के लिए कार्य करने का संकल्प लेता है। उनके साथ होने वाली जिन घटनाओं का जो वर्णन किया जा रहा है, वे ऐसे प्रत्येक अकेले व्यक्ति के पास आएंगी। मित्रों और अपनी सभी आदतों, जिसको उसने अभी तक प्राप्त किया है, तथा जो स्वभावतः अनुवांशिक वृत्तियों से उत्पन्न होती हैं, उनके द्वारा उसका विरोध और मुकाबला होगा और तब वह सफल या असफल होगा यह इस पर निर्भर करेगा कि वह कृष्ण, जो उसके अन्दर दैदीप्यमान ईश्वर हैं, और अन्दर ही बोल रहे हैं, को कैसे सुनता है।

गीता का प्रथम अध्याय अर्जुन विषाद है। इसमें सेनाओं का वर्णन और उनको देखकर अर्जुन के ऊपर पहला प्रभाव यह दिखाता है कि हमें अब कृष्ण से यह सीखना है कि अपने स्वभाव की सारी शक्तियों और वृत्तियों के साथ युद्ध में हमारा क्या कर्त्तव्य है। गुह्य विद्या, थिऑसोफी या सही धर्म का प्रत्येक विद्यार्थी अर्जुन के ऐसे अनुभव से होकर गुजरेगा। इस अध्ययन के सौन्दर्य या दूसरे मोहक गुणों से आकर्षित होकर वह इसका अध्ययन करता है और शीघ्र ही पाता ही कि वह दो शक्ति समूहों को जगा देता है। उनमें से एक उसके सभी मित्र और संबंधी होते हैं जो जीवन को उस दृष्टि से नहीं देखते हैं जैसा वह देखता है, जो प्रस्थापित व्यवस्था (established order) से जुड़े हुए हैं और किसी अन्य चीज की ओर ध्यान लगाने या कार्य करने के लिए उसको एक मूर्ख समझते हैं, जबकि उसके सामान्य जान-पहचान वाले व्यक्तियों के समूह और जिनसे वह सांसारिक जीवन में मिलता है, स्वभावतः उसके विरुद्ध हो जाते हैं और इस प्रकार एक धर्मयुद्ध आरम्भ होता है, उसके अपने ही गलतियों और दोषों के साथ प्रारंभ हो कर, लेकिन उसके अपने जीवन के उदाहरण की शक्ति द्वारा ही उसके परिचितों की निन्दा में समाप्त होता है। इन दूसरे प्रतिरोधियों का सामना अधिक कठिन होता है क्योंकि

उनका आधार और शिविर ऐस्ट्रल और अन्य छिपे स्तरों पर होता है; यह सभी उसकी निम्नतर शक्तियां और क्षमताएं हैं जो अभी तब केवल भौतिक जीवन की सेवा में ही लगी थीं। केवल नैतिक गुरुत्वाकर्षण की शक्ति मात्र से ही वे दूसरी और उड़ जाती हैं जहां वे उसके जीवित मित्रों और संबंधियों को उसके विरुद्ध संघर्ष में सहायता करती हैं। वे किसी अन्य की अपेक्षा विषाद उत्पन्न करने में अधिक कुशल होती हैं।

कृष्ण शब्द का अर्थ है – अंधेरा या रहस्यमय या गहरा है। इसका दूसरा अर्थ भी है – अपनी ओर आकर्षित करने वाला। हर एक व्यक्ति में कुछ ऐसी चीज होती है जो अन्य को उसकी ओर खींचती है। कृष्ण प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में बैठे हुए एक आकर्षण हैं जो जीवन का अर्थ और उद्देश्य बताते हैं या सही दिशा की ओर निर्देशन करते हैं। फिर इन दोनों अर्थों अर्थात 'अंधेरे' और 'आकर्षित करने वाले' का एक संयुक्त अर्थ बनता है – वास्तविक बढ़त, अंधेरे में ही होती है। उदाहरण के लिए बीज मिट्टी के अन्दर अंधेरे में ही उगता और बढ़ता है। 'अंधेरा' यहां किसी खराब अर्थ में नहीं समझना चाहिए बल्कि 'रहस्यमय' के अर्थ में। 'अर्जुन' का शाब्दिक अर्थ 'श्वेत' या 'द्वेषविहीन' या 'सतह' है। कृष्ण और अर्जुन का संवाद रहस्यमय अंतरीय या गहरी और बाहरी या सतह वाले तत्त्वों के बीच में है। सतह और गहराई दोनों को साथ रहना है। सतह के बिना गहराई या गहराई के बिना सतह का अस्तित्त्व हो नहीं सकता। इसलिए इस गंभीर आध्यात्मिक शिक्षा को उद्घाटित करने के लिए अर्जुन और कृष्ण दोनों की आवश्यकता है। अध्याय 18 में कृष्ण स्वयं कहते हैं कि वह अर्जुन को रहस्यों का रहस्य बता रहे हैं। कृष्ण और अर्जुन के संबंध से हम मनुष्य के मन की दो अलग अलग अवस्थाओं, अर्थात गहरी और सतही अथवा अंतरीय और बाहरी, को समझ सकते हैं। कृष्ण जो ज्ञान देते हैं वह ज्ञान मनुष्य की आत्मा को संसार में व्यक्त होने और इसके ऐश्वर्य और रहस्यमय पहेली की समझ के बारे में है।

दो प्रधान चरित्र, कृष्ण और अर्जुन प्रतीक हैं – एक, मानवीय विकास की पराकाष्ठा में, जब मनुष्य ईश्वर बनता है; दूसरा, मनुष्य उस ज्ञान को खोज रहा है जो उसे ईश्वर बनाएगा। हममें से प्रत्येक अपने हृदय में सुषुप्त (latent) रूप से ईश्वर है लेकिन उस दिव्यता को दिखाने के लिए हममें पहले पुरुष को अपने मन और समझ के प्रयत्नों से जानना चाहिए और तब ज्ञान के प्रकाश में दैनिक कार्यों को करना चाहिए।

गीता में विभिन्न स्थानों पर कृष्ण अर्जुन को अलग अलग नामों से संबोधित करते हैं और हर एक स्थान पर उस विशेष नाम की सार्थकता है। अर्जुन के अन्य कुल 10 नाम गीता में आते हैं इनमें से कुछ नामों का अधिक महत्व है। जैसे 1. पाण्डव – पाण्डु के पुत्र। अर्जुन को इन्द्र का भी पुत्र कहा गया है। इन दोनों शब्दों को लेते हुए अर्जुन ऐसी मानवीय जीवात्मा के प्रतीक हैं जो अपने आध्यात्मिक स्वभाव, बुद्धि या देव स्वभाव (इन्द्र) तथा नीचे काम तत्त्व (पाण्डु) तक उतर सकती है। 2. पार्थ – पृथा के पुत्र। 3. भारत – भरत के वंशज। 4. कुरुनन्दन (अ. 2, श्लो. 41) या कुरुश्रेष्ठ – कुरु के आनंद या कुरु वंश में श्रेष्ठ। कुरु, पाण्डवों तथा कौरवों के पूर्वज थे तथा भरत उसके और पहले के पूर्वज थे। 5. कौन्तेय – कुन्ती के पुत्र। 6. महाबाहो – बड़ी भुजा वाले। कदाचित यह अधिक शारीरिक शक्ति और प्रयत्न को दर्शाता है जिसको पूर्ण ध्यान और चैतन्यता के साथ प्रयोग किया जाए। 7. परंतप – शत्रुओं को परेशान करने वाले। गीता के चौथे अध्याय (श्लो. 1-2) में जब कृष्ण अर्जुन को यह बताते हैं कि यह अविनाशी योग दैवीय राजाओं को समय-समय से बताया गया और यह शक्तिशाली ज्ञान खो गया था, जिसको वह अर्जुन को बता रहे हैं। यहां पर वह अर्जुन को 'परंतप' नाम से संबोधित कर रहे हैं। इसका अर्थ इस प्रकार समझा जा सकता है कि अर्जुन एक मानवीय जीवात्मा हैं जिनके शत्रु स्वयं उनके घर के ही हैं अर्थात उनकी इन्द्रियां और उनमें से निकलने वाली इच्छाएं, वासनाएं। जब मानवीय

जीवात्मा अपने इन शत्रुओं को परेशान करना प्रारम्भ करता है तब वह अंतरीय मार्ग पर चलता है, बाहरी वृत्तियों को दबा कर ही अंतरीय चक्षु से वास्तविकता को देखा जा सकता है और अंतरीय कान द्वारा ही गंभीर शब्द सुने जा सकते हैं। अ. 2 के श्लोक 3 में भी उनको 'परंतप' कहा गया है जब उनको अपने मन की दुर्बलता हटा देने को कहा गया। 8. गुडाकेश – वह जिसने नींद को जीत लिया है अर्थात अविद्या की नींद को जीत लिया है। गीता के 11वें अध्याय (श्लो. 7) में अर्जुन को 'गुडाकेश' नाम से संबोधित किया गया है। अर्जुन को विश्वरूप या ब्रह्माण्डीय दैवीय रूप जिसमें सभी रूप समाहित हैं, का दर्शन करने के लिए दिव्य चक्षु दिया गया। अर्जुन, जो कृष्ण की महिमा से अनभिज्ञ थे, को कृष्ण का ऐश्वर्य और भव्यता दिखायी गयी जब उन्होंने कृष्ण का दिव्य रूप (आदि पदार्थ) देखा जिसमें सभी और पूर्ण विश्व समाहित था, अर्थात आत्मा को सब चीजों में और सब चीजों में आत्मा को दिखाया गया। 9. धनंजय (अ. 2, श्लो. 48) – धन के विजेता। अर्जुन धन या सम्पत्ति को विजित करने वाले या तिरस्कार करने वाले हैं – सांसारिक और परासांसारिक, जिसका तात्पर्य है लगाव से मुक्त और वैराग्य होना। जब अर्जुन को 'धनंजय' नाम से पुकारा गया है तब उनको अपने मन को समत्व भाव में लाकर द्वन्द्वों – दुख-सुख, विजय-पराजय, लाभ-हानि में समभाव रखते हुए योग का अभ्यास करने को कहा गया। 10. सव्यसाची – दोनों हाथों का प्रयोग करने वाले। अर्जुन एक बहुत ही कुशल और आश्चर्य पूर्ण धनुर्धर योद्धा थे जो अपने दोनों हाथों में से किसी भी हाथ द्वारा गांडीव धनुष का प्रयोग कर सकते थे। धनुष विद्या को स्व-रूपान्तरण का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए एक परिपूर्ण एकाग्रता के प्रतीक के रूप में समझा जा सकता है। बायां और दाहिना हाथ मस्तिष्क के क्रमशः दाहिने और बायें भाग से संचालित होते हैं। दोनों हाथों की बराबर क्षमता से यह भी संकेत मिलता है कि मस्तिष्क के दोनों हिस्से समान रूप से विकसित हैं या मस्तिष्क और हृदय

तारतम्यता में हैं। मस्तिष्क का बायां हिस्सा व्यवस्था, तर्क, विश्लेषण का केन्द्र होता है जबकि दाहिना हिस्सा रचनात्मकता, आध्यात्मिकता, बोधि और सौन्दर्य बोध का केन्द्र होता है।

पूरी वार्ता में यह ध्यान देने योग्य है कि अर्जुन और कृष्ण लगातार उन नामों को बदलते हैं जिससे वे एक दूसरे को संबोधित करते हैं। जब कृष्ण एक विषय पर बात करते हैं और जो अर्जुन के स्वभाव के एक विशेष अवस्थासे संबंधित है तो वह उनको ऐसा नाम देते हैं जो उस अवस्था के गुण, विषय या अन्य वस्तुओं से संबंधित होता है। अर्जुन भी कृष्ण का नाम बदलते हैं, जब भी उनको आवश्यकता पड़ती है। अध्याय 3 में अर्जुन कृष्ण को 'जनार्दन' शब्द से संबोधित करते हैं। इस शब्द का अर्थ है मनुष्य जो मांगता है उसको देने वाला – यह कृष्ण में सभी की इच्छाओं की पूर्ति की क्षमता दिखाता है। जैसे कृष्ण निर्देशित करते हैं उसके अनुसार हम प्रत्येक चीज में दिव्य तत्त्व को खोज कर पाएं तो हम शीघ्र ही सीखेंगे कि बाहरी रूप से किसी का निर्णय नहीं किया जा सकता और यदि हम अध्याय 4 में दी गयी शिक्षा के अनुसार बिना किसी परिणाम को लक्ष्य में रखते हुए कार्य करेंगे तो उसका अंत शांति में होगी।

कृष्ण कहते हैं (अ. 8, श्लो. 24-26) कि जो व्यक्ति अग्नि, प्रकाश दिन, चन्द्रमा के उजले पक्ष, सूर्य के छः महीने के उत्तरायण के समय जीवन से प्रस्थान करते हैं वे शाश्वत् को जानते हैं, शाश्वत् (मोक्ष) को जाएंगे और दूसरे जो धुवां, रात, चन्द्रमा के अंधेरे पक्ष, सूर्य के दक्षिणायन वाले मार्ग के समय प्रस्थान करेंगे तब वे चन्द्रमा का प्रकाश प्राप्त कर इस पृथ्वी पर पुनः लौटेंगे या जन्म लेंगे। यहां अग्नि, प्रकाश दिन, चन्द्रमा के उजला पक्ष इत्यादि तथा धुवां, रात आदि उन देवों को दर्शाते हैं जो ब्रह्माण्डीय मानसिक शक्तियों के अधिष्ठाता हैं तथा इन प्रतीकों के रहस्यमय अर्थ हैं। सार रूप में

इसका अर्थ है कि जिसका मन प्रकाशित है या ज्ञान से पूर्ण हो गया है वह मोक्ष को प्राप्त होगा और जिसका मन अज्ञान में है, वह पुनर्जन्म के चक्र में रहेगा। टी. सुब्बाराव ने अपनी टिप्पणी में कहा है कि उत्तरायण और दक्षिणायन या दिन और रात या प्रकाश और अंधेरा, ये दो मार्गों – प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग के प्रतीक हैं।

अ. 4, श्लोक 31 में कहा गया है कि वह जो यज्ञ से बचा हुआ प्रसाद खाता है वह परमात्मा को जाता है। यहां व्यक्ति ही वेदी और यज्ञ है और यह प्रसाद उसके आध्यात्मिक विकास की पूर्णता है जिसको वह खाता है या स्वयं में समाहित करता है।

अ. 9 श्लोक 26 में कृष्ण कहते हैं कि जो मुझे भक्तिपूर्वक एक पत्ती, एक फूल, एक फल, जल अर्पित करता है उन्हें मै स्वीकार करता हूं। इसका अर्थ है कि छोटे और अनित्य कार्यों की पत्तियों, सुन्दर कार्यों के पुष्प और रचनात्मक कार्यों के फल मनुष्य के अन्दर वाले ईश्वर को अर्पित करना है। सभी जीवंत और समझ वाली शक्तियां, देव जो हमारे इन्द्रियों और अंगों के अधिष्ठाता हैं, उनको, हमें अपने प्रत्येक कार्य, प्रत्येक शब्द और प्रत्येक विचार की एक सक्षम आहुति बनाते हुए, शुद्ध करना ही चाहिए।

गीता के अध्याय 15, श्लोक 1 और 2 में अश्वत्थ वृक्ष का वर्णन है। यह वृक्ष जीवन (life) और जीव (being) का वृक्ष है जिसका विनाश करने से ही अमरत्व प्राप्त होता है और इस वृक्ष की जड़ें ऊपर होती हैं और शाखाएं नीचे होती हैं। जड़ का अर्थ परम् जीवन या प्रथम कारण या ईश्वर से है। किन्तु कृष्ण को अपने से जोड़ने के लिए, एक व्यक्ति को उन जड़ों से परे स्वयं को ले जाना पड़ेगा। इसकी शाखाएं हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा हैं जो उच्चतम जीव हैं। वेद-मंत्र इसकी पत्तियां हैं अर्थात वे भी पत्तियों की तरह अस्थायी हैं। जो इन सबसे परे जाएगा वही ब्रह्मा के युग अवधि तक पुनर्जन्म नहीं

लेगा।

गुह्य विद्या की दृष्टि से इसकी समझ इस प्रकार होगी कि बीजरूपी परब्रह्म से इस जीवन वृक्ष की जड़ निकलती है और जिसमें समझ (महत या वैश्विक मनस) इसका तना है और इसकी शाखाएं बड़े अहंकार हैं जिनके छिद्रों में इन्द्रियां रूपी अंकुर जमे हैं और जो अदृश्य तत्त्व हैं इसके पुष्प-गुच्छे हैं जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश – ये पांच तन्मात्राएं हैं और जिनसे हमारे भौतिक तत्त्व प्रकट होते हैं, जो छोटी शाखाएं हैं जिनमें हमेशा पत्तियां और फूल रहते हैं। इस वृक्ष को ज्ञान के उत्तम तलवार से काटकर ही एक व्यक्ति अमरत्व को प्राप्त कर सकता है और तब वह जीवन और मृत्यु से परे हो जाता है (अणु गीता से)।

गीता का प्रभाव और लक्ष्य

हममें से सभी अपने उच्च स्व जो कृष्ण है, उनसे निवेदन करके ही इस अध्ययन पर लाए जाते हैं।

एक अन्य दृष्टिकोण से, *भगवद् गीता* एक व्यक्तिगत पुस्तक है, यह प्रत्येक मनुष्य के लिए है। वास्तव में यह एक महान रहस्य की पुस्तक है किन्तु यह समस्या किसी एक के लिए कभी सुलझायी नहीं गयी, इसको सुलझाना और निर्णय करना प्रत्येक व्यक्ति द्वारा स्वयं के लिए ही करना चाहिए। यदि हम कृष्ण अर्थात अपने उच्च स्व की ओर सर्वदा देखते हैं तो हम बार-बार, जीवन पर्यन्त जीवन, अनुभव के बाद अनुभव प्राप्त करते रहेंगे और कभी पूर्णतया हारेंगे नहीं; अर्जुन की कहानी में हमें यह दिखायी पड़ता है। इसके उत्तरावर्ती पुस्तक अणु गीता में एक वर्णन है जहां माया के भवन में नायक, अर्जुन को कृष्ण के साथ टहलते हुए दिखाया गया है। इस

समय युद्ध समाप्त हो गया है – अर्जुन अपने मित्र कृष्ण से कहते हैं कि वह वास्तव में *भगवद् गीता* की शिक्षाओं को अधिकतर भूल गए हैं और उनका एक संक्षिप्त पुनर्वर्णन चाहते हैं। यह कृष्ण द्वारा बताया जाता है। माया का राजमहल यह भ्रमों का देह ही है जो हमारी इच्छाओं से बना है। हमारे पिछले जन्म में इस कविता में दी गयी सारी सलाह हमको दी गयी थी, और आज इस भ्रम के महल में फिर से टहलते हुए जो कभी कभी अत्यन्त सुन्दर मालूम होता है, हमें कभी कभी भूतकाल की स्मृतियां आ जाती हैं और तब हम एक सबलता से संघर्ष करते हैं और यदि हमने अपने मार्गदर्शक को ठीक से सुना हो तो निश्चित रूप से हम स्वयं को अंत तक संघर्ष करने के लिए विवश करेंगे जब तक कि यह समाप्त नहीं हो जाता।

भगवद् गीता बिना किसी टिप्पणी के अपने गुणों पर स्वतः खड़ी है; प्रत्येक साधक उसमें अधिक गहराई के अर्थ समझता है, जैसे-जैसे वह आगे बढ़ता है। इस काव्य को प्रत्येक दृष्टिकोण के बिन्दु के अनुसार कई अलग अलग तरीकों से पढ़ा जा सकता है, । उदाहरण के लिए, क्या यह एक अकेले व्यक्ति के लिए उपयोगी है या ब्रह्माण्ड के लिए, या ऐस्ट्रल संसार के विकास के लिए या प्रकृति के विभिन्न स्तरों के लिए या नैतिक स्वभाव के लिए इत्यादि, इत्यादि।

एक अकेले व्यक्ति पर *भगवद् गीता* दो चीजों का प्रभाव डालता है; 1. निस्वार्थपन 2. कार्य; इसका अध्ययन और इसकी शिक्षाओं के अनुसार जीवन जीने से यह विश्वास उत्पन्न होता है कि केवल 'एक' न कि अलग-अलग आत्मा है; कि हम केवल अपने लिए जीवित नहीं रह सकते किन्तु हमें जानना ही चाहिए कि अलगावपन नाम की कोई चीज नहीं है और जिस प्रजाति से हम संबंधित हैं, उसके सामूहिक कर्म से हमें छुटकारा नहीं है और तब यह कि हमें ऐसे विश्वास के अनुसार ही सोचना और कार्य करना

चाहिए।

कृष्ण सभी जीवों में उच्चतर स्व या बुद्धि को दर्शाते हैं इसलिए उनके नाम से जो वह शिक्षा देते हैं वह सभी मनुष्यों के लिए है। जब कृष्ण अपने को एक व्यक्तिगत सर्वनाम अर्थात 'मैं' द्वारा वर्णन करते हैं तब अपने व्यक्तित्व के बारे में नहीं कह रहे हैं बल्कि सभी की आत्मा के बारे में कह रहे हैं।

गीता के अध्याय 13 की शिक्षाएं वह रास्ता बताती हैं जो गुह्य विज्ञान, सही भक्ति और सही कार्य है। इस अध्याय में सम्पूर्ण गुह्य विज्ञान समाहित है जो यह कहता है कि सब कुछ उच्चतम बिन्दु से आरम्भ होता है और वह उच्चतम बिन्दु मनुष्य के अन्दर ही है और जो क्रिया और प्रतिक्रिया प्रत्येक व्यक्त स्तर पर होती है वही कार्यविधि है जिसके द्वारा व्यक्तिगत और वैश्विक शक्ति और ज्ञान प्राप्त होते हैं। अज्ञानता ही हमारे ज्ञान प्राप्त करने के रास्ते में आती है और सही गुह्य विद्या के दृष्टिकोण से स्वंय अपने वास्तविक स्वभाव के बारे में गलत धारणाएं रखना ही अविद्या की जड़ है।

हमारे इस देश में हजारों मंदिर और लाखों देवस्थान हैं, लेकिन उनमें इस पुरातन प्रकाश से ज्योति जलाने के लिए एक नई व्यवस्था के पुजारियों की जरूरत है जो किसी को भी अछूत, अशुद्ध या विदेशी नहीं समझेंगे। गीता केवल एक समतल करने वाली नहीं है जो धनी और गरीब को समान अवस्था में ला देती है किन्तु यह जागृत करने वाली, ऊपर उठाने वाली है, जो चाण्डाल और ब्राह्मण, स्त्री और पुरुष तथा देशी और विदेशी सभी को शक्ति और शांति में ला देती है। हममें से प्रत्येक अवतरित कृष्ण और अर्जुन है। हमें अपने को केवल मुक्ति प्राप्त करने के लिए तैयार नहीं करना है किन्तु मानवता की सेवा में उस आनन्द को त्यागने के लिए भी तैयार करना है।

कृष्ण यह दिखाते हैं कि यदि उच्चतम अवस्था को प्राप्त करना है तो अमरत्व की अनुभूति इसी देह में रहते हुए जीवन काल में होना चाहिए; इस अवस्था को प्राप्त करने के बाद पुनर्जन्म की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। इसलिए जिस ध्यान और अभ्यास तथा वैराग्य की बात कृष्ण गीता में कहते हैं, वह एक पूरे जीवन-अवधि का ध्यान और अभ्यास है। इसका अर्थ है कि मनुष्य पहले अपने अमरत्व को माने और तब दृढ़तापूर्वक इस धारणा को ही अपने प्रत्येक विचार और कार्य का आधार बनाए। क्योंकि इसी प्रकार से देहधारी जीवों को अमरत्व का अनुभव हो सकता है। उच्चतम स्थान या अवस्था तक पहुंचने के लिए हमारे प्रत्येक विचार और कार्य में उच्चतम इरादा और उद्देश्य होना चाहिए। इस उच्चतम इरादे का विचार एक प्राचीन संकल्प में बताया गया है जो इस प्रकार है – "मैं कभी भी केवल अपने लिए मोक्ष का प्रयास नहीं करूंगा, मैं कभी भी अकेले अंतिम शांति में प्रवेश नहीं करूंगा, किन्तु सर्वदा और सर्वत्र मैं संसार के प्रत्येक प्राणी के विमोचन के लिए प्रयत्न करता रहूंगा।" इसलिए कृष्ण अपनी शिक्षाओं में कर्मफल को लोकसंग्रह और सर्वभूतेहिते अर्थात सब प्रणियों के कल्याण में लगाने के लिए कहते हैं।

परम् ऐश्वर्य वाले अंत, जो महानतम त्याग है, का एक प्रारम्भ होता है। ज्ञान और साहस के साथ हमें अपने प्रथम पग को आज और अभी आगे बढ़ाना है।

सात की संख्या

अतीत के दर्शन, प्रथा, तथा इतिहास में

सुदूर अतीत में संख्याओं को गहरा महत्व दिया गया था। दर्शनशास्त्र रखने वाले लोगों ने अपनी धार्मिक प्रथाओं, त्यौहार के दिनों, प्रतीकों, धर्मत (dogmas) और यहां तक कि साम्राज्यों के भौगोलिक वितरण में संख्याओं को प्रमुखता दिया। आकृतियों और उनके संयोजनों का गुप्त अर्थ सभी लोगों के ऋषियों के ध्यान में प्रवेश कर गया और कई लोग अब भी इस पर विश्वास करना जारी रखते हैं।

जर्मन पत्रिका *डाई गेगेनवार्ट* (*Die Gegenwart*) ने "संख्या सात के महत्व" पर एक गंभीर तथा विद्वतापूर्ण लेख पाठकों को "संस्कृति-ऐतिहासिक निबंध" के रूप में पेश किया था। इस लेख से कुछ निम्नलिखित उद्धरण हैं :

"संख्या सात को न केवल प्राचीन काल और पूर्व के सभी सुसंस्कृत राष्ट्रों द्वारा पवित्र माना जाता था, बल्कि पश्चिम के बाद के राष्ट्रों द्वारा भी इसे सबसे अधिक सम्मान दिया जाता था। बिना किसी संदेह के इस संख्या की खगोलीय उत्पत्ति स्थापित है। मनुष्य ने, अपने आप को स्वर्गीय शक्तियों पर निर्भर अनुभव करते हुए, हमेशा और हर जगह पृथ्वी को स्वर्ग के अधीन बना दिया। इस प्रकार सबसे बड़ा और सबसे चमकीला प्रकाशमान पिंड उसकी दृष्टि में शक्तियों में सबसे महत्वपूर्ण और उच्चतम बन गया; ऐसे ग्रह थे जिनकी संपूर्ण प्राचीनता में संख्या सात थी। कालांतर में ये सात देवों में परिवर्तित हो गये। मिस्रवासियों के सात मूल और उच्चतर देवता थे; फोनेशियन, सात कबीरी; फारसियों में मिथ्रा के सात पवित्र घोड़े; फारसियों में, सात राक्षसों द्वारा विरोध किए गए सात स्वर्गदूत, और सात निचले क्षेत्रों

के समानांतर सात खगोलीय पिंड। इस विचार को इसके ठोस रूप में और अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने के लिए, सात देवताओं को प्रायः एक सात सिर वाले देवता के रूप में दर्शाया जाता था। संपूर्ण स्वर्ग सात ग्रहों के अधीन था; इसलिए, लगभग सभी धार्मिक प्रणालियों में हमें सात स्वर्ग मिलते हैं।"

ब्रह्मवादी धर्म का सप्तलोक में विश्वास पुरातन दर्शन के प्रति निष्ठावान रहा है किंतु यह विचार आर्यावर्त, जो सभी दर्शनों का पालना तथा बाद के सभी धर्मों की माता है, में ही उत्पन्न हुआ था। मिस्र के मेटामसाइकोसिस (एक आत्मा का एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश अथवा पुनर्जन्म) या जीवात्मा के स्थानांतरण के धर्मत (dogma) ने सिखाया कि शुद्धि और प्रगतिशील परिपूर्णता की सात अवस्थाएं थीं। बौद्धों ने भारत के आर्यों से, अशरीरी जीवात्मा के प्रगतिशील विकास के सात चरणों का विचार लिया तथा इस विचार को सात मंजिलों और छतरियों, जो उनके पगोडाओं में शीर्ष की ओर धीरे धीरे कम होते हैं, के रूपक द्वारा दर्शाया।

मिथ्रा की रहस्यमय पूजा में "सात द्वार", सात वेदियां, सात रहस्य थे। कई पूर्वी देशों के पुरोहितों को सात अंशों में विभाजित किया गया था; सात सीढ़ियां वेदियों तक ले जाती हैं और मंदिरों में सात शाखाओं वाली दीवटों में जलती हुई मोमबत्तियां होती हैं। कई मेसोनिक लॉजों में अब भी सात और चौदह सीढ़ियां हैं।

सात ग्रहों ने राज्य प्रभागों और संगठनों के लिए एक आदर्श के रूप में कार्य किया। चीन को सात प्रांतों में विभाजित किया गया था; प्राचीन फारस को सात क्षत्रपों में बांटा गया। अरब किंवदंती के अनुसार सात देवदूत बर्फ और हिम से सूर्य को ठंडा करते हैं, जिससे कहीं ऐसा न हो कि सूर्य पृथ्वी को जलाकर राख कर दे; और हर सुबह सात हजार स्वर्गदूत आते हैं तथा सूर्य को गति प्रदान करते हैं। पूर्व की दो सबसे पुरानी नदियां – गंगा और नील –

प्रत्येक के सात मुहाने थे। पुरातन काल में पूर्व में सात प्रमुख नदियां थीं (नील, दजला, फरात, ऑक्सस, यक्सार्ट, अराक्स और सिंधु); सात प्रसिद्ध कोष; स्वर्ण से भरे सात नगर; दुनिया के सात आश्चर्य, आदि। समान रूप से सात के अंक ने मंदिरों और महलों की वास्तुकला में एक प्रमुख भूमिका निभाई। जापान में चुरिंघम का प्रसिद्ध पगोडा सात वर्गाकार दीवारों से घिरा हुआ है, जो सात अलग-अलग रंगों में रंगी हुई हैं, और प्रत्येक दीवार के मध्य में एक सात मंजिला पिरामिड है; प्रलयपूर्व दिनों के बोर्सिप्पा मंदिर, जो अब बिर्स-निमरुद (ईराक में) है, में सात मंच थे, जो सात क्षेत्रों के सात संकेंद्रित वृत्तों के प्रतीक थे, प्रत्येक गोले के शासक ग्रह के रंग के अनुरूप टाइलों और धातुओं से बना था।

पुराने बुतपरस्त रोमनों ने सप्ताह को सात दिनों में विभाजित किया, और सातवें दिन को सबसे पवित्र, बृहस्पति का सोल या सन-डे माना, और जिसकी पूजा सभी ईसाई राष्ट्र – विशेष रूप से प्रोटेस्टेंट आज भी करते हैं।

रामायण में भारतीय राजाओं के निवास में सात आंगनों का उल्लेख मिलता है; और प्रायः सात द्वार पुराने समय के प्रसिद्ध मंदिरों और शहरों की ओर ले जाते थे। दसवीं शताब्दी ई.पू. में फ्राइज़लैंडर्स ने अपने प्रांतों को विभाजित करने में सात की संख्या का सख्ती से पालन किया और योगदान के सात "फेनिंग" का भुगतान करने पर जोर दिया। पवित्र रोमन और ईसाई साम्राज्य में सात निर्वाचक हैं। हंगेरियन सात ड्यूकों के नेतृत्व में प्रवासित हुए और सात नगरों की स्थापना किया, जिन्हें अब सेमिग्राड्या (बाद में ट्रांसिल्वेनिया) कहा जाता है। रोम सात पहाड़ियों पर बनाया गया था। कॉन्स्टेंटिनोपल के सात नाम थे – बाइज़ांस, एंटोनिया, न्यू रोम, कॉन्स्टेंटाइन का शहर, दुनिया के हिस्सों को अलग करने वाला, इस्लाम का खजाना, स्तंबौल – और इसे सात पहाड़ियों का शहर तथा सात मीनारों का शहर भी

कहा जाता था। मुसलमान लोग मानते हैं कि "इसे सात बार घेरा गया था और सात सप्ताह के बाद सातवें उस्मान सुल्तानों ने इसे अपने कब्ज़े में ले लिया था।" पूर्वी लोगों के विचार में सात ग्रहों का प्रतिनिधित्व महिलाओं द्वारा शरीर के सात हिस्सों – सिर, गर्दन, हाथ, पैर, कान, नाक, कमर में पहने जाने वाली सात मालाओं/अंगूठियों/करधनियों से होता है – और ये सात अंगूठियां या मालाएं पूर्व के प्रेमी द्वारा अपनी दुल्हनों को उपहार में इस समय भी दी जाती हैं; महिलाओं की सुंदरता सात आकर्षण के फ़ारसी गीतों में समाहित है।

सात ग्रह हमेशा एक दूसरे से समान दूरी पर रहते हैं, और उसी पथ पर घूमते हैं, इसलिए इस गति से ब्रह्माण्ड के शाश्वत सामंजस्य का विचार सुझाया गया है। इस संबंध में संख्या सात उनके साथ विशेष रूप से पवित्र हो गई, और ज्योतिषियों के साथ इसका महत्व सर्वदा बना रहा। पाइथागोरस ने अंक सात को प्रकृति में दैवीय व्यवस्था और सामंजस्य के छवि और मॉडल के रूप में माना। यह वह संख्या थी जिसमें पवित्र संख्या तीन या "त्रय" का दोगुना शामिल था, जिसमें "एक" या दिव्य मोनाड जोड़ा गया था : 3+1+3। जैसे प्रकृति का सामंजस्य सात ग्रहों के बीच अंतरिक्ष के कुंजीपटल पर बजता है, वैसे ही श्रव्य ध्वनि का सामंजस्य लगातार आवर्ती सात स्वरों के संगीत पैमाने के भीतर एक छोटे स्तर पर होता है। इसलिए पैन देव (या प्रकृति) के सिरिंक्स में सात पाइप, उनके आकार का धीरे-धीरे घटता अनुपात और अपोलो के सात तार वाली वीणा, ग्रहों और पृथ्वी के बीच की दूरी का प्रतिनिधित्व करते हैं। संख्या तीन (दिव्य त्रय का प्रतीक) और चार (ब्रह्माण्डीय शक्तियों या तत्त्वों का प्रतीक) के बीच मिलन से युक्त, संख्या सात प्रतीकात्मक रूप से ब्रह्माण्ड के साथ देव के मिलन का संकेत करती है। इस पाइथागोरियन विचार को ईसाइयों द्वारा लागू किया गया था, विशेष रूप से मध्य युग में – जब उन्होंने बड़े पैमाने पर अपने पवित्र

वास्तुकला के प्रतीक में सात की संख्या का उपयोग किया था। इसलिए, उदाहरण के लिए, कोलोन के प्रसिद्ध कैथेड्रल और रेगेन्सबर्ग के डोमिनिकन गिरजाघर में इस संख्या को वास्तुकला के लघुत्तम विवरणों में प्रदर्शित किया गया है।

समझ और दर्शन की दुनिया में भी रहस्यमय संख्या सात ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यूनान में सात ऋषि थे, ईसाई मध्य युग में सात मुक्त कलाएं (व्याकरण, भाषण कला, द्वंद्ववाद, अंकगणित, ज्यामिति, संगीत, खगोल विज्ञान) थीं। मुस्लिम शेख-उल-इस्लाम हर महत्वपूर्ण बैठक में सात "उलेमाओं" को बुलाते हैं। मध्य युग में सात गवाहों के सामने शपथ लेनी होती थी और जिसे शपथ दिलाई जाती थी उस पर सात बार रक्त छिड़का जाता था। मंदिरों के चारों ओर जुलूस सात बार गया, और भक्तों को मन्नत मांगने से पहले सात बार घुटने टेकने पड़े। मुस्लिम तीर्थयात्री अपने आगमन पर काबा की सात बार परिक्रमा करते हैं। पवित्र पात्र सात बार शुद्ध किये गये सोने और चांदी के बनाये जाते थे। पुराने जर्मन न्यायाधिकरणों के इलाकों को सात पेड़ों द्वारा नामित किया गया था, जिसके नीचे सात "शॉफ़र्स" (न्यायाधीश) रखे गए थे जिन्हें सात गवाहों की आवश्यकता थी। अपराधी को सात गुना सज़ा की धमकी दी जाती थी और सात गुना शुद्धिकरण की आवश्यकता थी क्योंकि सदगुणी लोगों को सात गुना पुरष्कार देने का वादा किया गया था। पश्चिम में *सातवें* पुत्र के *सातवें* पुत्र को बहुत महत्व दिया जाता था। सभी पौराणिक पात्र आमतौर पर सात पुत्रों से संपन्न हैं। जर्मनी में, राजा *सातवें* बेटे का गॉडफादर बनने से मना नहीं कर सकता था, भले ही वह भिखारी ही क्यों न हो। पूर्व में किसी झगड़े की भरपाई करने या शांति संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए शासक सात या उनचास (7x7) उपहारों का आदान-प्रदान करते हैं।

पुराने ईसाई पादरियों के बीच, शैतान के साथ एक अनुबंध में *सात* अनुच्छेद होते थे, सात साल के लिए अनुबंध किया जाता था और ठेकेदार द्वारा *सात* बार हस्ताक्षर किए जाते थे; मनुष्य के शत्रु की सहायता से तैयार किए गए सभी जादुई पेय *सात* जड़ी-बूटियों से बने थे; लॉटरी टिकट की जीत *सात* साल के बच्चे द्वारा निकाली जाती है। प्रसिद्ध युद्ध सात साल, सात महीने और सात दिनों तक चले; और लड़ाकू वीरों की संख्या सात, सत्तर, सात सौ, सात हजार और सत्तर हजार थी। परियों की कहानियों वाली राजकुमारी सात साल तक सम्मोहन में रही।

पूर्वजों ने मानव शरीर को सात भागों में विभाजित किया; सिर, छाती, पेट, दोनों हाथ और दो पैर; और मनुष्य का जीवन सात कालखंडों में विभाजित था। शिशु के दांत *सातवें* महीने में निकलने शुरू हो जाते हैं; एक बच्चा चौदह (2x7) महीने के बाद बैठना शुरू कर देता है; *इक्कीस* (3x7) महीने के बाद चलना शुरू करता है; *अट्ठाईस* (4x7) महीने के बाद बोलना, *पैंतीस* (5x7) महीने के बाद स्तनपान बंद कर देता है, चौदह (2x7) वर्ष में वह अंततः स्वयं को बनाना शुरू कर देता है; *इक्कीस* (3x7) वर्ष पर वह बढ़ना बंद कर देता है। मानव जाति के पतन से पहले मनुष्य की औसत ऊंचाई *सात* फीट थी; इसलिए पुराने पश्चिमी कानून बगीचे की दीवारों को *सात* फीट ऊंचा रखने का आदेश देते थे। स्पार्टन्स और पुराने फारसियों में बच्चे की शिक्षा सात साल की आयु में शुरू हुई। ईसाई धर्मों में – रोमन कैथोलिक और यूनानियों के साथ – बच्चे को *सात* वर्ष की आयु तक किसी भी अपराध के लिए जिम्मेदार नहीं ठहराया जाता है, और यह उसके लिए दोष स्वीकरोक्ति के लिए उचित आयु है।

इन सभी प्रतीकों की उत्पत्ति हिंदू धर्मग्रंथों में पाई जाती है। भारत में पुराने आर्यों के साथ संख्या सात की जितनी प्रमुख भूमिका थी, उतनी अन्य

कहीं नहीं निभाई गई। हमें *सात* ऋषियों – *सप्त ऋषियों*; *सप्तलोक* – *सात* संसार; *सप्तपुरा* – *सात* पवित्र नगर; *सप्तद्वीप* – *सात* पवित्र द्वीप; *सप्त समुद्र* – *सात* पवित्र समुद्र; *सप्त पर्वत* – *सात* पवित्र पर्वत; *सप्त अरनिया* – *सात* रेगिस्तान; *सप्त वृक्ष* – सात पवित्र वृक्ष; और इसी तरह अन्य के बारे में केवल विचार करना है।

कारक अंक सात

वास्तव में रहस्यमय संख्या 7 की निरंतर पुनरावृत्ति गुप्त विद्याविदों (occultists) को ज्ञात प्रत्येक धर्मग्रंथ में पाई जाती है। संख्याएं 3, 4, 7, *प्रकाश*, *जीवन* और *मिलन* की पवित्र संख्याएं हैं – विशेष रूप से इस वर्तमान मन्वंतर में, हमारा जीवन-चक्र; जिसका विशेष प्रतिनिधि अथवा *कारक* (*Factor*) अंक सात है।

सप्तपर्ण मनुष्य और प्रकृति

गुह्य शब्दावली में मनुष्य को *सप्तपर्ण* नाम दिया गया है। इसका अर्थ है सात पत्तों वाला पौधा और बौद्ध कथाओं में इस नाम का बहुत महत्व है। यह ग्रीक "मिथकों" में प्रच्छन्न है, अक्षर T (ताउ), जो अंक 7 से बना है, और ग्रीक अक्षर Γ (गामा), जीवन का प्रतीक था, और शाश्वत जीवन का : सांसारिक जीवन का, क्योंकि Γ (गामा) प्रतीक है पृथ्वी (गइआ) का : और "अनंत जीवन" का, क्योंकि अंक 7 दिव्य जीवन से जुड़े उसी जीवन का प्रतीक है, संपूर्ण ग्लिफ़ (glyph) को ज्यामितीय आकृतियों में इस प्रकार व्यक्त किया गया है :

– एक त्रिभुज और एक चतुर्धातुक, एक सप्त आयामी मनुष्य का प्रतीक।

प्राचीन रहस्यों में संख्या छः को *भौतिक प्रकृति* का प्रतीक माना जाता है। क्योंकि संख्या छः सभी निकायों के छः आयामों का प्रतिनिधित्व है; छः रेखाएं जो उनके रूप को बनाती हैं, अर्थात, चार रेखाएं चार प्रमुख बिंदुओं, उत्तर, दक्षिण, पूर्व, तथा पश्चिम तक फैली हुई, और दो रेखाएं ऊंचाई और मोटाई की, जो आकाश चोटी (zenith) तथा निम्नबिंदु (nadir) को बताती हैं। इसलिए जहां *षटसंख्यक* (senary) को ऋषियों ने *भौतिक* मनुष्य का प्रतीक माना था, वहीं *सप्तक* (septenary) उनके लिए उस मनुष्य तथा *साथ ही* उसकी अमर जीवात्मा का प्रतीक था।

रेगन अपने *Maconnerie Occulte* में दोहरा समबाहु त्रिभुज ✡ को *दार्शनिक तीन अग्नि* और *तीन जल* के सह मिलन के प्रतीक के रूप में दर्शाते हैं, जहां से सभी चीजों के तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। यही विचार भारतीय समबाहु दोहरे त्रिभुज में भी मिलता है। यद्यपि इसे भारत में विष्णु का प्रतीक कहा जाता है तथापि वास्तव में यह त्रय (या त्रिमूर्ति) का प्रतीक है। यहां तक कि बाहरी प्रतिपादन में भी, निचला त्रिकोण, जिसका शीर्ष नीचे की ओर है, विष्णु का प्रतीक है, जो नम तत्त्व और जल (नरा-यान, या

नरा में गतिशील तत्त्व, जल) के देवता हैं; जबकि त्रिभुज जिसका शीर्ष ऊपर की ओर है, शिव, अग्नि का तत्त्व है, जो उनके हाथ में त्रिज्योति का प्रतीक है। ये दो आपस में जुड़े हुए त्रिकोण – जिनको गलती से 'सोलोमन की मुहर' कहा जाता है – जो हमारी थिऑसोफिकल सोसाइटी का संप्रतीक (emblem) भी बनाते हैं – जो एक ही समय में सप्तक और त्रय का निर्माण करते हैं, और दशक हैं, चाहे जिस भी तरीके से इस प्रतीक की जांच की जाए, क्योंकि सभी दस संख्याएं इसमें निहित हैं। इस प्रकार, मध्य में एक बिंदु के साथ , यह सात आयामी चिन्ह है; इसके त्रिकोण संख्या 3 को दर्शाते हैं; दो त्रिकोण द्विचर (binary) की उपस्थिति दर्शाते हैं; उभयनिष्ठ केंद्रीय बिंदु वाले दोनों त्रिभुजों से चतुर्धातुक (quaternary) प्राप्त होता है; छह बिंदु षटसंख्यक हैं; और केंद्रीय बिंदु, इकाई; दो त्रिभुजों, सम संख्या और प्रत्येक त्रिभुज की तीन भुजाओं, पहली विषम संख्या, के संयोजन के रूप में पंचसंख्यक (quinary) का पता लगता है। यही कारण है कि पाइथागोरस और पूर्वजों ने संख्या छः को शुक्र ग्रह के लिए पवित्र बनाया, क्योंकि "दो लिंगों का मिलन, और त्रय द्वारा पदार्थ का स्पैगिराइजेशन (spagyrization) जनन शक्ति विकसित करने के लिए आवश्यक है, वह उर्वर गुण और प्रजनन की प्रवृत्ति जो सभी अंगों (bodies) में अंतर्निहित है"।

हमारे प्रणाली के अन्य सभी ग्रहों की तरह, पृथ्वी पर भी सात देव – एक "पिता-किरण" – प्रोटोगोनोस, या व्यक्त "ईश्वर" – वह जो अपने सार का बलिदान करता है ताकि संसार जीवित रह सके और हर प्राणी में चैतन्य अस्तित्व हो – की निकलने वाली किरणें हैं।

संख्या 3 और 4 क्रमशः नर और मादा, आत्मा और पदार्थ हैं, और उनका मिलन अपने आरोही चाप पर आत्मा में शाश्वत जीवन का संप्रतीक है,

और पदार्थ में प्रजनन और पुनरुत्पादन द्वारा सर्वदा पुनर्जीवित होने वाले तत्त्व के रूप में है। आध्यात्मिक नर रेखा ऊर्ध्वाधर है; विभेदित पदार्थ रेखा क्षैतिज है; दोनों क्रॉस + बनाते हैं। पहला (3) अदृश्य है; उत्तरार्द्ध (4), वस्तुनिष्ठ अनुभूति के स्तर पर है। यही कारण है कि ब्रह्माण्ड के सभी पदार्थ, जब विज्ञान द्वारा इसकी चरम् सीमा तक उनका विश्लेषण किया जाता है, तो उनको केवल चार तत्त्वों तक ही सीमित किया जा सकता है – कार्बन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन और हाइड्रोजन; और प्राथमिक तीन, चार का सार, या क्रमिक आत्मा या बल, सटीक विज्ञान के लिए एक अज्ञात क्षेत्र और मात्र अटकलें, नाम बनकर रह गए हैं।

प्राचीन कीमियागारों ने कहा, "जब तीन और चार, एक-दूसरे को चूमते हैं, तो चतुर्धातुक अपनी मध्य प्रकृति को त्रिभुज के साथ जोड़ देता है, और एक घन बन जाता है; तभी यह [खुला घन] जीवन का वाहन और संख्या, पिता-माता सात बन जाता है"।

गुह्य दर्शन में प्राचीन कवियों ने विकास का वर्णन इस प्रकार किया : "पहले तीन, या त्रिकोण आया।" इस अभिव्यक्ति का गुप्त विद्या में गहरा अर्थ है, और यह तथ्य खनिज विज्ञान, वनस्पति विज्ञान और यहां तक कि भूविज्ञान में भी यौगिक संख्या सात, तीन और चार के होने से पुष्ट होता है। घोल में नमक इसे सिद्ध करता है। जब इसके अणु, एक साथ एकत्रित होकर, स्वयं को एक ठोस के रूप में निक्षेप करना शुरू करते हैं, तो वे जो पहला आकार ग्रहण करते हैं वह त्रिकोण, छोटे "पिरामिड" और शंकु का होता है। यह आग (fire) की आकृति है, जहां से पिरामिड शब्द निकला है; जबकि व्यक्त प्रकृति में दूसरी ज्यामितीय आकृति एक वर्ग या घन है, 4 और 6; क्योंकि, जैसा कि एनफील्ड ने कहा था, वास्तव में "मिट्टी के कण घन से शुरू होते हैं, आग के कण पिरामिडनुमा होते हैं"। पिरामिड आकार वह है जो

देवदार (Pine) – जो फर्न के काल के बाद के सबसे आदिम वृक्ष हैं – द्वारा ग्रहण किया गया है। इस प्रकार ब्रह्माण्डीय प्रकृति में दो विपरीत – आग और पानी, गर्मी और ठंड – उनकी मौसम संबंधी अभिव्यक्तियां हैं, एक त्रिमितिक द्वारा, दूसरी षटकोणीय प्रणाली द्वारा। माइक्रोस्कोप के नीचे देखे गए हिम के तारामय रवों में सभी और प्रत्येक एक केंद्रीय नाभिक के साथ एक दोहरा या तिहरा छ: बिंदुओं वाला तारा है, बड़े तारे के भीतर एक लघु तारे की तरह। चार्ल्स डार्विन, यह दर्शाते हुए कि समुद्र तट के निवासी ज्वार-भाटा से बहुत प्रभावित होते हैं, कहते हैं :

"औसत उच्च जल-चिह्न के आसपास या औसत निम्न-जल चिह्न से ऊपर रहने वाले जानवर एक पखवाड़े में ज्वारीय (tidal) परिवर्तन के एक पूरे चक्र से गुजरते हैं। ... अब यह एक रहस्यमय तथ्य है कि उच्चतर और अब स्थलीय कशेरुकी (Vertebrata) में कई सामान्य तथा असामान्य प्रक्रियाएं एक या अधिक पूर्ण सप्ताह के अवधि की होती हैं। ... जैसे स्तनधारियों का गर्भधारण, बुखार की अवधि ... कबूतर के अंडे से दो सप्ताह [या 14 दिन] में बच्चे निकलते हैं; मुर्गी के तीन सप्ताह में; बत्तख के चार सप्ताह में; हंस के पांच सप्ताह में; और शुतुरमुर्ग के सात सप्ताह में"।

यह सात की संख्या चंद्रमा के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है, जिसका गुप्त प्रभाव सप्तक अवधियों में सदैव प्रकट होता रहता है। यह चंद्रमा है जो स्थलीय प्रकृति के गुप्त पक्ष का मार्गदर्शक है, जबकि सूर्य व्यक्त जीवन का नियामक और कारक है, और ऋषियों तथा सिद्धों के लिए यह सत्य सर्वदा स्पष्ट था (SD II, 590-595)।

सप्तभुज (Heptagon) से टेट्रैक्टिस (Tetraktys) का संबंध

3 और 4 के योग के रूप में, संख्या सात, प्रत्येक प्राचीन धर्म में कारक तत्त्व है, क्योंकि *यह प्रकृति में कारक तत्त्व है।* इसका अभिग्रहण अवश्य न्यायसंगत है, और इसे *सर्वोत्कृष्ट संख्या* होना अवश्य दिखाना चाहिए।

हालांकि, यह याद रखना चाहिए कि ऐसे सभी संख्यात्मक विभाजनों में एक सार्वभौमिक तत्त्व – यद्यपि (एक) के रूप में संदर्भित किया जाता है, क्योंकि *एकमात्र एक* – कभी भी गणना में प्रवेश नहीं करता है। यह, परम, अनंत और सार्वभौमिक अमूर्तता के अपने चरित्र में, पूरी तरह से स्वयं द्वारा और हर दूसरी शक्ति, चाहे वह सार हो या घटित हो, से स्वतंत्र है। यह "न तो पदार्थ है और न ही आत्मा : यह न तो जीवात्मा है, न ही गैर-जीवात्मा है; यह न तो वस्तु है, न ही विषय," *Personal and Impersonal God* के लेखक कहते हैं (SD II, 598)।

हर्मेसियनों (Hermesians) के साथ संख्या चार सत्य का प्रतीक केवल तभी बनती है *जब इसे एक घन में विस्तृत किया जाता है*, जो खुलने पर, सात बनता है, जो नर और मादा तत्त्वों तथा जीवन के तत्त्व का प्रतीक है (SD II, 600)।

दि हिब्रू इजिप्सियन मिस्ट्री, दि सोर्स ऑफ मेजर्स (*The Hebrew Egyptian Mystery, the Source of Measures*) में, लेखक दिखाते हैं कि वृत्त के संबंध में खुले हुए घन की आकृति ... "एक *उचित क्रॉस*, या *ताऊ* रूप का बन जाता है, और इस से वृत्त का जुड़ाव, मिस्रियों का अंसेटेड

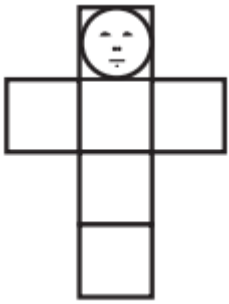

(ansated) क्रॉस बनाता है। ... जबकि एक घन के केवल 6 चेहरे होते हैं, घन के खुलने पर क्रॉस का प्रतिनिधित्व, क्रॉस पट्टियों के रूप में, घन के एक चेहरे को उभय-निष्ठ रुप से दो *पट्टियों* में प्रदर्शित करता है, ... [अर्थात, एक बार क्षैतिज रूप से गिना जाता है, और दूसरी बार लंबवत रूप से गिना जाता है] ... लंबवत के लिए 4 और क्रॉस बार के लिए 3, कुल मिलाकर 7 बनता है," ... "यहां हमारे पास प्रसिद्ध 4 और 3 और 7 हैं।" गुह्य दर्शन, बताता है कि *चार*, संभाव्य स्थिति या *अव्यवस्थित पदार्थ* में, विश्व का प्रतीक है, और इसमें सक्रिय रूप से व्याप्त होने के लिए आत्मा की आवश्यकता होती है, अर्थात, मौलिक अमूर्त त्रिकोण को अपनी एक आयामी गुणवत्ता को छोड़ना होता है और उस पदार्थ में फैलना होता है, इस प्रकार त्रि-आयामी आकाश पर एक *व्यक्त* आधार बनाना, ताकि ब्रह्माण्ड समझदारी से प्रकट हो। यह खुले हुए घन द्वारा प्राप्त किया जाता है। इसलिए अंसेटेड क्रॉस को मनुष्य, उत्पादन और जीवन का प्रतीक माना जाता है। मिस्र में *अंख* (*ankh*) आत्मा, जीवन और रक्त का प्रतीक है। यह *जीवात्मा युक्त, जीवित* सप्तक मनुष्य है (SD II, 600 fn.)।

पाइथागोरस द्वारा 4 को प्रकृति का प्रमुख़-रक्षक (Key-Keeper) कहा जाता था; लेकिन 3 के साथ मिलकर, जिसने इसे सात बना दिया, यह सबसे उत्तम और सामंजस्यपूर्ण संख्या – *स्वयं प्रकृति* – बन गई (SD II, 601)।

पाइथागोरियन लोग संख्या सात, या सप्तकोण, को एक *धार्मिक और परिपूर्ण* (perfect) संख्या मानते थे। इसे टेलेस्फ़ोरोस

(*Telespharos*) कहा जाता था, क्योंकि इसके द्वारा *विश्व में सभी और मानव जाति को इसके अंत, यानी इसकी परिणति तक ले जाया जाता है।* सात पवित्र ग्रहों के शासन के तहत होने के नाते, गोलों (Spheres) का सिद्धांत, लेमुरिया से पाइथागोरस तक, दिखाता है – पृथ्वी और उपचंद्र प्रकृति की सात शक्तियां, साथ ही ब्रह्माण्ड के सात महान बल, सात सुरों (tones) में आगे बढ़ते और विकसित होते हैं, जो संगीत पैमाने के सात स्वर (notes) हैं। सप्तकोण (हमारा सप्तक) को "*एक कुंवारी की संख्या के रूप में माना जाता था, क्योंकि यह अजन्मा है*" (वेदान्तियों के "अज" या ईश्वर की तरह); "बिना पिता या माता के, लेकिन *मोनाड*, जो सभी चीजों का उद्गम और शिखर है, *से निकलते हुए।*" और यदि सप्तक को सीधे मोनाड से निकाला जाता है, तो यह, जैसा कि प्राचीनतम संप्रदायों के गुप्त सिद्धांत में सिखाया गया है, हमारे इस महा-मन्वंतर की परिपूर्ण और पवित्र संख्या है (SD II, 602)।

छः दिनों का सप्ताह और सबा या सात दिन की अवधि अत्यन्त पुरातन काल से है। भारत में चन्द्र त्यौहारों का मनाना दिखाता है कि यह राष्ट्र साप्ताहिक बैठकें भी करता था। प्रत्येक नए चौथाई समय में चंद्रमा वातावरण में परिवर्तन लाता है इसलिए पूरे संसार में कुछ परिवर्तन होते हैं जिसमें से मौसम विज्ञानी वाले परिवर्तन अत्यन्त नगण्य हैं। प्रकृति की गुप्त शक्तियों (कार्यशील ईश्वर के उद्भव) का प्रतिनिधि बनने के लिए और अदृश्य संसारों से सम्पर्क बनाने के लिए गुप्त विज्ञान के सिद्ध मनुष्य इस सांक्षेत्रिक या प्रिज्मेटिक दिनों के अत्यन्त शक्तिशाली सातवें दिन मिलते हैं जैसे कि वे हजारों साल से मिलते रहे हैं। संख्या सात का महत्व इसलिए नहीं है कि वह ईश्वर या देव का विश्राम दिवस है, बल्कि इसलिए कि प्राचीन काल के ऋषि इस सातवें दिन प्रकृति की गुप्त शक्तियों को प्राप्त करने के लिए धार्मिक क्रिया करते थे और यह तथ्य पुरातन दार्शनिकों द्वारा संख्या सात को बहुत

आदरणीय और पवित्र मानने का कारण है। पाइथोगोरस के सिद्धान्त का tetraktys जिसका प्लेटो के अनुयायी आदर करते थे वह एक त्रिभुज के नीचे रखा हुआ चतुर्भुज था; इसमें त्रिभुज अदृश्य विशुद्धात्मा जो एक है उसके त्रियामी अस्तित्व को दर्शाता है और इसको इतना पवित्र माना गया कि पूजन-स्थान के दीवारों के बाहर इसका नाम लेना मना था (Isis II, 418-419)।

(टिप्पणी: हेलेना पेत्रोव्ना ब्लावत्स्की के "The Number Seven", शीर्षक लेख, जो जून 1880 के "*दि थिऑसोफिस्ट*" में छपा था और पुस्तक "*H.P.B., She being Dead yet speaketh and other twelve articles*" में पुनः छपा, तथा *दि सिक्रेट डॉक्टरीन* और *आइसिस अन्वेलड* की सामग्री पर आधारित)

थिऑसोफी और विज्ञान

विज्ञान और रहस्यवाद

थिऑसोफिकल सोसाइटी का नीति-वाक्य है "सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है।" यह एक ऐसा कथन है जिससे एक वैज्ञानिक भी समान रूप से सहमत हो सकता है। थिऑसोफिस्ट और वैज्ञानिक दोनों वास्तव में सत्य की खोज में लगे हुए हैं। हालांकि, वैज्ञानिक लोग सत्य को बाह्य की ओर भौतिक स्तर पर खोजते हैं, जबकि थिऑसोफिस्ट लोग आंतरिक और अधिक आध्यात्मिक स्तर पर सत्य से संबंधित होते हैं, जैसा कि महान रहस्यवादियों और ऋषियों ने युगों से सिखाया है। वह गहन सत्य कभी कभी "सनातन ज्ञान" या "सर्वकालिक दर्शन" कहलाता है।

खोज की वैज्ञानिक और रहस्यवादी विधियां यद्यपि प्रायः आपस में विरोधी प्रतीत होती हैं, किन्तु सार रूप में वे एक दूसरे के पूरक हैं। भौतिक शास्त्र के वैज्ञानिक फ्रिटजॉफ कैपरा ने कहा है कि विज्ञान को रहस्यवाद की आवश्यकता नहीं है और रहस्यवाद को विज्ञान की आवश्यकता नहीं है, किन्तु हम मनुष्यों को इन दोनो की आवश्यकता है। फिर भी कई वैज्ञानिक, शायद बहुसंख्यक भी, वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक प्रक्रियाओं द्वारा खोजे गए सत्य से अधिक किसी गहरे सत्य की आवश्यकता नहीं देखते हैं। अन्य वैज्ञानिक लोग धर्म के साथ कुछ जुड़ाव रखना चाहते हैं, लेकिन कट्टरपंथी धार्मिक शिक्षाओं, जो अच्छी तरह से स्थापित वैज्ञानिक ज्ञान के साथ असंगत हैं, के कारण निरुत्साहित होते हैं। फिर भी, कई महान वैज्ञानिकों, जैसे आइज़क न्यूटन, अल्बर्ट आइंस्टीन, इरविन स्क्रॉडिंगर, पाउली, और डेविड बोहन ने अपने वैज्ञानिक प्रयास में – उस गहन आध्यात्मिक समझ की आवश्यकता को देखा है, जिसको सभी युगों के महान धार्मिक शिक्षकों और रहस्यवादियों द्वारा सिखाया गया गया।

वैज्ञानिक उन व्याख्याओं (या सिद्धांतों), जो हमारे आसपास के भौतिक वातावरण में देखी हुई घटनाओं का पता करते हैं, को प्रस्तावित करके संसार को समझना चाहते हैं। बार-बार प्रयोगों द्वारा परीक्षण करने से प्राप्त परिणाम का पता लगाने के लिए एक सिद्धांत पर्याप्त होना चाहिए। इसको आंतरिक रूप से सुसंगत तथा जहां तक संभव हो सरल भी होना चाहिए। एक वैज्ञानिक सिद्धांत कभी भी "सिद्ध" नहीं किया जाता। प्रयोगों द्वारा इसका केवल परीक्षण किया जाता है, और यदि प्रयोगों द्वारा देखी चीजों की व्याख्या हो जाती है, तो वह सिद्धांत सही ठहराया जाता है। यदि प्रयोगों द्वारा इसका खंडन किया जाता है, तब भी इसे तब तक नहीं छोड़ा जाता जब तक इसके स्थान पर रखने के लिए कोई बेहतर स्पष्टीकरण न हो। इस प्रकार सभी वैज्ञानिक ज्ञान अस्थायी है। लेकिन अगर किसी विशेष सिद्धांत का बिना गंभीर खंडन के व्यापक परीक्षण किया गया हो, तो उसको प्रकृति के तथ्य की तरह स्वीकार कर लिया जाता है जब तक कि एक और अधिक अच्छा सिद्धांत नहीं आ जाता।

खोज की रहस्यवादी विधि अलग प्रकार की होती है, यद्यपि यह वैज्ञानिक जांचों से कुछ विशेषताएं साझा करती है। रहस्यविद (Mystic) का अनुभव, वस्तुओं के बारे में हमारी दैनिक अनुभूतियों से बहुत अलग होता है। चूंकि वह अनुभव परामानसिक प्रकृति का होता है, रहस्यविद इसे दूसरों के लिए दिन-प्रतिदिन की भाषा में नहीं बता सकता है। वैज्ञानिकों को भी अपनी व्याख्याओं को सामान्य भाषा में कहने में कठिनाई हो सकती है जो प्रायः अस्पष्ट होती हैं। इसलिए गणित की ठीक भाषा की ओर मुड़ कर वे अपने विचारों को सूत्रों के रुप में व्यक्त करते हैं। इसके बजाय, रहस्यविद लोग अपने द्वारा अनुभव किये हुये सत्य को व्यक्त करने के लिए अन्योक्तियों, प्रतीकों, तथा रूपकों, का प्रयोग करते हैं।

विज्ञान और रहस्यवाद के द्वारा जिन विशिष्टताओं को साझा किया जाता है उनमें यह है कि दोनो में प्रयोगात्मक परिणाम और रहस्यमय अनुभव को अनन्य नहीं होना चाहिए, किन्तु प्रत्येक को सही परिस्थितियों में उपलब्ध होना चाहिए। जैसे कि एक अच्छे वैज्ञानिक सिद्धांत को कई वैज्ञानिकों द्वारा जांचने पर वही परिणाम प्राप्त होंगे, उसी प्रकार एक विश्वासप्रद रहस्यमय अनुभव का विभिन्न सांस्कृतिक प्रथाओं के रहस्यवादियों द्वारा सहभागी होना चाहिए, वे उस अनुभव के अन्दर के सत्य को प्रतीकात्मक भाषा में व्यक्त करेंगे, यद्यपि उनकी कवित्वपूर्ण कल्पना भिन्न हो सकती है। और विज्ञान की तरह रहस्यवाद, उत्तरवर्ती अन्वेषकों द्वारा अनुपूरण तथा संशोधन करते हुए, प्रगतिशील है।

बीसवीं सदी के दौरान विज्ञान भौतिक संसार की व्याख्या करने, परमाणु की प्रकृति को समझने और बड़े पैमाने पर ब्रह्माण्ड की खोज करने में अत्यंत सफल रहा है। हमने अपने सौरमंडल के ग्रहों का पता लगाया है और पुरानी अवधारणा, कि कम से कम उनमें से कुछ ग्रह हमारे जैसे मानव जीवन रूपों का समर्थन करने के लिए पृथ्वी के समान हैं, को गलत साबित कर दिया है। अब हम अन्य सुदूर तारों के आसपास के ग्रहों पर समझदार जीवन खोजने की संभावना पर विचार कर रहे हैं। दूरस्थ आकाशगंगाओं के अस्तित्व के बारे में न जानने से लेकर, हम अपनी आकाशगंगा जैसी कई आकाशगंगाओं के एक विशाल विकसित ब्रह्माण्ड की खोज करने के लिए आगे बढ़े हैं, जिनमें से प्रत्येक में अरबों तारे हैं, जो अरबों वर्षों में विकसित हो रहे हैं, और यहां तक कि आकाशगंगाओं के बहुत विशाल समूह (superclusters) भी हैं।

सूक्ष्म स्तर पर, हमने डीएनए की खोज की है और आनुवंशिकी का विज्ञान विकसित किया है, उससे कहीं अधिक जितना हम एक शताब्दी पूर्व

स्वप्न देख सकते थे। वर्ष 2003 तक मानव जीनोम परियोजना, जिसमें 28000 वैज्ञानिकों का अनुसंधान शामिल था, ने मनुष्य की आनुवंशिक संरचना में लगभग 20000 से 25000 जीनों (genes) की पहचान कर लिया था। प्राचीन चट्टानों और उनमें निहित जीवाश्मों (fossils) का अध्ययन करके, भूवैज्ञानिकों ने हमारे ग्रह के विकास और वास्तव में उस पर जीवन की उपस्थिति की एक विस्तृत तस्वीर बनाई है। लेकिन विज्ञान का ऐसा ज्ञान अधूरा है और हमेशा बदलता रहता है। इसलिए ब्लावत्सकी कहती हैं कि, "सटीक विज्ञान एक चंचल महिला है, जैसा कि हम अनुभव से जानते हैं" (SD I, 281)।

विज्ञान ने यह भी खोज लिया है कि मस्तिष्क कैसे कार्य करता है किन्तु वह चेतना की प्रकृति के बारे में व्याख्या कर पाने में बिल्कुल असमर्थ हैं। वैज्ञानिक इसे "कठिन समस्या" मानते हैं। दूसरी ओर थिऑसोफिकल साहित्य और रहस्यमय परंपराओं में चेतना पर बहुत सारी सामग्री उपलब्ध है। क्वांटम विज्ञान कुछ हद तक चेतना पर विवेचन करता है। फिर जीव-विज्ञानी लोग जीवित रूपों के अध्ययन में पारंगत हैं किन्तु स्वयं जीवन की प्रकृति को नही समझ सके हैं। रहस्यवाद जीवन को व्यक्त करने वाले भौतिक रूपों की तुलना में उन रूपों को अनुप्राणित करने वाले जीवन को बहुत अधिक महान और मूलभूत मानता है।

क्या विज्ञान जिन नियमों की खोज करता है उनके पीछे कोई गहरा कारण है? कई वैज्ञानिकों के लिए यह प्रश्न अप्रासंगिक है, लेकिन दूसरों के लिए ऐसे प्रश्नों की जांच करना महत्वपूर्ण है। भौतिक विज्ञानी पॉल डेविस, इन सवालों पर विचार करने पर कहते हैं कि वह देव के एक रूप में विश्वास कर सकते हैं जिसे वह "एक अवैयक्तिक रचनात्मक तत्त्व या जीव का आधार" के रूप में वर्णित करते हैं। रहस्यविद, उस सृजनात्मक तत्त्व का

अनुभव 'परम कारण' और 'अस्तित्व का उद्देश्य' दोनों तरह करने की खोज करते हैं।

थिऑसोफी का दृष्टिकोण

विज्ञान और रहस्यवाद के बीच व्यतिरेक (contrast) में थिऑसोफी का उपयुक्त स्थान कहां है? थिऑसोफी शब्द का अर्थ है "दिव्य प्रज्ञा," और यह शब्द पुरातन दिनों से अलेक्जेंड्रियन नवप्लेटोवादियों द्वारा एक विशेष वैश्विक दृष्टि के लिए प्रयोग किया गया है। थिऑसोफिकल सोसाइटी के संस्थापकों द्वारा यह शब्द 1875 में, सनातन प्रज्ञा प्रथा से प्राप्त विचारों, जिनको युगों से ऋषियों द्वारा दिया गया है, को बढ़ावा देने के लिए चुना गया। थिऑसफिकल सोसाइटी की मुख्य सहसंस्थापक, हेलेना पेत्रोव्ना ब्लावत्सकी ने अपनी महानतम कृति को *दि सिक्रेट डॉक्टरीन* का शीर्षक यह संकेत करने के लिये दिया था कि इसमें दी गयी शिक्षायें सामान्य रूप से नहीं जानी जाती हैं। किन्तु उन्होंने इसे एक उपशीर्षक भी दिया – *विज्ञान, धर्म और दर्शन का संश्लेषण*, इस प्रकार यह स्वीकार करते हुए कि मानव सहित ब्रह्माण्ड के एक भव्य एकीकृत दृश्य में इन तीन सीख-पद्धतियों (disciplines) के योगदान का महत्व है।

थिऑसोफी को 'धार्मिक विज्ञान' (Religious Science) या 'वैज्ञानिक धर्म' (Scientific Religion) और 'विज्ञानों का विज्ञान' (Science of sciences) भी कहा गया है। ब्लावत्सकी ने अपने लेख "थिऑसोफी क्या है?" में थिऑसोफी का वर्णन करते हुए कहती हैं :

"थिऑसोफी पुरातन प्रज्ञा-धर्म, गुह्य सिद्धांत है, जिसको सभ्यता का दावा करने वाले प्रत्येक प्राचीन देश, में जाना जाता था। सभी पुरानी कृतियां हमें इस 'प्रज्ञा' को दिव्य तत्त्व के एक उद्भव की तरह दिखाती हैं; और इसके

स्पष्ट समझ को ऐसे नामों में प्रारूपित किया गया जैसे भारतीय बुद्ध, बेबीलोनीय नेबो, मेम्फिस के थोथ, यूनान के हरमेस; कुछ देवियों के नामों में भी जैसे – मेंटिस, निथा, एथेना, ज्ञान मार्ग की सोफिआ, सरस्वती; तथा अंत में 'जानना' शब्द से वेद। ... सारग्राही थिऑसोफी का केंद्रीय विचार 'एक अकेला उच्चतम सार, अज्ञात, अज्ञेय' का था; जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् पूछता है कि 'एक व्यक्ति ज्ञाता को कैसे जान सकता है'?"

प्रज्ञा-धर्म वह मूल श्रोत है जिससे सभी धर्म, दर्शन तथा विज्ञान विकसित हुए हैं। *थिऑसोफिकल ग्लॉसरी* में ब्लावत्सकी इसका वर्णन करती हैं, "प्रज्ञा-धर्म, या 'दिव्य-प्रज्ञा', सभी विश्व-धर्मों तथा दर्शनों का मूल और आधार, जिसको जबसे मनुष्य एक सोचने वाला प्राणी बना तबसे सर्वदा कुछ चुने हुए लोगों द्वारा पढ़ाया तथा अभ्यास कराया गया। थिऑसोफी शुद्ध *दिव्य नैतिकता* है।" प्रज्ञा-धर्म निश्चित सिद्धांतो तथा ज्ञान का समुच्चय है।

एक अन्य संदर्भ में ब्लावत्सकी ने थिऑसोफी को 'मनोविज्ञान का ठीक विज्ञान' भी कहा है।

दि सिक्रेट डॉक्टरीन में ब्लावत्सकी ने तीन मूलभूत प्रस्तावों का उल्लेख किया। इनमें से प्रथम एक अस्तित्व की परिकल्पना करता है – "एक सर्वव्यापी, शाश्वत, असीम और अपरिवर्तनीय तत्त्व – एक परम वास्तविकता जो संसार की प्रत्येक अभिव्यक्त, संस्कारित अस्तित्व के पूर्व से है।" यह सिद्धांत अवर्णनीय को वर्णित करने का एक उत्तम प्रयास है : "एक असीमित, अवैयक्तिक, देव, ब्रह्माण्ड से परे, किन्तु पूरे ब्रह्माण्ड में अंतर्निहित।" देव की यह अवधारणा एक वैज्ञानिक मस्तिष्क को आकर्षक लग सकती है जो एक व्यक्तिगत ईश्वर पर विश्वास नहीं करता है किन्तु जो उस भौतिकवाद, जो वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा हेरफेर किए जा सकने वाले ठोस

पदार्थ की तुलना में सूक्ष्मतर किसी भी चीज के अस्तित्व को नकारता है, से असन्तुष्ट है।

ब्लावत्सकी का दूसरा प्रस्ताव दावा करता है "बारंबारता के नियम की पूर्ण सार्वभौमिकता। ... ज्वार और भाटा जिसको भौतिक विज्ञान ने प्रकृति के प्रत्येक विभाग में अभिलेखित किया है।" वह इस प्रकार के बारंबारता के उदाहरण "रात और दिन, सोने और जागने, जीवन और मृत्यु" में देखती हैं। एक दूसरा उदाहरण मौसम है जो लगता तो अव्यवस्थित है किन्तु वैज्ञानिकों ने पाया है कि वह चक्रों का बहुत ही जटिल संयोजन है। बारंबारता प्रतिमा-आकारों (patterns) की नियमित पुनरावृत्ति होती है, जो संसार की सुव्यवस्था का द्योतक है। सारा विज्ञान यह मानता है कि विश्व सुव्यवस्थित है, अर्थात पूर्वानुमेय है, क्योंकि अन्यथा विज्ञान की सम्भावना ही नहीं होती; और सुव्यवस्था मूल रूप से प्रतिमा-आकारों की पुनरावृत्ति होती है, जिनके मुख्य उदाहरण 'चक्र' हैं।

तीसरा प्रस्ताव दावा करता है, "प्रत्येक जीवात्मा की विश्वात्मा के साथ मौलिक समरूपता।" यह थिऑसोफिकल सोसाइटी के प्रथम उद्देश्य का आधार है, जो बिना किसी भेदभाव के विश्व-बंधुत्व की धारणा के माध्यम से सभी जन के मौलिक एकत्व की बात करता है। जीव विज्ञान द्वारा सारी मानवता के सार आनुवंशिक (genetic) एकत्व की पुष्टि की गई है। सारी जीवात्माओं का विश्वात्मा से समरूपता, यद्यपि परम्परावादी विज्ञान के परे है, किन्तु यह क्वांटम भौतिकी वैज्ञानिक डेविड बोहम द्वारा प्रतिपादित विश्व में प्रत्येक चीज के सूक्ष्म अंतर्संबंध की प्रतिध्वनि करता है। डेविड बोहम ने इस विचार को क्वान्टम मेकेनिक्स के अपने सैद्धांतिक अध्ययन से प्राप्त किया था। इस प्रकार हम केवल मानवता की ही नहीं बल्कि सारे जीवन के एकत्व और वास्तव में पृथ्वी के भी एकत्व पर मनन कर सकते हैं जैसा 'गइया'

(Gaia) की अवधारणा में है, और उसके परे संपूर्ण विशाल ब्रह्माण्ड का एकत्व। जीव वैज्ञानिक रियनी, काफरमैन और बिर्च द्वारा उसी प्रकार के विचार व्यक्त किए गए हैं।

तीसरा प्रस्ताव प्रत्येक जीवात्मा में लगातार होने वाले परिवर्तन की प्रक्रिया के बारे में भी बताता है, आत्मा, समझ और रूप का विकास जो युगों तक चलता है। प्रत्येक जीवात्मा अपने विकासीय अनुभव द्वारा महानतर स्व-जागरूकता की दिशा में परिवर्तित होता है। इस अवधारणा की वैज्ञानिक पुष्टि सम्भव नहीं है क्योंकि इसमें अस्तित्व का उद्देश्य शामिल है और आशय तथा उद्देश्य पर परिकल्पना, विज्ञान के ज्ञान-क्षेत्र से बाहर की वस्तु है। फिर भी, तीसरा सिद्धांत कारण और नियमों की स्थापित वैज्ञानिक व्याख्या के साथ संगत है।

कुछ वैज्ञानिक तथ्य और दि सिक्रेट डॉक्टरीन

दि सिक्रेट डॉक्टरीन पुस्तक में और विशेषतया इस पुस्तक के दोनों खंडों के तृतीय भाग जिसका शीर्षक 'विज्ञान और दि सिक्रेट डॉक्टरीन में वैषम्य' (Science and The Secret Doctrine Contrasted) है, में कई तत्कालीन प्रचलित/मान्य वैज्ञानिक अवधारणाओं/सिद्धांतों का गुप्त संहिता के सही सिद्धांतों के प्रकाश में विस्तृत तथा गहन विश्लेषण किया गया है यह बताने के लिए कि कौन वैज्ञानिक अवधारणा/सिद्धांत कहां तक ठीक है, कहां और किस लिए गलत है, तथा ठीक क्या है। इनमें से कुछ वर्णनों तथा तब से अबतक कुछ नए प्रतिपादित वैज्ञानिक अवधारणाओं के सार, उदाहरण के लिए, नीचे दिए जा रहे हैं।

जीवन का विकास

विज्ञान पदार्थ को ही विकास का आधारभूत मानता है और इस मान्यता के अनुसार जब पदार्थीय कण एक विशेष संयोजन में आते हैं तब उसमें जीवन प्रकट हो जाता है। थिऑसोफी बताती है कि जीवन, न कि पदार्थ, ही विकास का आधारभूत है। जीवन स्वयं को व्यक्त करने के लिए कई स्तरों के पदार्थ का उपयोग करके अधिक से अधिक बढ़िया तथा जटिल रूप बनाता है। यहां यह भी बताया गया है की संपूर्ण विकास एक दिव्य योजना के अनुसार श्रेणीबद्ध समझदार जीवों (जिनको हम देव गण कहते हैं) द्वारा निर्देशित होकर सुव्यवस्थित रूप से, प्रकृति के अपरिवर्तनीय नियमों के तहत, हो रहा है।

इस प्रकार, जबकि विज्ञान पाशविक पदार्थ, अंधी शक्तियों और संवेदनहीन गति के माध्यम से विकास की बात करता है, गुप्त विद्याविद बुद्धिमान नियम और संवेदनशील जीवन की ओर इशारा करते हैं, और जोड़ते हैं कि फोहत इन सभी का मार्गदर्शक आत्मा है।

'विकास' शब्द के पूर्ण अर्थ को परिभाषित किया जाता है : "खोलना (unfolding) या खुलासा करने का कार्य; वृद्धि, विकास की प्रक्रिया; जैसे कली से फूल का विकास, या अंडे से जानवर का रूप।" फिर भी कली का पता उसके मूल पौधे से लेकर बीज तक और अंडे का पता उस जानवर या पक्षी से लगाया जाना चाहिए जिसने इसे दिया था; या किसी भी दर पर जीवद्रव्य (protoplasm) के उस कण तक जिससे इसका विस्तार और विकास हुआ। और *बीज* तथा *कण* दोनों में प्रजनन और क्रमिक विकास, विकास के हजारों रूपों या चरणों को प्रकट करने की छिपी हुई क्षमताएं होनी चाहिए, जिसमें से फूल या जानवर के पूरी तरह से विकसित होने से पहले

उन्हें गुजरना होगा। इसलिए, भविष्य की योजना, यदि कोई डिज़ाइन नहीं है, तो *अवश्य होनी ही चाहिए*। ... यहां विज्ञान मौन है (SD II, 653)।

संसार की उत्पत्ति या उद्भव और विकास

विज्ञान की एक धारणा बनी कि संसार की उत्पत्ति महाविस्फोट (Big Bang) से हुई। अब उसके स्थान पर एक उछाल (Bouncing) या उच्छलन (Rebounding) की धारणा बताई गई है जिसके अनुसार विश्व स्याह छिद्र (Black Hole) में गायब होते हैं और फिर वही श्वेत छिद्र (White Hole) बन जाता है तथा उसमें से विश्व उछल कर फिर प्रत्यक्ष हो जाते हैं, पहले की तुलना में कुछ परिवर्तनों के साथ।

थिऑसोफी बताती है कि लम्बे अवधि-अंतराल में विश्व महाप्रलय के समय एक परम तत्त्व में विलीन हो जाते हैं तथा महामनवंतर के समय उसमें से फिर प्रकट होते हैं; इस प्रक्रिया को समझाते हुए कहा गया है कि परम तत्त्व असीम आकाश, जो वही है, पर आवधिक रूप से अपनी छाया डालता है तथा उस छाया को वापस समेट लेता है; यह प्रक्रिया अनंत काल से चल रही है और चलती रहेगी; इसका न तो कोई आरंभ है, न ही कोई अंत। यह उसका स्वभाव है। प्रत्येक प्रकटीकरण में विश्व अपने सभी प्राणियों के साथ, एक अधिक उच्चतर स्तर पर विकसित होता है।

संसार के मूल निर्माण-खंड तथा स्तर

विज्ञान द्वारा संसार की रचना में परमाणु को मूल निर्माण खंड (building block) बताया गया है और यह केवल भौतिक संसार की ही बात करता है।

थिऑसोफी में अत्यंत लघु जीवन-कणों (infinitesimal Life Particles), जो भौतिक परमाणु से कई गुना अत्यधिक छोटे हैं, को मूल निर्माण खंड बताया गया है। यह भौतिक संसार के अलावे छः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते हुए संसारों (कुल सात स्तरों, इनमें से प्रत्येक में सात उपस्तर) को बताती है।

पदार्थ

विज्ञान भौतिक पदार्थ को मुख्यतः दो श्रेणियों अकार्बनिक (inorganic) और कार्बनिक (organic) में बांटता है। यह अकार्बनिक पदार्थ को जीवन-विहीन (lifeless) या निर्जीव मानता है।

थिऑसोफी, अकार्बनिक तथा कार्बनिक के भेद को नहीं मानती, यह कहते हुए कि कोई निर्जीव या मृत पदार्थ नहीं है। सभी पदार्थ जीवित हैं, केवल जीवन उनमें अलग-अलग स्तरों पर व्यक्त हो रहा है। तथाकथित कार्बनिक पदार्थ में जीवन सक्रिय है और तथाकथित अकार्बनिक पदार्थ में वही जीवन मनुष्य की इन्द्रियों के लिए सुषुप्त है। मनुष्य को यह कहने का कोई अधिकार नहीं है कि पत्थर में जीवन नहीं है। आगे यह संसार के हर स्तर से संबंधित सूक्ष्मतर पदार्थों के अस्तित्व की भी बात करती है। पदार्थ या द्रव्य शाश्वत है – इसकी परमाणु अवस्था आवधिक है।

बाल्फोर स्टीवर्ट सही कहते हैं – वैज्ञानिक "पदार्थ की अंतिम संरचना और गुणों के बारे में कुछ भी नहीं जानते हैं, चाहे वे कार्बनिक हों या अकार्बनिक" (Isis I, 485)।

सूर्य

विज्ञान दृश्य सूर्य को ऊष्मा और प्रकाश का स्रोत मानता है और यह कि सूर्य एक जलता हुआ पिंड है तथा अपने जलने की प्रक्रिया में इसकी ऊर्जा क्षय हो रही है तथा एक समय यह बुझ जाएगा। इसका तापमान बहुत अधिक है। लोकप्रिय वैज्ञानिक सिद्धांत सूर्य के केंद्र में मौजूद भारी दबाव और घनत्व के तहत संलयन (fusion) की प्रक्रिया द्वारा हाइड्रोजन परमाणुओं के हीलियम में परिवर्तित होने को सूर्य की गर्मी का कारण मानता है। उसके लिए, सूर्य एक जलता हुआ द्रव्यमान है, जिसका नष्ट होना तय है। गुप्त विद्या (occultism) इस दृष्टिकोण से असहमत है। गुप्त विद्याविदों (occultists) का कहना है कि सूर्य ऊष्मा और प्रकाश देते हुए धीरे-धीरे ठंडा होने वाला द्रव्यमान नहीं है। सूर्य दहन में एक ग्लोब नहीं है, बल्कि सहज रूप से एक संसार, विद्युत-चुंबकीय पदार्थ का एक चमकता हुआ गोला है।

थिऑसोफी बताती है कि दृश्यमान सूर्य के पीछे एक अदृश्य सूर्य है जो दृश्य सूर्य से निकलते प्रकाश का सही स्रोत है। दृश्य सूर्य उस असली सूर्य के महल में केवल एक खिड़की के समान है और यह दृश्यमान सूर्य जलता हुआ पिंड नहीं है इसलिए जलने की प्रक्रिया से इसका क्षय नहीं होगा। यह आगे बताती है कि सूर्य पर तापमान बहुत अधिक नहीं है यह उतना ही गर्म या ठंडा है जितना कि पृथ्वी की सतह है, किंतु यह अति दीप्तिमान पिंड है।

चंद्रमा की उत्पत्ति

विज्ञान कहता है कि चंद्रमा एक खगोलीय पिण्ड है जो पृथ्वी की परिक्रमा करता है और केवल यही पृथ्वी का स्थायी प्राकृतिक उपग्रह है। विज्ञान के लिए चंद्रमा की उत्पत्ति अभी भी एक रहस्य है। हमारा आधुनिक

विज्ञान चंद्रमा को कुछ 4.5 अरब वर्ष पहले बना हुआ मानता है। अधिक लोगों द्वारा स्वीकार्य व्याख्या एक महान संघात सिद्धांत (giant impact theory) में दी गयी है। इसके अनुसार ग्रहीय वैज्ञानिक मानते हैं, कि चंद्रमा का निर्माण उस बचे हुए मलबे से हुआ जो एक दूसरे ग्रहीय पिण्ड थिआ का पृथ्वी से टकराव के कारण पैदा हुआ था। वर्ष 1969 में आर्म्सट्रांग पहले व्यक्ति थे, जो अमेरिकन मिशन अपोलो-II के कमान्डर के रूप में चंद्रमा पर गए और उसकी सतह पर चले। इसके बाद चंद्रमा की उत्पत्ति के ज्ञान में क्रांतिकारी परिवर्तन आया। अपोलो द्वारा लाए गए चंद्रमा की चट्टानों के नमूने और पृथ्वी की चट्टानों के बीच रासायनिक संगठन समान पाया गया। इसलिए नासा के चंद्रमा से संबंधित वैज्ञानिक संगठन ने अपने अनुसंधान से यह परिकल्पना प्रस्तुत किया कि हमारी पृथ्वी और चंद्रमा दोनों किसी अन्य दो ग्रहों, जो आकार में बहुत बड़े थे, के टकराने से बने। टकराने के बाद बने हुए दो छोटे आकार के पिण्ड आपस में फिर टकराए जिससे पृथ्वी बनी और उसके चारो तरफ का जो पदार्थ था उससे चंद्रमा बना। इस सिद्धांत को एक अमरीकी ज्योतिष-भौतिकी राबिन कनप ने प्रतिपादित किया था।

थिऑसोफी सिखाती है कि चंद्रमा पृथ्वी से अलग नहीं हुआ है बल्कि यह हमारी पृथ्वी की मां है। चंद्रमा पृथ्वी से बहुत अधिक पुराना है और पृथ्वी का अस्तित्व चंद्रमा के कारण हुआ है। पृथ्वी की तरह चंद्रमा भी सात आयामी है। सुदूर पूर्व के समय जब पृथ्वी नहीं थी तब चंद्रमा पर आबादी थी। जब विकास चंद्रमा पर पूरा हो गया तो उसकी मृत्यु हुई और उसने अपनी सारी ऊर्जा आकाश में फेंक दिया और पीछे उसकी एक लाश या भौतिक वाहन रह गया। चन्द्र-श्रृंखला के पिण्डों के तत्त्वों से ही पृथ्वी-श्रृंखला के पिण्ड बने। गुह्य स्थिति यह है कि आकाश में दिखाई देने वाला चंद्रमा हमारी पृथ्वी की तरह ही अपनी श्रृंखला का चौथा पिण्ड है। दृश्यमान चंद्रमा चन्द्र-श्रृंखला का ग्लोब है और हमारी पृथ्वी या पृथ्वी श्रृंखला के ग्लोब की

माता है। उसके दूसरे पिण्ड अदृश्य है। एच. पी. ब्लावत्सकी ने व्याख्या किया है कि लय केन्द्र अविभाजित अवस्था के मूल पदार्थ का एक नाभिकेन्द्र होता है और जब इसको एक मृत आकाशीय पिण्ड के तत्त्वों द्वारा सक्रिय किया जाता है तब पदार्थ के समूह से आवास योग्य संसार बनते हैं। इस तरह सभी संसार और आकाशीय पिण्ड एक-दूसरे से उत्पन्न होते हैं

ग्रह

विज्ञान के निहारिका सिद्धांत (Nebular Theory) की परिकल्पना में सौरमंडल के ग्रहों की उत्पत्ति सूर्य के केंद्रीय द्रव्यमान (mass) से बताई गई है जबकि गुह्य दर्शन सिखाता है कि ब्रह्माण्डीय पदार्थ का पहला संघनन (condensation) एक केंद्रीय नाभिक के चारों तरफ हुआ, और सूर्य ने अन्य ग्रहों की अपेक्षा अपने को इस सघनित पदार्थ से केवल पहले अलग किया।

आर्य मूल-प्रजाति और उसकी उत्पत्ति के बारे में विज्ञान उतना ही कम जानता है जितना कि अन्य ग्रहों के मनुष्यों के बारे में। फ्लेमरियन और खगोलविदों में से कुछ रहस्यवादियों को छोड़कर, अन्य ग्रहों की बसने की योग्यता को भी ज्यादातर नकार दिया गया है। फिर भी आर्य वंश की आरंभिक जातियों के वैज्ञानिक इतने महान सिद्ध – खगोलशास्त्री थे कि ऐसा लगता है कि वे मंगल और शुक्र की जातियों के बारे में जानते थे।

पुरातन वैज्ञानिक बताते हैं कि ऐसी सभी भूवैज्ञानिक प्रलय – महासागरों की उथल-पुथल, जल-प्रलय और महाद्वीपों के स्थानांतरण से लेकर चक्रवात, तूफान, भूकंप, ज्वालामुखी विस्फोट, ज्वारीय लहरें और यहां तक कि असाधारण मौसम और ऋतुओं के परिवर्तन से लेकर जो आधुनिक मौसम विज्ञानी को भ्रमित करता है – चंद्रमा और ग्रहों के कारण

होते हैं और उन पर निर्भर हैं; यहां तक कि मामूली और उपेक्षित नक्षत्रों का भी हमारी पृथ्वी पर और उसके भीतर मौसम संबंधी और ब्रह्माण्डीय परिवर्तनों पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। आधुनिक विज्ञान ऐसे किसी भी प्रभाव से इनकार करता है; पुरातन विज्ञान इसकी पुष्टि करता है (SD II, 699)।

मनुष्य और उसकी उत्पत्ति तथा विकास

विज्ञान के अनुसार पृथ्वी पर मनुष्य का विकास एक प्रारंभिक जंगलीपन (savage) की अवस्था से उन्नति करके सभ्य अवस्था तक हुआ तथा यह केवल भौतिक शरीर के विकास की ही बात करता है। यह मस्तिष्क और मन को एक ही चीज मानता है।

थिऑसोफी बताती है कि मनुष्य का विकास तीन प्रमुख धाराओं, भौतिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक में होता है तथा हमारी पृथ्वी श्रंखला पर सात परिक्रमाओं (Rounds) में – प्रत्येक परिक्रमा में सात प्रजातियों (Races), उनमें से प्रत्येक में सात उपप्रजातियों (Subraces) में होता है। पहले आधात्मिक स्तर से निम्नामुख होकर भौतिकता बढ़ती है और चौथे परिक्रमा के चतुर्थ प्रजाति के मध्य में घुमावविंदु के बाद ऊर्ध्वमुख होकर भौतिकता कम होती है तथा आध्यातिमकता बढ़ती है। यह भी बताया गया है कि मनुष्य सात आयामी है तथा उसके सातों आयाम एक-एक कर विकसित होते हुए अंत में सभी परिपूर्ण होते हैं और तब मनुष्य का विकास पृथ्वी पर पूरा होता है। ऐसा चक्रीय विकास पृथ्वी की सात श्रृंखलाओं में से प्रत्येक पर क्रम से होता है।

गुह्य शिक्षण मनुष्यों के विकास पर डार्विनियन विकास-नियम के पूर्णतः विपरीत है, और अन्य प्रजातियों के संबंध में भी आंशिक रूप से।

विकास में बंदर तथा मनुष्य के बीच संबंध

विज्ञान में डार्विन के नियम के अनुसार मनुष्य का विकास बंदर से हुआ बताया गया है। थिऑसोफी में इसके उलट यह बताया जाता है कि बंदर मनुष्य की संतान है, बंदर पूर्व काल (तृतीय और चतुर्थ प्रजाति के समय) में नर मनुष्य द्वारा मादा जानवर के साथ पापमय संबंध बनाने से उत्पन्न हुआ था।

बल और ऊर्जा

विज्ञान द्वारा बताया जाता है कि आकाशीय पिंड गुरुत्वाकर्षण बल के द्वारा अपनी कक्षाओं में स्थित हैं। थिऑसोफी बताती है कि गुरुत्वाकर्षण बल का अस्तित्व ब्रह्माण्ड में नहीं है; सभी आकाशीय पिंड विद्युत-चुंबकीय विकर्षण (repulsion) तथा आकर्षण (attraction) के बलों से अपनी-अपनी कक्षा में बने रहते हैं; 'गुरुत्वाकर्षण' कहा जाने वाला बल पृथ्वी से ऊपर कुछ सीमित ऊंचाई तक ही काम करता है। गुप्त विद्याविद गुरुत्वाकर्षण में केवल सहानुभूति और सहज-विरोध, या आकर्षण और विकर्षण देखते हैं, जो हमारे पार्थिव स्तर पर भौतिक ध्रुवीयता के कारण होता है, और इसके प्रभाव के बाहर आध्यात्मिक कारणों से होता है।

प्रकाश और ऊष्मा, गतिमान अतीन्द्रिय अवस्था के पदार्थ के भूत या छाया हैं (SD I, 515)।

ऊष्मा और ठंड एक जीवन की ऊर्जा के रूप हैं।

फ़ोहत एक और सात है, और ब्रह्माण्डीय स्तर पर प्रकाश, गर्मी, ध्वनि, आसंजन (adhesion), आदि जैसी सभी अभिव्यक्तियों के पीछे "आत्मा" है, इसे एक जीवन कहें।

गुप्त विज्ञान, बिजली या उससे उत्पन्न होने वाली किसी भी शक्ति को भौतिक विज्ञान को ज्ञात किसी भी अवस्था में पदार्थ नहीं मानता है; इसे और अधिक स्पष्ट रूप से कहें तो, तथाकथित "बलों" में से कोई भी ठोस, गैस या तरल नहीं है। गुप्त विद्याविद को बिजली को तरल पदार्थ कहे जाने पर भी आपत्ति होगी – क्योंकि यह एक प्रभाव है, कारण नहीं। "बल" और "परमाणु" के मामले में भी यही बात है। गुप्त विद्याविद (occultists), प्रकृति की सभी शक्तियों को यथार्थ में, पदार्थ की अतीन्द्रिय (supersensuous) अवस्थाएं मानते हैं (SD I, 143 fn.)।

ब्रह्माण्डीय चुंबकत्व के सात रूपों को व्यावहारिक गुप्त विद्या में "सातकण" (Seven Radicals) कहते हैं, जिनकी सहयोगी और सक्रिय संतानें, अन्य ऊर्जाओं के अलावा, बिजली, चुंबकत्व, ध्वनि, प्रकाश, ऊष्मा, संशक्ति (cohesion), आदि हैं। गुप्त विज्ञान इन सभी को उनके छिपे हुए व्यवहार में अतीन्द्रिय प्रभावों के रूप में और इंद्रियों के संसार में वस्तुनिष्ठ घटनाओं के रूप में परिभाषित करता है (SD I, 145)।

गुप्त विद्या के अनुसार – सभी प्रकार के बलों – संशक्ति (cohesive), रासायनिक, उष्णता संबंधी (thermal), विद्युतीय और चुंबकीय आदि का स्रोत और *कारण* ऐथेर (Aether) है। गुह्य सिद्धांत में, ऐथेर सभी संभावित ऊर्जा का सारतत्त्व है, और यह निश्चित रूप से इस सार्वभौमिक एजेंट (कई *एजेंटों* से बना) से ही भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक संसार में ऊर्जा की सभी अभिव्यक्ति होती हैं (SD I, 508)।

एक प्रख्यात शिक्षाविद्, बटलरॉफ़, रसायनशास्त्री, को कहना पड़ा :

"बल क्या है? बल बस *गति की एक अवस्था का दूसरी अवस्था में गमन* है : बिजली का, ऊष्मा और प्रकाश में, ऊष्मा का ध्वनि या किसी

यांत्रिक कार्य में, और इसी तरह अन्य।... वे सभी सहसंबंध हैं, जैसा कि विज्ञान कहता है।... जब गति की निर्धारित मात्रा की एक अवस्था समाप्त हो जाती है, पूर्ववर्ती गति के समतुल्य गति की दूसरी अवस्था उसका स्थान ले लेती है, और इस तरह के परिवर्तन या सहसंबंध का परिणाम होता है – बल।....

इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस बल को भौतिकवाद हमारे चारों ओर मौजूद विविधता का कारण मानता है, वह वास्तविक रूप से केवल एक प्रभाव है, उस विविधता का परिणाम है। ऐसे दृष्टिकोण से बल गति का कारण नहीं है, बल्कि एक परिणाम है, जबकि उस बल या बलों का कारण पदार्थ या पदार्थ नहीं, बल्कि गति ही है... यदि बल गति का परिणाम है, तो यह समझ से बाहर हो जाता है कि क्यों उस *गति को पदार्थ का साक्षी बनना चाहिए* तथा आत्मा या आध्यात्मिक सार का नहीं। सच है, हमारी तर्क समझ किसी गतिशील वस्तु के बिना किसी गति की कल्पना नहीं कर सकती; लेकिन उस गतिमान वस्तु की प्रकृति या सार विज्ञान के लिए पूरी तरह से अज्ञात है; और ऐसे मामले में, अध्यात्मवादी को इसे "आत्मा" का श्रेय देने का उतना ही अधिकार है, जितना एक पदार्थवादी को रचनात्मक और सर्व-संभावित पदार्थ का। ऊर्जा संरक्षण का नियम, जैसा कि इस प्रकार देखा गया है, इस मामले में अपने दावों में नाजायज साबित होता है। 'महान हठधर्मिता' – *पदार्थ के बिना कोई बल नहीं और बल के बिना कोई पदार्थ नहीं* – जमीन पर गिर जाता है, और पूरी तरह से उस गंभीर महत्व को खो देता है जिसके साथ पदार्थवाद ने इसे बताने की कोशिश की है। बल की अवधारणा अभी भी पदार्थ का कोई विचार नहीं देती है और इसमें "सभी स्रोतों का स्रोत" देखने के लिए हमें किसी ढंग से विवश नहीं करती है" (SD I, 517-518)।

गुह्य सिद्धांत ऊर्जा के एक पूर्वगामी रूप, जिसका उतार और चढ़ाव, विश्राम और क्रियाविधि के आवधिक चक्र होते हैं, के अस्तित्व को सिखाता है (SD I, 625)।

भविष्य

थिऑसोफी के वर्णनों में भविष्य में विकसित होने वाली उन्नत प्रजातियों तथा उनकी विशेषताएं, वर्तमान पांच इंद्रियों के अतिरिक्त दो अन्य इंद्रियों (sense Organs), प्रजनन-विधियों में बदलाव तथा एथेरिय बल (Etheric force) आदि, सभी चीजों जैसे मनुष्य, और सभ्यताओं के चक्रीय विकास, तथा मौसम के चक्रीय परिवर्तन में 25868 वर्षों के नाक्षत्र वर्ष (sidereal year) आदि, के बारे में भी बताया गया है। इन मामलों पर अभी विज्ञान लगभग चुप है।

वैज्ञानिक अनुसंधान दिव्य प्रज्ञा की ओर पहुंच रहे हैं

एच. पी. ब्लावत्सकी ने *दि सिक्रेट डॉक्टरीन* पुस्तक में कई विचारकों तथा वैज्ञानिकों के कथनों को उद्धृत किया है – जैसे एक रूसी गहन विचारक, एन.एन. स्ट्रैचॉफ का यह कथन, "*जैविक जीवन (organic life) का सही कारण आत्मा की वस्तुगत (substantial) रूपों में व्यक्त होने, स्वयं को वस्तुगत वास्तविकता में ढकने की प्रवृत्ति है। यह उच्चतम रूप है जिसमें निम्नतम की पूरी व्याख्या होती है, इसका उल्टा कभी नहीं होता।*" फिर वह निष्कर्ष देती हैं :

"यह इस रहस्यमय, अभिन्न रूप से कार्य करने वाले और संगठित करने वाले तत्त्व की स्व-चैतन्य तथा आंतरिक विषय, जिसे हम इगो (Ego) और सामान्य संसार जीवात्मा कहता है, के साथ पहचान को स्वीकार करना

है। इस प्रकार धीरे-धीरे, सभी सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक और विचारक अपने सामान्य निष्कर्षों में गुप्त विद्याविदों के निकट पहुंच रहे हैं" (SD II, 654)।

18वीं शताब्दी के विज्ञान का ठोस भौतिकवाद विलुप्त हो गया है, इसके भाग्यवाद का क्षय हो रहा है। वस्तुनिष्ट भौतिकता का स्थान आत्मनिष्ट चेतना ले रही है। क्वांटम विज्ञान कहता है कि प्रत्येक वस्तु चेतना में आधारित है। सापेक्षता के सिद्धांत का एक आयाम व्याख्या करता है कि विश्व में किन्हीं दो बिन्दुओं के बीच की दूरी उस संदर्भित बॉडी, जो उनको ले जा रही है, की गति के वेग के अनुसार बदलती रहती है। उसी प्रकार समय के सेकन्ड का मूल्य, घड़ी को ले जा रही वस्तु के वेग के साथ बढ़ता हुआ दिखाया गया है, प्रकाश के वेग की सीमा तक। दो बिन्दुओं के बीच की दूरी कम से कम होती जाती है जैसे जैसे गति तेज होती है, तब तक जब प्रकाश की गति के बराबर वेग पर उनके बीच की दूरी कुछ नहीं रह जाती है। प्रकाश के वेग पर माप सिकुड़कर समाप्त हो जाता है और दोनो बिन्दु अलग नहीं रह जाते हैं, बल्कि दोनो समरूप तथा सार में एक हो जाते हैं। समकालीनता (simultaneity) के साथ विभेद समाप्त हो जाता है। इस प्रकार सापेक्षता के दृष्टिकोण से पृथक्करण एक भ्रम है। जैसा हम जानते है कि प्रकाश का वेग प्राप्त होने पर स्थान लुप्त हो जाता है। सेकन्ड का समय-अंतराल भी बढ़ता है जबतक कि प्रकाश के वेग पर यह समय शाश्वता को अलिंगित करता है और एक 'शाश्वत-अब' को व्यक्त करता है। यहां हमें समाधि की एक गणितीय समझ प्राप्त हो जाने जैसा लगेगा, जहां द्रष्टा ध्यान में दिव्य से एकीकरण का मनन करते हुए निर्वाणिक समरूपता का अनुभव करता है, क्योंकि इस समकालीनता या एकीकरण के अंतर्गत मनुष्य वस्तुनिष्ट विश्व के सारे विभेद (differentiations) है और वह सामयिक घटनाओं की प्रत्याशा कर सकता है, अर्थात वह सर्वज्ञ है; इससे अधिक उसकी चेतना का

क्षण सभी क्षणों को समझता है, अर्थात वह ब्रह्माण्डीय चेतना से प्रदात्त हो गया है।

अब तथाकथित आत्मनिष्ट अनुभव और तथाकथित वस्तुनिष्ट वास्तविकता के बीच अंतराल संकरा हो रहा है, धन्यवाद क्वांटम विज्ञान को, जिसमें प्रेक्षक को, जिसका प्रेक्षण किया जा रहा है उससे अलग नहीं किया जा सकता।

क्वांटम मैकेनिक्स के संस्थापक, एरविन स्क्रोडिंगर, ने पदार्थ की प्रकृति में मर्मज्ञ होकर एकत्व का अनुभव किया।

एकीकृत क्षेत्र सिद्धांत (Unified Field Theory), जो गुरुत्वाकर्षण, सभी विद्युत-चुम्बकीय शक्तियों और न्यूक्लियर उर्जा को एक साथ बांधता है, यह लक्षित करता है कि आइंस्टीन से प्रारम्भ करके अन्य वैज्ञानिक इस एकीकृत शक्ति में विश्वास को महत्व देते थे, जैसा कि गुह्य दर्शन भी बताता है।

आज वैज्ञानिक संसार के ऐसे चित्र की खोज में हैं जो एकीकृत क्षेत्र सिद्धांत से भी अधिक एकीकृत या अविभाज्य हो। 'ग्रांड यूनीफाइंग थिअरीज' या GUT या सुपर जीयूटी एक सुसंगत विषय (coherent theme) पर पहुंच रहे हैं जो न केवल सारी शक्तियों और प्रकृति के क्षेत्रों को संबंधित कर सकें, बल्कि यह भी लक्षित कर सकें कि उन सभी का साझा स्रोत एक है। क्वांटम भौतिक विज्ञानी 'प्रत्येक चीज का सिद्धांत' (Theory of Everything) या TOE के बनाने का प्रयास कर रहे हैं, एक अकेला समीकरण जो संसार के सारे नियमों का वर्णन कर सके। किन्तु जैसा ब्रह्माण्ड-वैज्ञानिक एरविन लास्जलो कहते हैं, 'स्ट्रिंग सिद्धांत के TOEs एकीकृत विश्व चित्र के खोज के निश्चित उत्तर नहीं हैं, क्योंकि वास्तव में वे

प्रत्येक वस्तु के सिद्धांत नहीं हैं – वे अधिक से अधिक प्रत्येक भौतिक वस्तु के सिद्धांत हो सकते हैं।' वे जीवन, मन, और संस्कृति, जो संसार की वास्तविकता के अंग हैं, का समाधान नहीं करते हैं।

अंतर्भेदन की तथा वैश्विक अंतर्संबंध की अवधारणा जो दिव्य प्रज्ञा के दर्शन में पायी जाती है, वह आधुनिक परिप्रेक्ष्य में 'होलिज्म' (Holism) कहे जाने वाले सिद्धांत में प्रतिध्वनित होती है। होलॉन्स और होलिज्म की अवधारणा वर्तमान संसार के विविध क्षेत्रों में चर्चित है। सर्वप्रथम यह एक दार्शनिक-राजनेता जन स्मट्स द्वारा वर्ष 1920 में एक सार्वभौमिक प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया गया था। तब से एक प्रसिद्ध जीव वैज्ञानिक लुडविग वॉन बर्टलैन्टैफी ने इसे विकसित किया और बेल्जियम के नोबेल पुरस्कार विजेता इल्या प्रिगॉजीन ने इसमें जीवित वस्तुओं में स्व-संगठन का सिद्धांत सम्मिलित कर इसे और आगे बढ़ाया। वर्तमान में होलिज्म (holism) सामान्य हो चुका है। अनेक क्षेत्रों में इसका प्रयोग हो रहा है, सबसे अधिक जाना माना प्रयोग स्वास्थ्य के क्षेत्र में है। होलिस्टिक चिकित्सा-पद्धति रोगी के पूर्ण अभिविन्यास (total orientation) को ध्यान में रखती है, न कि केवल शरीर के उस भाग पर जहां बीमारी है।

प्रिंसटन विश्वविद्यालय के रोजर डी नेल्सन ने अपने वैश्विक चेतना परियोजना (global consciousness project) के उपसंहार में कहा है कि मानव अपने मन से क्रमरहित संख्या (random number)/घटना-जनक (event generators) के परिणाम को प्रभावित कर सकता है।

यदि एक तरफ, शिक्षित लोगों का एक बड़ा हिस्सा नास्तिकता और संशयवाद में भाग रहा है, वहीं दूसरी तरफ हम रहस्यवाद की धारा को अपना मार्ग विज्ञान में बलपूर्वक डालते हुए प्रत्यक्ष पाते हैं।

विज्ञान एक आध्यात्मिक मार्ग के रूप में

कुछ महानतम वैज्ञानिकों के लिये विज्ञान एक आध्यात्मिक मार्ग, दिव्य से जुड़ने और उसकी सेवा का एक पथ रहा है। सही समझ कर और उसे उन्मुख कर के यह फिर से वैसा हो सकता है। सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिकों ने विज्ञान को एक पवित्र कार्य के रूप में देखा है, एक क्रिया जो ' पुरातन एक के रहस्यों' को दे सके, जैसा कि आइंस्टीन ने कहा था। उनके अपने शब्दों में, केपलर ऐसे वैज्ञानिक थे – और उस विचार के विस्तार द्वारा प्रत्येक वैज्ञानिक सम्भावित में, 'प्रकृति के मंदिर में ईश्वर का पुजारी' है।

एक अवसर पर मैक्स प्लैंक के उच्च स्तरीय वैज्ञानिक कार्य का संदर्भ देते हुए, आइंस्टीन ने कहा था, "मन की वह स्थिति जो मनुष्य को इस प्रकार के कार्य करने में सक्षम बनाता है, धार्मिक पूजा करने वाले या प्रेमी के मन की तरह है।" "यह निश्चित है कि उच्चतर स्तर के सभी वैज्ञानिक कार्यों के पीछे धार्मिक भावना वाली तार्किकता या बुद्धिमत्ता के समान संसार की धारणा होती है।" यहां आइंस्टीन ने वाक्यांश 'धार्मिक भावना' का प्रयोग किसी सांप्रदायिक भाव में नहीं किया है। उनका अर्थ है श्रद्धायुक्त आश्चर्य, रहस्य, सूक्ष्मता और विशालता की भावनाएं – ठीक वही भावनायें जो दिव्य की उपस्थिति में किसी व्यक्ति के अन्दर होती हैं। एक अन्य संदर्भ में उन्होंने इसे 'कॉस्मिक धार्मिक भावना' कहा है जिसे वह 'वैज्ञानिक अनुसंधान के लिये सबसे अधिक शक्तिशाली और सर्वोत्तम इरादा' माने। "यह एक हर्षयुक्त विस्मय की भावना, प्राकृतिक नियमों की समरसता पर है, जो एक ऐसी श्रेष्ठता की समझ को प्रकट करती है जिसकी तुलना में मानवता का सभी क्रमबद्ध विचार और क्रिया एक अत्यंत नगण्य परावर्तन है। ... सर्वाधिक सुन्दर वस्तु जिसका हम अनुभव कर सकते हैं, रहस्यमय है। यही, सब सच्ची कला और विज्ञान का स्रोत है। यह जानना कि जो हमारे लिए

अभेद्य है वह वास्तव में अस्तित्व में है जो उच्चतम प्रज्ञा तथा दीप्तिमान सौंदर्य के रूप में व्यक्त होता है और जिसे हमारे सुस्त संवेदी अंग केवल अत्यंत प्राथमिक रूप में ही समझ सकते हैं – यह ज्ञान और यह भावना सच्ची धार्मिकता के केन्द्र पर है। इस भाव में और केवल इसी भाव में, मैं सच्चे धार्मिक व्यक्ति के वर्ग से संबंधित हूं" (*Albert Einstein, Ideas and Opinions,* 71-72)।

आइंस्टीन की एक टिप्पणी है कि 'धर्म के बिना विज्ञान लंगड़ा है और विज्ञान के बिना धर्म अंधा है।' (*Albert Einstein, Ideas and Opinions,* 46)। दूसरी शताब्दी (BCE) में इसी के समानान्तर टिप्पणी ईश्वरकृष्ण ने *सांख्यकारिका* में किया है जिसमें वह कहते हैं 'प्रकृति के बिना पुरुष लंगड़ा है और पुरुष के बिना प्रकृति अंधी है'।

सांख्य दर्शन में पुरुष (आत्मा) की किसी शक्तिहीन वस्तु से तुलना की गयी है जब तक कि वह प्रकृति (पदार्थ) के कंघों पर सवार हो कर नहीं चलता है, जो (प्रकृति) अकेली छोड़ दिए जाने पर संज्ञाहीन है। किन्तु गुप्त दर्शन में वे दोनो क्रम से देखे जाते हैं (SD I, 247)।

सभी ऋषियों ने कहा है कि सही अंतर्दृष्टि, गुलाब की सुगंध की तरह स्वभावतः करुणा और प्रेम के रूप मे, पुष्पित होती है। इसलिये हम आइंस्टीन या ईश्वरकृष्ण के कथन को फिर से बना सकते हैं, "करुणापूर्ण कार्य के बिना अंतर्दृष्टि लंगड़ी है और प्रज्ञा के बिना करुणा अंधी है"।

दोनो, सीधी धार्मिक अतीन्द्रिय अनुभूति तथा तार्किक वैज्ञानिक सैद्धांतीकरण और प्रयोग, तथा संबंधित दार्शनिक अमूर्तीकरण, सिद्धांत रूप में एक ही व्यक्ति में रह सकते और सामंजस्य में हो सकते हैं – भले ही, इस प्रकार का वास्तविक उदाहरण कितना ही विरल क्यों न हों। वास्तव में

आइंस्टीन के जीवन और क्रियाकलापों में एक व्यक्ति इसी प्रकार की सामंजस्यता देख सकता है। उनके लिए और अनेक महान वैज्ञानिकों के लिए, उनके विज्ञान द्वारा दिव्य का अनुसंधान या सत्यापन नहीं किया गया था। दिव्य ने उन्हें बुलाया, उनके जीवन में व्याप्त हुआ और उनके वैज्ञानिक क्रियाकलाप को महत्व दिया।

तब हम कह सकते हैं कि 'वैज्ञानिक ज्ञान के बिना धर्म निष्प्रभावी है, किन्तु धार्मिक अनुभूति के बिना विज्ञान महत्वहीन है" (*Science and the Sacred*, पृ. 139, 140 – Ravi Ravindra)।

सर डब्ल्यू ग्रोव ने भविष्यवाणी की तरह टिप्पड़ी किया था कि वह दिन तेजी से आ रहा है जब यह स्वीकार किया जाएगा कि वे "शक्तियां" जिनको हम जानते हैं, वे उन वास्तिकताओं की दृश्य अभिव्यक्तियां मात्र हैं जिनके बारे में हम कुछ भी नहीं जानते – किन्तु जो पुरातनकाल के लोगों द्वारा जानी जाती थीं और उनके द्वारा उपासित होती थी। ग्रोव ने एक उससे भी अधिक विचारोत्तेजक एक टिप्पणी किया है कि, "विज्ञान को न तो कोई कामना, न ही पूर्वाग्रह होना चाहिये। सत्य ही उसका एकमात्र लक्ष्य होना चाहिये" (SD I, 509)।

उपसंहार

प्रकृति के रहस्यों को उच्चतम सिद्धों में से भी बहुत कम लोग ही जानते हैं। प्रकृति की कार्यशालाओं में तथ्यों और प्रक्रियाओं को एक-एक करके, सटीक विज्ञान में अपना रास्ता पाने की अनुमति दी जाती है, जबकि विरले व्यक्तियों को इसके रहस्यों को उजागर करने में रहस्यमय मदद दी जाती है। प्रजातीय विकास से संबंधित महान चक्रों के अंत में ऐसी घटनाएं साधारणतया होती हैं (SD I, 612)।

महाचोहान ने अपने 1882 के पत्र में कहा, "जिस सिद्धांत को हम जारी कर रहे हैं वही सही सिद्धांत है, उसे आधार देने वाले ऐसे साक्ष्य को देने के लिए हम तैयारी कर रहे हैं जिससे प्रत्येक अन्य सत्यों की तरह यह भी अंत में अवश्य विजयी हो। फिर भी यह अत्यंत आवश्यक है कि इसके सिद्धांतों, उनके लिये जो जानते हैं ये स्पष्ट सत्य हैं, को प्रयोग में लाकर तथा आधुनिक सटीक विज्ञान द्वारा प्रस्तुत साक्ष्यों द्वारा पुष्टि करके सीधा निष्कर्ष निकालते हुए, धीरे-धीरे लागू किया जाए (महात्मा के पत्र – Appendix II, पृ. 477)।

थिऑसोफिकल सोसाइटी विचार की स्वतंत्रता को बढ़ावा देती है और अपने सदस्यों को वैज्ञानिक, दार्शनिक या धार्मिक सभी मामलों पर अपने निर्णय और विवेक का उपयोग करने के लिए प्रोत्साहित करती है। कई वैज्ञानिकों ने थिऑसोफिकल विचारों में प्रेरणा और अंतर्दृष्टि पाया है, और सोसायटी के सदस्यों में हमेशा वैज्ञानिक भी शामिल रहे हैं, जिनमें से कुछ अपने क्षेत्र में काफी प्रमुख हैं। वर्ष 1875 में सोसायटी की स्थापना के बाद से, कई थिऑसोफिस्टों ने वैज्ञानिक मामलों के बारे में अपने विचार व्यक्त किए हैं। उनमें से कुछ विचार समय की कसौटी पर खरे उतरे हैं और यहां तक कि वर्तमान वैज्ञानिक ज्ञान के प्रति भी पूर्वानुमानित साबित हुए हैं। बाद की खोजों से अपुष्ट अन्य विचारों को वर्तमान ज्ञान द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया गया है।

एच. पी. ब्लावत्सकी से लेकर प्रमुख थिऑसोफिस्टों, विशेष रूप से एनी बेसेंट ने मूल प्रस्तावों, जो संसार के थिऑसोफिकल दृष्टिकोण की स्वयंसिद्ध नींव हैं, के आदर्शों को जीवित रखते हुए निरंतर अनुसंधान की आवश्यकता पर बल दिया है। हमारे चारों ओर के संसार और हमारे भीतर के संसार के बारे में तथ्यों को खोज के उचित तरीकों से खोजा जाना चाहिए

और समझने योग्य तरीकों से लगातार सुधार किया जाना चाहिए। इस प्रकार थिऑसोफिस्ट और वैज्ञानिक समान रूप से इस आदर्श वाक्य को साझा करते हैं – "सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है" (*Theosophy and Science* – अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया में थिऑसोफिकल सोसाइटी द्वारा प्रकाशित पैम्फलेट)।

प्रार्थना

सामान्य

लगभग सभी धर्मों के बाह्य (exoteric) रूपों में प्रार्थनाओं का प्रमुख स्थान है। इनमें से कुछ का प्रत्युत्तर मिलता है, बहुतों का नहीं। कुछ लोग प्रार्थना को सशक्त स्रोत मानते हैं तो कुछ अन्य लोग मात्र अंधविश्वास। 'प्रार्थना' शब्द का प्रयोग चेतना की विभिन्न गतिविधियों को सम्मिलित करने के लिए किया जाता है। सामान्य मनुष्य की प्रार्थना कुछ प्राप्त करने या कुछ से छुटकारा पाने की इच्छा की भावनाओं के साथ होती है। कभी-कभी ऐसी इच्छा फलित होती देखी जाती है, किंतु प्रायः ऐसा नहीं होता।

जन-समूह की कई धार्मिक प्रथाएं जब गुह्य (esoteric) या गहरे पहलू से देखी जाती हैं तो वास्तविकता के विपरीत पाई जाती हैं।

गुह्य साधकों का यह कर्त्तव्य है कि, जीवन का सत्य के साथ सामना करने के लिए, वे त्रुटि और पाखंड को उजागर करें, व्यक्तिगत आलोचना के रूप में नहीं बल्कि गलत बयानों के खिलाफ तथ्यों के रूप में। ... सत्य के संरक्षक इसे झूठ, अज्ञानता और त्रुटि के सामने व्यक्त करते हैं, और गलत धारणाओं को सुधारने के लिए हर संभव अवसर का उपयोग करते हैं। थिऑसोफी उस उद्देश्य के लिए दुनिया में है (रॉबेट क्रॉस्बी के उद्धरण की पुस्तक, पृ. 34, अप्रैल 25)।

उपरोक्त उद्देश्य के लिए हम प्रार्थना के बारे में कुछ अत्यंत प्रासंगिक बिंदु देखें जैसे – कुछ उच्च आध्यात्मिक शिक्षाएं प्रार्थना के बारे में क्या कहती हैं?, प्रार्थना की प्रकृति, इसके प्रकार, विचारों का तंत्र, कर्म के नियम से प्रार्थना कैसे संबंधित है?, क्यों सामान्य रूप से समझी प्रार्थना वांछनीय

नहीं है, विशेष रूप से उन लोगों के लिए जो आध्यात्मिक जीवन का अभ्यास कर रहे हैं?, आदि, आदि।

इसके लिए हम थिऑसोफिकल साहित्य में कुछ कथनों /वर्णनों को देखें।

थिऑसोफिकल साहित्य, तथा कुछ अन्य दर्शन के साहित्य से कुछ संदर्भित कथन/वर्णन

आइसिस अन्वेल्ड

सिद्ध मनुष्य को किसी बाहरी सहायता की आवश्यकता नहीं है – उसकी दृढ इच्छा शक्ति (will power) का सहज प्रयास ही सर्व पर्याप्त है।

अथर्ववेद सिखाता है कि ऐसी दृढ इच्छा शक्ति का प्रयोग प्रार्थना और उसकी तात्कालिक प्रतिउत्तर का उच्चतम रूप है। इच्छा करना आकांक्षा की तीव्रता के अनुपात में साकार होना है; और वह, अपनी पारी में, आंतरिक शुद्धता से मापा जाता है (II, 592)।

दि सिक्रेट डॉक्टरीन

गुह्य दर्शन में देवताओं, प्रार्थना आदि की सभी अवधारणाओं को भ्रम (*भ्रांतिदर्शन*) माना जाता है।

बुद्धिमत्ताओं (intelligences) या ईश्वर/देवताओं की पूजा नहीं करनी है क्योंकि वे सभी क्षणभंगुर हैं। अपने हृदय में केवल परिपूर्ण (परब्रह्म) की आराधना (ध्यान) करना है, हमारे सत्कर्म ही पुजारी और हमारे बुरे विचार/भावनाएं आदि का त्याग होना चाहिए।

ध्यानी-चोहान अपने चरित्र में द्वैत हैं; (क) पदार्थ में निहित अतार्किक *पाशविक ऊर्जा*, और (ख) समझदार जीवात्मा या ब्रह्माण्डीय चेतना, जो उस ऊर्जा का निर्देशन और मार्गदर्शन करता है, और जो *वैश्विक मन के आदर्श विचार को प्रतिबिंबित करते हुए ध्यानी-चोहानिक विचार* है। इसके परिणामस्वरूप मन्वंतर की अवधि में पृथ्वी पर भौतिक अभिव्यक्तियों और *नैतिक प्रभावों* की एक सतत श्रृंखला उत्पन्न होती है, यह संपूर्ण कर्म के अधीन होता है। चूंकि प्रक्रिया हमेशा परिपूर्ण नहीं होती; और चूंकि, पर्दे के पीछे एक मार्गदर्शक समझ के चाहे कितने ही प्रमाण क्यों न प्रदर्शित हों, यह अभी भी अंतराल और त्रुटियां दिखाता है और यहां तक कि प्रायः प्रत्यक्ष विफलताओं में परिणत होता है – इसलिए, न तो सामूहिक देव समूह, और न ही कोई भी अलग देव – अलग कार्यशील शक्तियां, दैवीय सम्मान या पूजा के लिए उचित पात्र हैं। हालांकि, ये सभी मानवता की कृतज्ञ श्रद्धा के हकदार हैं, और चक्रीय कार्य में मनुष्य को अपनी सर्वोत्तम क्षमता से *प्रकृति के साथ सहकर्मी* बनकर, विचारों के दैवी विकास में सहायता करने के लिए हमेशा प्रयासरत रहना चाहिए। सर्वदा-अज्ञेय कारण, सभी कारणों के *करणविहीन* कारण मात्र का ही हमारे हृदय की पवित्र और सर्वदा अछूती भूमि पर एक मंदिर और वेदी होनी चाहिए – जो हमारे आध्यात्मिक चेतना की "शांत छोटी आवाज" के अलावा – अदृश्य, अमूर्त, अवर्णित है। जो लोग इसके सामने पूजा करते हैं, उन्हें अपनी जीवात्मा के मौन और पवित्र एकांत में ही ऐसा करना चाहिए; अपनी आत्मा को अपने तथा *वैश्विक आत्मा* के बीच एकमात्र मध्यस्थ बनाते हुए, अपने अच्छे कार्यों (सत्कर्मों) को एकमात्र पुजारी बनाकर, और *उपस्थिति* के लिए अपने पापी इरादों को एकमात्र दृश्यमान और वस्तुनिष्ठ बलि का शिकार बनाते हुए (I, 280)।

"जब तुम प्रार्थना करो, तो पाखंडियों के समान नहीं होगे ... परन्तु अपनी भीतरी कोठरी में प्रवेश करो, और अपना द्वार बंद करके अपने पिता,

जो गुप्त में है, की प्रार्थना करो" (Matt.vi, 6)। हमारे पिता हमारे भीतर "गुप्त रूप से", हमारे 7वें तत्त्व, हमारी जीवात्मा-अनुभूति के "आंतरिक कक्ष" में हैं। यीशु कहते हैं, "स्वर्ग का राज्य" और ईश्वर का राज्य "हमारे *भीतर है*," *बाहर नहीं* (I, 280 fn.)।

प्रत्येक स्वार्थपूर्ण "त्याग" या सहायता के लिए ईश्वर से प्रार्थना *काले जादू के कृत्य से बेहतर नहीं* है (I, 416)।

प्रार्थना एक उत्थानकारी कार्य है जब अन्य लोगों की भलाई के लिए हमारे हृदय से निकलने वाली एक प्रबल इच्छा, एक तीव्र भावना होती है, और जब यह किसी भी स्वार्थी, व्यक्तिगत वस्तु से पूर्णतया पृथक होती है (*A Blavatsky Quotation Book*, पृ. 66, मई 11; SDIII, 51)।

दि की टू थिऑसोफी

इस पुस्तक के अध्याय 5 (ईश्वर और प्रार्थना) में प्रार्थना के बारे में प्रश्नकर्ता के कुछ प्रश्नों के उत्तर थिऑसोफिस्ट द्वारा दिए गए हैं, जैसे:

प्र. क्या आप प्रार्थना में विश्वास करते हैं, और क्या आप कभी प्रार्थना करते हैं?
उ. हम प्रार्थना नहीं करते हैं। *बात करने के बजाय हम कार्य करते हैं।*

प्र. क्या आप परम तत्त्व को भी कोई प्रार्थना अर्पित नहीं करते हैं ?
उ. हमें क्यों करना चाहिए? हम अच्छी तरह व्यस्त लोग हैं, इसलिए एक शुद्ध अमूर्त को मौखिक प्रार्थना संबोधित करने में समय नहीं खो सकते। अज्ञेय केवल अपने हिस्सों में एक दूसरे से संबंधों के लिए सक्षम है, किंतु किसी सीमित संबंधों के बारे में अनास्तित्व है। दृश्यमान विश्व अपने अस्तित्व और घटनाओं के लिए अपने परस्पर क्रियाशील रुपों तथा उनके नियमों पर निर्भर

है, न की प्रार्थना तथा प्रार्थनाओं पर।

प्र. क्या आप प्रार्थना की प्रभावकारिता में बिल्कुल विश्वास नहीं करते?
उ. यदि आप प्रार्थना का अर्थ पत्र पाने वाले की तरह एक अज्ञेय ईश्वर को बहिर्मुख याचिका मानते हैं, तो कई शब्दों में ऐसी सिखाई गई बाह्य रूप से दोहराई गई प्रार्थना में नहीं।

प्र. क्या किसी अन्य प्रकार की प्रार्थना होती है ?
उ. अत्यंत निश्चित रूप से; हम इसे संकल्प-प्रार्थना या इच्छा-प्रार्थना (WILL-PRAYER) कहते हैं, और बल्कि यह एक याचिका के बजाय अंतरीय आदेश है।

प्र. तब आप किसकी प्रार्थना करते हैं, जब ऐसा करते हैं ?
उ. "स्वर्ग में अपने पिता" की – इसके गुह्य अर्थ में।

प्र. क्या वह धर्मशास्त्र में दी हुई प्रार्थना से भिन्न है ?
उ. पूर्णतया भिन्न है। एक गुप्त विद्याविद या थिऑसोफिस्ट अपनी प्रार्थना को *अपने पिता जो गुप्त में हैं* (मैथ्यू, अ. vi. 6), को ही संबोधित करता है, न कि ब्रह्माण्ड से बाहर एक और इसलिए सीमित ईश्वर को; और वह पिता स्वयं मनुष्य में है।

आगे बताया गया है कि, ऐसी प्रार्थना कोई याचिका या निवेदन नहीं है। बल्कि एक रहस्य है; एक गुप्त प्रक्रिया जिसके द्वारा सीमित और संस्कारग्रस्त (conditioned) विचार और इच्छाएं, परम आत्मा, जो संस्कारमुक्त (unconditioned) है, द्वारा आत्मसात किए जाने में असमर्थ हैं, आध्यात्मिक संकल्पो और संकल्प में परिवर्तित हो जाते हैं; ऐसी प्रक्रिया "आध्यात्मिक रूपांतरण" कहलाती है। हमारी उत्कट आकांक्षाों की तीव्रता,

प्रार्थना को "दार्शनिक का पत्थर" या जो सीसे को शुद्ध स्वर्ण में रूपांतरित करता है (पारस पत्थर), में बदल देती है। केवल समरूप सार, हमारी "संकल्प-प्रार्थना", हमारी इच्छाओं के अनुसार प्रभाव उत्पन्न करते हुए, सक्रिय या रचनात्मक बल बन जाती है। संकल्प-प्रार्थना (Will-Power) एक जीवंत शक्ति बन जाती है (थिऑसोफी कंपनी द्वारा प्रकाशित पुस्तक, पृ. 67-68)।

प्रार्थना के कई अर्थ होते हैं। इसका अर्थ केवल निवेदन या याचना करना नहीं है। प्राचीन काल के समान इसका उद्देश्य ईश आह्वान या मंत्रयोग था। प्रार्थना एक आवेदन भी हो सकता है चाहे अभिशाप या अनिष्ट के लिए हो अथवा कल्याण के लिए। अधिकांश लोग तो अत्यधिक स्वार्थी हैं और केवल अपने लिए ही प्रार्थना करते हैं तथा मांगते हैं की उन्हें "रोज की रोटी" मिले, इसके बजाय कि वे इसके लिए परिश्रम करें। वे ईश्वर से याचना करते हैं कि वह उन्हें 'प्रलोभन' की ओर न ले जाएं तथा बुराई से मुक्त कर दे। परिणाम स्वरूप प्रार्थना को आज जिस रूप में समझा जाता है, उसके दो अनिष्टकारी परिणाम होते हैं; (1) इससे मनुष्य में आत्मनिर्भरता समाप्त हो जाती है। (2) उसकी स्वभाव-जन्य स्वार्थपरता तथा अहं भावना और भी भयंकर रूप से बढ़ जाती है। हम पवित्र संसर्ग (communion) और अपने "गुप्त रूप से पिता" के साथ मिलकर कार्य करने में विश्वास करते हैं; और दुर्लभ क्षणों में अपने उच्चतर जीवात्मा (आत्मा) का वैश्विक सार (परमात्मा) के साथ संयुक्त होने पर परमानंद में, जिस अवस्था को जीवन की अवधि में समाधि तथा मृत्यु-पश्चात निर्वाण कहते हैं। हम सृजित सीमित प्राणियों - अर्थात, देवताओं, संतों, देवदूतों, आदि की प्रार्थना करने से इनकार करते हैं, क्योंकि हम इसे मूर्ति-पूजा मानते हैं। हम पहले वर्णित कारणों से परम (ABSOLUTE) की प्रार्थना नहीं कर सकते; इसलिए, हम निष्फल और व्यर्थ प्रार्थना को गुणोत्कृष्ट (meritorious) और कल्याणकारी कार्यों से

प्रतिस्थापित करने का प्रयास करते हैं (ibid. पृ. 65-70)। ... हमें केवल उसी ईश्वर को मानना है और उसकी प्रार्थना करनी है, या बल्कि उस ईश्वर की आत्मा के साथ एकता में कार्य करना है, जिस ईश्वर का मंदिर हमारा शरीर है, तथा जिसका उसमें निवास है (ibid. पृ. 71)।

प्रैक्टिकल अकल्टिज़्म - एच. पी. बी.

सच्ची प्रार्थना, हमारे दैनिक जीवन और कार्यों में सभी पवित्र चीजों को हमारे स्वयं के लिए प्रयोग करने, साथ ही उनके प्रभाव को बलवान बनाने और हमारे जीवन को बेहतर और उदार बनाने की अत्यंत हार्दिक और तीव्र इच्छा के साथ, ताकि उनके बारे में कुछ ज्ञान हमें प्रदान हो सके, का चिंतन है। ऐसे सभी विचारों को सर्वोच्च की चेतना और दिव्य सार, जिससे सभी चीजें उत्पन्न हुई हैं, के साथ निकटता से परस्पर मिलना चाहिए (*दैनिक जीवन के लिए कुछ व्यावहारिक सुझाव - भाग V*, पृ. 94)।

महात्मा के पत्र

महात्मा के पत्रों में भी कई संदर्भों में इस विषय से सुसंगत बिंदु दिखते हैं जैसे :

मानवता एक विशाल "अनाथ" (Orphan) है। ... इसने सर्वदा पृथक्करण और उपेक्षा में देवताओं को विकसित किया है, जिन देवों की ओर "यह (मानवता) सहायता के लिए रोती है, किंतु सुनी नहीं जाती !" इस प्रकार मनुष्य के लिए केवल मनुष्य में ही आशा है (महात्मा का ए. पी. सिनेट को पत्र cr. edi., सं. 15, पृ. 49)।

धर्मशास्त्रियों (Theologians) का ईश्वर केवल एक काल्पनिक

शक्ति है – एक ऐसी शक्ति जिसने अभी तक कभी भी स्वयं को व्यक्त नहीं किया है। हमारा मुख्य उद्देश्य मानवता को इस दुःस्वप्न से मुक्ति दिलाना है, मनुष्य को सदगुण केवल उसके लिए ही सिखाना है, और धर्मशास्त्रीय बैसाखी पर निर्भर होने के बजाय स्वयं पर भरोसा करते हुए जीवन में चलना है, जो (धर्मशास्त्रीय बैसाखी) अनगिनत युगों से लगभग सभी मानवीय दुखों का प्रत्यक्ष कारण था (ibid 88, पृ. 270)।

मनुष्य की लगभग दो-तिहाई बुराइयों का सबसे बड़ा, मुख्य कारण जो मानवता को परेशान कर रहा है, जब से वह कारण एक शक्ति बन गया है, वह धर्म है जो किसी भी रूप में और किसी भी राष्ट्र में हो। यह पुजारी जाति, पुरोहित वर्ग और चर्च है; यह उन भ्रमों में है जिन्हें मनुष्य पवित्र मानता है, कि उसे उस असंख्य बुराइयों के स्रोत की खोज करनी है जो मानवता का महान अभिशाप है और जो लगभग मानव जाति को अभिभूत कर देता है। अज्ञानता ने देवताओं को बनाया और धूर्तों ने अवसर का लाभ उठाया। ... यह ईश्वर और देवताओं में विश्वास है जो दो-तिहाई मानवता को उन मुट्ठी भर लोगों का गुलाम बनाता है जो उन्हें बचाने के झूठे बहाने के तहत धोखा देते हैं (*ibid* 88, 274)।

एसोटेरिक क्रिश्चियनिटी (Esoteric Christianity) – एनी बेसेंट

प्रार्थना के प्रकार

प्रार्थनाओं को हम मुख्यतः तीन प्रकार के मान सकते हैं :

1. प्रार्थनाएं जो निश्चित सांसारिक लाभों के लिए, भौतिक

आवश्यकताओं की आपूर्ति, जैसे –भोजन, वस्त्र, धन, रोजगार, व्यवसाय या परीक्षा में सफलता, बीमारी से मुक्ति के लिए आवेदन के रूप में जाती हैं। इनको वर्ग 'क' में रखें।

2. नैतिक और बौद्धिक कठिनाइयों में मदद तथा आध्यात्मिक विकास के लिए प्रार्थना - प्रलोभनों पर काबू पाने के लिए, शक्ति के लिए, अंतर्दृष्टि के लिए, आत्मज्ञान के लिए। इनको वर्ग 'ख' में रखें।
3. ऐसी प्रार्थनाएं जिनमें कोई मांग नहीं होती, जिनमें दिव्य परिपूर्णता पर ध्यान, ईश्वर से मिलन की तीव्र आकांक्षा - रहस्यवादी का परमानंद, ऋषि का ध्यान, संत का आसमान छूता अत्यंत हर्ष शामिल है। दैवीय और मानव के बीच यह सच्चा मिलन है, जब मनुष्य उस के प्रति प्रेम और श्रद्धा में अपने आप को समर्पित कर देता है जो हृदय का सम्मोहक प्रेम है। इनको वर्ग 'ग' में रखें।

अदृश्य लोकों में विभिन्न श्रेणी के प्राणी, बुद्धिमत्ताएं, अदृश्य सहायक हैं जो मनुष्य के साथ संबंध में आते हैं। मनुष्य स्वयं प्रारम्भिक जीवों (elementals) द्वारा जीवंत मानसिक और एस्ट्रो-मानसिक स्तरों पर अदृश्य प्राणियों – विचार-रूपों का एक निरंतर निर्माता है। इन जीवंत विचारों की शक्ति उन्हें पैदा करने की तीव्रता और एकाग्रता पर निर्भर करती है।

स्वयं ईश्वर का सदैव-चैतन्य, शक्तिशाली और उत्तरदायी जीवन सदैव-वर्तमान है।

प्रार्थनाओं के तीन वर्गों की क्रिया-विधि

वर्ग 'क' – प्रकृति का नियम इच्छा और इच्छा की पूर्ति का, निस्संदेह कर्म प्रभावों के अधीन, अनुसरण करता है। अतः बिना किसी औपचारिक

प्रार्थना के भी संकल्प अथवा दृढ-इच्छा (will) द्वारा कोई इच्छा पूरी की जा सकती है। वस्तु विशेष के प्रति इच्छा की तीव्रता एवं दृढ़ता आवश्यक है। लेकिन फिर ऐसे प्रयासों के अपने कर्म प्रभाव होंगे। इस वर्ग की प्रार्थनाओं की विफलता मनुष्य द्वारा अतीत में अपने कर्मों द्वारा लगाई गई बाधाओं के कारण होती है।

हम सभी नियम (कर्म का नियम) के क्षेत्र में रह रहे हैं और किसी बल के प्रभाव को दूसरे प्रकार के बल द्वारा संशोधित या निष्प्रभावी किया जा सकता है।

वर्ग 'ख' – ये प्रार्थनाएं प्रार्थना करने वाले व्यक्ति पर प्रतिक्रिया करती हैं। वे देवताओं और शरीर के बाहर काम करने वाले शिष्यों का ध्यान आकर्षित करती हैं जिसे कभी-कभी ऐसी प्रार्थनाओं का आत्मनिष्ठ उत्तर भी कहा जाता है, प्रार्थना करने वाले पर प्रार्थना की प्रतिक्रिया के रुप में।

जब मन शांत होता है, तो उस मौन में आत्मा की 'शांत छोटी आवाज' सुनाई दे सकती है और मन का एकाग्र ध्यान उसे आंतरिक स्व की धीमी फुसफुसाहट को पकड़ने या ग्रहण करने में सक्षम बनाता है।

इससे भी अधिक स्पष्ट रूप से सहायता बाहर और भीतर से आती है, जब प्रार्थना आध्यात्मिक ज्ञान के लिए, आध्यात्मिक विकास के लिए होती है – दिव्य-असंतोष (Divine Discontent) के मामले में।

इस वर्ग की प्रार्थनाओं के संबंध में सामान्य सिद्धांत यह है कि व्यक्तित्व के निमज्जन (submergence) और ऊर्ध्व आकांक्षा की तीव्रता के अनुपात में ही भीतर और बाहर के व्यापक जीवन से प्रत्युत्तर मिलेगा।

वर्ग 'ख' में प्रार्थना का उच्चतम रूप लगभग अगोचर रूप से वर्ग 'ग' में

विलीन हो जाता है, जहां प्रार्थना अपना निवेदनात्मक चरित्र खो देती है, और या तो ईश्वर का ध्यान या उसकी पूजा बन जाती है।

"ध्यान, मौन या *अघोषित* प्रार्थना है, या जैसा कि प्लेटो ने व्यक्त किया है: "आत्मा का दिव्य की ओर प्रबल झुकाव; किसी विशेष भलाई के लिए नहीं (जैसा कि प्रार्थना के सामान्य अर्थ में होता है), बल्कि स्वयं भलाई के लिए, सार्वभौमिक सर्वोच्च भलाई के लिए जिसका हम पृथ्वी पर एक हिस्सा हैं, तथा जिसके सार-तत्त्व से हम सभी निकले हैं" (*The Key to Theosophy,* पृ. 10)।

विचार के नियम के कार्यचालन से मनुष्य वही बन जाता है जो वह सोचता है या जिस पर वह ध्यान करता है।

लघु रहस्य-साधना (Lesser Mysteries) के साधकों द्वारा वर्ग 'ख' के अंतर्गत आने वाले प्रकार की प्रार्थना की जानी चाहिए, और उसे निम्न प्रकार की प्रार्थनाओं को त्यागकर, अंतिम वर्ग 'ग' के शुद्ध ध्यान की ओर बढ़ने का प्रयास करना चाहिए।

मनुष्य देखता है कि इस तरह के ज्ञान से उसकी शक्ति बहुत बढ़ जाती है, कि उसके चारों ओर ऐसे बल हैं जिन्हें वह समझ सकता है और ऐसे ज्ञान तथा शक्ति के अनुपात में उन बलों को नियंत्रित कर सकता है। तब उसे पता चलता है कि दिव्यता उसके भीतर छिपी हुई है, और जो कुछ भी क्षणभंगुर है वह उसके अन्दर के ईश्वर को संतुष्ट नहीं कर सकता है; केवल एक, परिपूर्ण के साथ मिलन ही उसकी लालसा को शांत कर सकता है। फिर उसके भीतर धीरे-धीरे स्वयं को ईश्वर के साथ एकाकार करने की इच्छा उत्पन्न होती है; वह परिस्थितियों को बदलने के लिए, और प्रभावों की धारा में नए कारणों को डालने की प्रबल कोशिश करना बंद कर देता है। वह स्वयं को

एक अभिनेता के बजाय एक एजेंट, एक स्रोत के बजाय एक चैनल, एक स्वामी के बजाय एक सेवक के रूप में पहचानता है, और दिव्य उद्देश्यों की खोज करना और उसके साथ सामंजस्य बनाकर काम करना चाहता है।

जब कोई व्यक्ति उस बिंदु पर पहुंच जाता है, तो वह ध्यान के अलावा सभी प्रार्थनाओं से ऊपर उठ जाता है; उसके पास इस या किसी अन्य संसार में मांगने के लिए कुछ भी नहीं है; वह केवल ईश्वर या ईश्वरीय योजना की सेवा करते हुए निरंतर शांति में रहता है। वह पुत्रत्व (sonship) की स्थिति है, जहां पुत्र की इच्छा पिता की इच्छा के साथ एक होती है, जहां एक शांत समर्पण किया जाता है।

तब सारी प्रार्थना अनावश्यक प्रतीत होती है; सभी मांगना एक धृष्टता के रूप में अनुभव किया जाता है; ऐसी किसी भी चीज़ की लालसा नहीं की जा सकती जो पहले से ही उस इच्छा के उद्देश्य में नहीं है, और सभी को उस इच्छा-शक्ति (will) के कार्य में स्वयं परिपूर्ण एजेंट के रूप में सक्रिय अभिव्यक्ति में लाया जाएगा (अध्याय 10 'प्रार्थना', पृ. 204-221)।

दि लाइट ऑफ एशिया (The Light of Asia)

प्रार्थना मत करो! अंधेरा उजाला नहीं होगा!
मौन से मत पूछो, क्योंकि यह बोल नहीं सकता!
अपने शोकाकुल मन को पवित्र दर्द से न सताओ!
आह! भाइयों, बहनों!
उपहार और भजन द्वारा असहाय देवताओं से कुछ मत खोजो।
न रक्त से रिश्वत दो, न ही फल और मिठाई खिलाओ;
स्वयं के अन्दर ही मुक्ति की खोज अवश्य करनी चाहिए।
प्रत्येक व्यक्ति अपना बंदीगृह स्वयं बनाता है।

प्रत्येक के पास सर्वोच्च के समान आधिपत्य है।
कार्य हर्ष और शोक उत्पन्न करता है।

भगवद् गीता

पवित्र कर्म करने वाले चार प्रकार के मनुष्य मेरी भक्ति करते हैं; विपदा से आक्रान्त (आर्त), धन की इच्छा वाले (अर्थार्थी), स्व-हित के लिए ज्ञान का जिज्ञासु, तथा ज्ञानी (अ. 7, श्लो. 16)।

इनमें से ज्ञानी जो निरंतर सामंजस्य (नित्य युक्त) होकर एक की भक्ति करता है, विशिष्ट है, मैं उस ज्ञानी को सर्वोत्तम प्रिय हूं और वह मुझे प्रिय है (अ. 7, श्लो. 17)।

ये सभी उदार हैं, किंतु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है – ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह मेरी गति वाला ज्ञानी भक्त मुझ पर ही अच्छी प्रकार स्थित है, उच्चतम पथ पर स्थिर है (अ. 7, श्लो. 18)।

कई जन्मों के अंत में ज्ञान से परिपूर्ण व्यक्ति मेरे पास आता है; वह कहता है, 'सब कुछ वासुदेव' है (अ. 7, श्लो. 19)।

नोट्स ऑन दि भगवद् गीता - W. Q. Judge

विभिन्न लोगों द्वारा ईश्वर से कुछ अनुग्रह मांगते हुए लाखों प्रार्थनाएं की जाती हैं। लेकिन की गई प्रार्थनाओं के परिणामों का कोई आंकड़ा नहीं है। ... यह दृढ़, निरंतर विश्वास का मामला है जो प्रार्थना के विचारों को अन्य लोगों के ग्रहणशील मन में ले जाता है, जो फिर अवचेतन प्रवेशित विचार द्वारा अनुरोध का उत्तर देने के लिए प्रेरित होते हैं। ... यह सब निश्चित रूप से

व्यक्तिगत और स्वार्थी उद्देश्यों के लिए प्रार्थनाओं पर लागू होता है। किंतु वह प्रार्थना या आकांक्षा जो आध्यात्मिक प्रकाश और प्रज्ञा के लिए है, सबसे ऊंची है, चाहे वह किसी को भी या क्या संबोधित हो। सभी धर्म इसी प्रकार की प्रार्थना सिखाते हैं: अन्य सभी प्रार्थनाएं स्वार्थी हैं और आध्यात्मिक रूप से व्यर्थ हैं (अध्याय VII, पृ. 139-140)।

क्लाउड ऑफ़ अननोइंग (The Cloud of Unknowing)

प्रार्थना क्या है और एक उत्तम कार्यकर्ता को कैसे प्रार्थना करनी चाहिए? प्रार्थना अपने आप में कुछ और नहीं, बल्कि अच्छाई की प्राप्ति और बुराई को दूर करने के लिए सीधे ईश्वर के प्रति एक हार्दिक इरादा है। और चूंकि पाप में बुराई निहित होती है, कारण से या अस्तित्व से, इसलिए जब हम जान-बूझकर बुराई को दूर करने के लिए प्रार्थना करें तो इस छोटे से शब्द "पाप" के अलावे कुछ नहीं कहें, या सोचें, या अर्थ समझें। और यदि हम जान-बूझकर भलाई पाने के लिए प्रार्थना करें, तो हमें इस शब्द "ईश्वर" के अलावे, शब्द से या विचार से या इच्छा से और कुछ नहीं पुकारें। क्योंकि, कारण और अस्तित्व दोनों द्वारा ईश्वर में सब कुछ अच्छा है (39वां अध्याय)।

प्रैक्टिकल वेदांत

तुम अपने अंतरतम हृदय में जानते हो कि तुम्हारे कई सीमित विचार, स्वयं को नम्र बनाना और काल्पनिक प्राणियों से प्रार्थना करना और रोना अंधविश्वास हैं। मुझे एक भी मामला बताओ जहां इन प्रार्थनाओं का उत्तर दिया गया हो। जो भी उत्तर आए वे तुम्हारे अपने हृदय से थे (*Practical*

Vedanta – स्वामी विवेकानंद, पृ. 23)।

अल्बर्ट आइंस्टीन

आइंस्टीन ने, एक छह साल की लड़की द्वारा एक बार उनसे पूछे गए प्रश्न, "क्या वैज्ञानिक प्रार्थना करते हैं?" का गहन दो-आयामी उत्तर दिया था :

"वैज्ञानिक शोध इस विचार पर आधारित है कि जो कुछ भी घटित होता है वह प्रकृति के नियमों द्वारा निर्धारित होता है, और यह लोगों के कार्यों पर लागू होता है। इस कारण से, एक वैज्ञानिक शायद ही इस बात पर विश्वास करेगा कि घटनाएं प्रार्थना से, या दूसरे शब्दों में, किसी अलौकिक प्राणी को संबोधित इच्छा से प्रभावित हो सकती हैं।

विज्ञान की खोज में गंभीरता से शामिल प्रत्येक व्यक्ति को यह विश्वास हो जाता है कि ब्रह्माण्ड के नियमों में एक आत्मा व्यक्त होती है – एक ऐसी आत्मा जो मनुष्य से कहीं अधिक श्रेष्ठ है, और एक ऐसी आत्मा जिसके सामने हमें अपनी मामूली शक्तियों के साथ विनम्र अनुभव करना चाहिए। इस प्रकार वैज्ञानिक कार्य एक विशेष प्रकार की धार्मिक भावना की ओर ले जाता है, जो वास्तव में किसी अधिक सरल-मति व्यक्ति की धार्मिकता से बिल्कुल अलग है" (*Albert Einstein His Human Side* – by Swami Tathagatananda, पृ. 103)।

निष्कर्ष

कर्म का नियम, सर्वोच्च और अपरिवर्तनीय है। किसी कारण के कर्म-प्रभाव को केवल वही मनुष्य अपने उचित प्रयासों (कर्म या पुरुषार्थ) द्वारा ही बदल सकता है – किसी प्रार्थना या आह्वान द्वारा नहीं। वास्तव में

प्रार्थना/आह्वान/मंत्र के पाठ आदि द्वारा किसी कारण के कर्म-प्रभाव को बदलने का कोई भी प्रयास इस महान नियम (कर्म का नियम), जो प्रकृति के अन्य नियमों के साथ-साथ परब्रह्म की अभिव्यक्ति है, के विरुद्ध विद्रोह है। ऐसे विद्रोह से और अधिक बुरे कर्म-फल हो सकते हैं। *योग-वशिष्ठ* भी मनुष्य द्वारा पुरुषार्थ पर ही बल देता है।

एच.पी. ब्लावत्सकी ने कहा है कि दृढ़ इच्छा शक्ति (Will Power) सर्वोच्च है. मनुष्य अपनी इच्छा शक्ति का प्रयोग करके इस संसार या अन्य संसार में कुछ भी पा सकता है। क्रियाशक्ति की जादुई रचनात्मक शक्ति "केंद्रित विचार और इच्छाशक्ति" है। इच्छाशक्ति का अर्थ न केवल चुनने की क्षमता है, बल्कि चुने हुए रास्ते पर बने रहने, दृढ़ रहने की क्षमता भी है।

उपनिषद् बताते हैं कि ब्रह्म एक है और मनुष्य उसके साथ एक है। कोई द्वैत नहीं – इसलिए कोई प्रार्थना नहीं, कोई पूजा नहीं क्योंकि इनके लिए दो की आवश्यकता होती है। केवल ब्रह्म के बोध या आत्म-बोध का प्रयास करना है।

याद रखने योग्य सिद्धांत यह है कि मनुष्य की स्व की शक्तियों की अभिव्यक्ति के अलावे, ऐसी कोई शक्ति या गुण नहीं है जिसका उपयोग कोई व्यक्ति आह्वान या प्रार्थना आदि द्वारा करके किसी अद्भुत परिणाम को जान-बूझकर या अनजाने में उत्पन्न कर सकता है। कार्य में रचनात्मक मानवीय इच्छा की शक्ति, विश्वास या श्रद्धा है। मनुष्य के विचार जितने अधिक उदार और सार्वभौमिक होंगे, और उसकी आकांक्षाएं जितनी सच्ची होंगी, सार्वभौमिक भलाई के लिए परिणामी प्रभाव उतने ही अधिक लाभकारी और मुक्तिदायक होंगे।

दिव्य प्रज्ञा या थिऑसोफी जैसे आध्यात्मिक पथ पर चलने वाले

व्यक्तियों द्वारा अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए कोई निवेदन वाली प्रार्थना नहीं ही करनी चाहिए। हमारे लिए दृढ़ इच्छा प्रार्थना (Will Prayer) उपयुक्त है, इसमें थोड़े समय के लिए मन मुक्त हो जाता है और दिव्य के साथ एक हो जाता है और इसलिए ऐसा लगता है जैसे हमारे विचारों और इच्छाओं की क्षमताओं और शक्तियों को कार्य में रूपांतरित किया जा रहा है। तब यह प्रार्थना नहीं रह जाती बल्कि एक आदेश बन जाता है। आत्म-निवेदन या स्व का पूर्ण समर्पण भक्ति का उच्चतम रूप है, जिसे गलत समझ में उत्तरदायित्वों का समर्पण मान लिया जाता है, जबकि यह हमारे रास्ते में जो कुछ भी आता हैं, उसे उचित प्रसाद के रूप में स्वीकार करना है।

एच. पी. ब्लावत्सकी ने अपने लेख "जीवन का अमृत" में बताया है कि, "ध्यान, अंतरीय मनुष्य की 'असीमित की ओर बाहर जाने' के लिए अकथनीय तड़प है, जो पुराने काल में आराधना (या भक्ति) का वास्तविक अर्थ था, किंतु इसका नाम अब बिगाड़ कर प्रार्थना, स्तुति,और पश्चाताप के नाम से जाने हुए स्वांग का दिखावा कर दिया गया है"।

ॐ – शब्द भीतर के ईश्वर के अर्थ में है, जो सभी चीजों तथा जीवों का आत्मा है। वास्तव में प्रार्थना को यंत्रवत दोहराने से लोग अपने भीतर के उस ईश्वर, जो किन्हीं भी शब्दों या प्रार्थनाओं से अधिक गहन और पवित्र है, को भूल जाते हैं।

सच्ची प्रार्थना अपनी निम्न प्रकृति को अपने भीतर के उच्च ईश्वर के साथ एक होने का आदेश है।

हम यह याद रखें कि, "ध्यान, मौन या *अघोषित* प्रार्थना है।"

इसके अलावा, सभी प्राणियों के कल्याण के लिए पूरी तरह से

अवैयक्तिक प्रार्थना सबके लिए उपयुक्त तथा वांछनीय है। जैसे;

1. सर्वे भवन्तु सुखिनः ...
2. असतो मा सद्गमय ..
3. भवतु सब्ब मंगलम् ...
4. हे! गुप्त जीवन, प्रत्येक परमाणु में कंपित ... (सार्वभौमिक प्रार्थना)

जब मनुष्य यह देखता है की उसके अपने अच्छे कार्य (सत्कर्म) ही एकमात्र "पुजारी" है, जिसकी उसे आवश्यकता है, और यह कि उसके अपने पापी, स्वार्थी विचारों तथा इच्छाओं का त्याग ही उसके अन्दर की *उपस्थिति* द्वारा एकमात्र यज्ञ माना जाता है, तब ऐसा मनुष्य स्वयं ईश्वर बनना प्रारंभ करता है, जो वह है।

चंद्रमा

आकाश के सभी पिण्डों में से चंद्रमा पर लोगों का ध्यान सभी युगों में अधिक गया है क्योंकि चंद्रमा हमारी पृथ्वी से सबसे निकट है, रात में प्रकाशित होता है और मनुष्य के कई मामलों में इसका प्रभाव पड़ता है। चंद्रमा को रात की रानी भी कहा गया है और इसका संबंध समुद्रों में ज्वार, वनस्पतियों, गर्भधारण और मनोदशा से है।

चंद्रमा की उत्पत्ति – आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धांत

विज्ञान कहता है कि चंद्रमा एक खगोलीय पिण्ड है जो पृथ्वी की परिक्रमा करता है और केवल यही पृथ्वी का स्थायी प्राकृतिक उपग्रह है। विज्ञान के लिए चंद्रमा की उत्पत्ति अभी भी एक रहस्य है। हमारा आधुनिक विज्ञान चंद्रमा को कुछ 4.5 अरब वर्ष पहले बना हुआ मानता है। अधिक लोगों द्वारा स्वीकार्य व्याख्या एक महान संघात सिद्धांत (giant impact theory) मे दी गयी है। इसके अनुसार ग्रहीय वैज्ञानिक मानते हैं, कि चंद्रमा का निर्माण उस बचे हुए मलबे से हुआ जो एक दूसरे ग्रहीय पिण्ड थिआ का पृथ्वी से टकराव के कारण पैदा हुआ था। वर्ष 1969 में आर्म्सट्रांग पहले व्यक्ति थे, जो अमेरिकन मिशन अपोलो-11 के कमान्डर के रूप में चंद्रमा पर गए और उसकी सतह पर चले। इसके बाद चंद्रमा की उत्पत्ति के ज्ञान में क्रांतिकारी परिवर्तन आया। अपोलो द्वारा लाए गए चंद्रमा की चट्टानों के नमूने और पृथ्वी की चट्टानों के बीच रासायनिक संगठन समान पाया गया। इसलिए नासा के चंद्रमा से संबंधित वैज्ञानिक संगठन ने अपने अनुसंधान से यह परिकल्पना प्रस्तुत किया कि हमारी पृथ्वी और चंद्रमा दोनों किसी अन्य दो ग्रहों, जो आकार में बहुत बड़े थे, के टकराने से बने। टकराने के बाद बने हुए दो छोटे आकार के पिण्ड आपस में फिर टकराए जिससे पृथ्वी बनी और

उसके चारो तरफ का जो पदार्थ था उससे चंद्रमा बना। इस सिद्धांत को एक अमरीकी ज्योतिष-भौतिकी राबिन कनप ने प्रतिपादित किया था।

पृथ्वी की उत्पत्ति और चंद्रमा की स्थिति – गुह्य दर्शन

गुह्य दर्शन सिखाता है कि चंद्रमा पृथ्वी से अलग नहीं हुआ है बल्कि यह हमारी पृथ्वी की मां है। चंद्रमा पृथ्वी से बहुत अधिक पुराना है और पृथ्वी का अस्तित्व चंद्रमा के कारण हुआ है। पृथ्वी की तरह चंद्रमा भी सात आयामी है। सुदूर पूर्व के समय जब पृथ्वी नहीं थी तब चंद्रमा पर आबादी थी। जब विकास चंद्रमा पर पूरा हो गया तो उसकी मृत्यु हुई और उसने अपनी सारी ऊर्जा आकाश में फेंक दिया और पीछे उसकी एक लाश या भौतिक वाहन रह गया। चन्द्र-श्रृंखला के पिण्डों से ही पृथ्वी-श्रृंखला के पिण्ड बने। गुह्य स्थिति यह है कि आकाश में दिखाई देने वाला चंद्रमा हमारी पृथ्वी की तरह ही अपनी श्रृंखला का चौथा पिण्ड है। दृश्यमान चंद्रमा चन्द्र-श्रृंखला का ग्लोब है और हमारी पृथ्वी या पृथ्वी श्रृंखला के ग्लोब की माता है। उसके दूसरे पिण्ड अदृश्य हैं। एच. पी. ब्लावत्सकी ने व्याख्या की है कि लय केन्द्र अविभाजित अवस्था के मूल पदार्थ का एक नाभिकेन्द्र होता है और जब इसको एक मृत आकाशीय पिण्ड के तत्त्वों द्वारा सक्रिय किया जाता है तब पदार्थ के समूह से आवास योग्य संसार बनते हैं। इस तरह सभी संसार और आकाशीय पिण्ड एक-दूसरे से उत्पन्न होते हैं जिसको एक उपमा से समझाया जाता है – आकाशीय पिण्डों की उत्पत्ति की तुलना अग्नि के उत्सव में तीर्थयात्रियों के एक समूह से की गयी है जिसमें सात तपस्वी सात प्रज्ज्वलित छड़ी के साथ मंदिर के द्वार पर प्रकट होते हैं। तब वे तपस्वी अपनी प्रज्ज्वलित छड़ियों को अपने सिर के चारो ओर घुमाते हैं और उससे दूसरे तीर्थयात्रियों को अग्नि प्रदान करते हैं। इसी तरह एक लय केन्द्र या कई केन्द्र मृत आकाशीय पिण्डों या तीर्थयात्रियों की अग्नि से जागृत किए जाते

हैं। और वह केन्द्र जागृत होने के बाद आकाश में तेजी से चलकर एक धूमकेतु बनता है जो समय पर अपनी गति को कम करके अंत में एक आकाशीय पिण्ड के रूप में ठहरता है (SD I, 203)।

इस प्रक्रिया को मनुष्य की मृत्यु और ग्रहीय श्रृंखला की मृत्यु के बीच एक और उपमा से बताया जाता है। जब एक मनुष्य मरता है तब उसके उच्च तत्त्व देवाचन में जाते हैं। मनुष्य के ये उच्च तत्त्व ग्रहीय श्रृंखला के विशुद्धात्माओं के समानान्तर होते हैं जो ग्रहीय श्रृंखला के भंग होने के बाद विश्राम या निर्वाण में चले जाते हैं। मनुष्य के निम्न तत्त्व जो कामरूपीय खोल बनाते हैं वे विघटित होकर स्कन्ध छोड़ते हैं जो एक नया व्यक्तित्व बनाने के उपयोग में आते हैं। उसी प्रकार चन्द्र-श्रृंखला के पिण्ड भंग होने के बाद अपनी ऊर्जा को आकाश में छोड़े जिससे हमारी पृथ्वी-श्रृंखला के पिण्ड बने।

गुह्य दर्शन बताता है कि दृश्यमान चंद्रमा इस अर्थ में हमारी पृथ्वी का उपग्रह है कि वह पृथ्वी के चारो ओर घूमता है किन्तु इस चंद्रमा ने अपने सभी तत्त्वों को हमारी पृथ्वी को स्थानांतरित किया है। दृश्यमान चंद्रमा अपनी शक्ति और ऊर्जा को पृथ्वी पर हस्तान्तरण करके अब स्वंय जीवात्माविहीन और जीवनविहीन हो गया है। और फिर भी उसको 'एक मृत और फिर भी एक जीवित देह' कहा गया है। *दि सिक्रेट डॉक्टरीन* में हम पढ़ते हैं कि चंद्रमा अपने अंतरीय तत्त्वों अर्थात मानसिक और अध्यात्मिक तत्त्वों के संबंध में ही मृत है। किन्तु भौतिक रूप से चंद्रमा सक्रिय है, यह अर्द्धपंगु शरीर के समान है। उच्चतर तत्त्व इससे अलग हो गए हैं और वह वास्तव में एक मृत ग्रह है जो पृथ्वी के साथ खिंचता रहता है। वह विघटन की प्रक्रिया में आधी दूरी पर है। उसको 'आकाशीय पागल' या 'उन्मादी मां' भी कहा गया है क्योंकि उसके शरीर से उच्चतर या आध्यात्मिक तत्त्व अलग हो गए हैं। मनुष्य की असाध्य उन्माद की अवस्था में उसके निम्नतर और उच्चतर तत्त्वों

में संबंध हमेशा के लिए समाप्त हो जाता है और उसका निम्न मन एस्ट्रल स्तर पर काम करता है और इसलिए उसके मन का उसके भौतिक शरीर से संबंध नहीं होता। हमारा चंद्रमा कुछ इसी दशा में है।

विज्ञान इस बात की संतोषजनक व्याख्या देने में अक्षम है कि क्यों शुक्र और बुध के उपग्रह नहीं हैं। कारण यह है कि विज्ञान के पास केवल एक भौतिक कुंजी है जबकि गुप्त दर्शन के पास एक प्रतीक को समझने के लिए सात कुंजियां हैं। गुप्त दर्शन उत्तर देता है कि शुक्र और बुध के पास उपग्रह नहीं हैं किन्तु उनके जनक थे। उसी तरह पृथ्वी का उपग्रह चंद्रमा हमारी पृथ्वी का जनक या मां है और जब हमारी पृथ्वी अपने सातवें परिक्रमा काल (Round) में पहुंचेगी तब हमारा चंद्रमा गायब हो जाएगा और ऐसा ही उन दूसरे ग्रहों के साथ हुआ है जिनके कोई चंद्रमा या उपग्रह नहीं हैं। दूसरे शब्दों में ऐसा प्रतीत होता है कि शुक्र और बुध के पास वर्तमान में कोई चंद्रमा या उपग्रह नहीं है लेकिन भूतकाल में वे रहे होंगे और बाद में वे गायब हो गए क्योंकि ये दोनों ग्रह अब अपने सातवें परिक्रमा काल में हैं। किन्तु कुछ अन्य ग्रह हैं जिनके कई उपग्रह या चंद्रमा हैं और इसके रहस्य को किसी खगोलशास्त्री विद्वान ने नहीं सुलझाया है (SD I, 155 fn)।

चंद्रमा की कलायें और मेटॉनिक चक्र

चंद्रमा जैसे पृथ्वी की परिक्रमा करता है, उसका आधा हिस्सा जो सूर्य की ओर होता है, वह प्रकाशित होता है। चंद्रमा के प्रकाशित हिस्से के विभिन्न आकार जो पृथ्वी से दिखायी देते हैं उनको चंद्रमा की कलायें कहा जाता है। प्रत्येक कला हर 29.5 दिनो बाद फिर से आती है।

चंद्रमा का एक रोचक चक्र मेटॉनिक चक्र कहलाता है। यह लगभग 19 वर्षों का होता है और जिसके पूरा होने पर नवीन और पूर्ण चंद्रमा महीने

के उसी सौर्य दिवस पर वापस आता है। मेटन ने सौर्य और चन्द्र समय में तालमेल करने का प्रयत्न किया। सौर्य और चन्द्र समयों को एक साथ होने के लिए उनका लघुत्तम समान गुणक 19 वर्ष का होता है। चंद्रमा अपनी यात्रा लगभग 27 दिनों (27.322) में करता है। इसको उष्णकटिबंधीय (tropical) चंद्रमास कहा जाता है। इस तरह चंद्रमा तारों के उसी पृष्ठभूमि में प्रत्येक 27.3 दिनों के बाद आता है।

चंद्रमा की कलाओं का कारण यह है कि हम पृथ्वी से चंद्रमा के उस हिस्से, जो सूर्य द्वारा प्रकाशित होता है, को अलग-अलग कोणों से देखते हैं जैसे जैसे यह पृथ्वी के चारो तरफ घूमता है। इस तरह इसका दिखाई देने वाला आकार सूर्य के बाबत चंद्रमा की स्थिति (जैसा कि पृथ्वी से देखा जाता है) पर निर्भर करता है। किन्तु चूंकि पृथ्वी सूर्य के चारो ओर घूमती है, चंद्रमा को अपना मास पूरा करने या पूरा चक्र लगाने में कुछ अधिक समय लगता है जब हम उसके उसी कला को पृथ्वी पर फिर देखते हैं। दूसरे शब्दों में चंद्रमा को अपनी एक कला स्थिति से चलकर फिर उसी स्थिति में आने में लगभग 29.5 दिन (29.5306) लगते हैं। इसको संयुति (synodic) चंद्रमास कहा जाता है। दूसरे शब्दों में पृथ्वी, चंद्रमा और सूर्य के सापेक्ष गतियों के कारण चंद्रमा को उसी स्थिति में आने में 27.3 दिनों के बजाय 29.5 दिन लगते हैं (हालांकि यह तारों की उसी पृष्ठभूमि में 27.3 दिनों में आता है)।

चूंकि 235 संयुति (synodic) चंद्रमास और 254 उष्णकटिबंधीय (tropical) चंद्रमास लगभग 19 सौर्य वर्ष के बराबर होते हैं। इसलिए चन्द्र और सौर्य समय को मेल खाने में लघुत्तम समान गुणक लगभग 19 वर्ष आता है।

19 सौर्य उष्णकटिबंधीय वर्ष	= 365.24 x 19	= 6939.56 दिन
235 चन्द्र संयुति मास	= 235 x 29.5306	= 6939.691 दिन
254 चन्द्र उष्णकटिबंधीय मास	= 254 x 27.322	= 6939.788 दिन

इसके अलावा मेटन ने कैलेण्डर इस तरह से बनाया कि इस मेटॉनिक चक्र के 19 वर्षों में से 12 वर्षों में 12 मास थे और 7 वर्षों में 13 चन्द्र मास थे (*The Theosophical Movement* अप्रैल 2019, पृ. 27-28)।

पृथ्वी पर चंद्रमा का प्रभाव

हमारी पृथ्वी चंद्रमा से बहुत प्रभावित होती है। चंद्रमा और दूसरे आकाशीय पिण्ड नैतिक और गुप्त प्रभाव भी डालते हैं (Isis I, 273)।

डॉ. रिचर्डसन बताते हैं कि जन्तु जीवन-शक्ति या स्नायु-ईथर प्रकृति में फैली हुई रहती है। जन्तुओं के तंतु इस शक्ति को अपनी कम या अधिक स्वस्थ अवस्था के अनुसार सोखते हैं। यह (जीवन-शक्ति), सूर्य की सुषुम्ना किरण, जो चंद्रमा को प्रकाशित करती है और उसको भोजन देती है, के माध्यम से वनस्पतियों में अधिक मात्रा में उतरती है। चंद्रमा की किरण-पुंज से जीवन-शक्ति मनुष्य और जानवरों में प्रवेश करती है, पूर्ण सक्रिय अवस्था की तुलना में सोने और विश्राम की अवस्था में अधिक मात्रा में प्रवेश करती है। सोते समय यह हमारे तन्तु केन्द्रों में जमा होती है, उनको उचित स्वास्थ्य

देते हुए हमारी मांसपेशियों की जीवन शक्ति को जाग्रत तथा पुनर्नवीनीकृत करती हैं (SD I, 537-538)।

चंद्रमा की मनोमय और पराभौतिक प्रकृति सभी गुह्य वैज्ञानिकों को अवगत रही है और थेस्ली के डायनों को और बंगाल की तांत्रिकाओं को भी (SD I, 156)। गुप्त दर्शन सात पवित्र ग्रहों को बताता है। और यह भी कहता है कि न तो सूर्य और न चंद्रमा ही ये पवित्र ग्रह हैं। सूर्य तो एक केन्द्रीय तारा है और चंद्रमा एक मृत ग्रह है। ये दोनो दो पवित्र ग्रहों के लिए स्थानापन्न (substitute) हैं। चंद्रमा एक ऐसे ग्रह के बदले में रखा गया है जो पीछे की ओर गति करता है और रात में कभी-कभी चंद्रमा के निकट दृश्यमान होता है। इस ग्रह का गुप्त प्रभाव चंद्रमा द्वारा भेजा जाता है।

Lunatic शब्द, Luna या Lunar जो चंद्रमा से संबंधित है, से निकला है। एच. पी. ब्लावत्सकी बताती हैं कि प्रयोगों की एक श्रृंखला से यह सिद्ध हुआ है कि अधिक शक्तिशाली तंत्रिकाओं वाला एक व्यक्ति भी चंद्रमा के प्रकाश से प्रकाशित कमरे में अपने स्वास्थ्य को हानि पहुंचाए बिना काफी देर तक बैठ, लेट या सो नहीं सकता है। प्रत्येक ध्यान देने वाला घरबारी और बटलर यह जानता है कि कोई भी खाद्य सामग्री पूर्णतया अंधेरे की अपेक्षा चंद्रमा के प्रकाश में जल्दी सड़ती और खराब होती है। चंद्रमा की कलाओं तथा पौधे, जानवर और मनुष्य की विभिन्न तरह की बीमारियों के बीच संबंध है। ब्लावत्सकी बताती हैं कि 21 जनवरी 1693 को चन्द्रग्रहण की अवधि में उस दिन के पहले और बाद के दिनों की अपेक्षा 3 गुना लोग बीमार पड़े और मरे थे। लार्ड बेकन हर एक चन्द्रग्रहण के प्रारम्भ में संज्ञाविहीन होकर गिर पड़ते थे और केवल चन्द्रग्रहण की अवधि समाप्त होने पर ही उनकी चेतना वापस आती थी। 1399 में 6वें चार्ल्स हर एक अमावस्या और पूर्णिमा के दिन पागल हो जाते थे। कुछ स्नायु बीमारियों जैसे मिर्गी और नसों का दर्द

तथा चंद्रमा के कुछ कलाओं के बीच अंतरंग संबंध देखा गया है और उनका इलाज सूर्य है।

हमारा एस्ट्रल शरीर जो भौतिक शरीर का प्रारूप है, वह चन्द्र पितृओं, जो चंद्रमा के उन्नत प्राणी थे, का उपहार है। चंद्रमा और हमारे एस्ट्रल शरीर में अंतरंग संबंध है जो अपनी पारी में काम और प्राण से संबंधित है। असाध्य पागलपन में निम्नतर और उच्चतर मनुष्य के बीच संबंध नष्ट हो जाता है (अस्थाई पागलपन में यह संबंध केवल शक्तिहीन होता है) और निम्न मन एस्ट्रल स्तर पर काम करता है। कदाचित यह एस्ट्रल और चंद्रमा के बीच का अंतरंग संबंध समझाता है कि क्यों विक्षिप्त लोग पूर्णमासी की रात में अधिक विक्षिप्त हो जाते हैं।

विज्ञान इसकी व्याख्या नहीं कर सकता कि क्यों चंद्रमा की किरणें कुछ जीवों के लिए जहरीली और यहां तक कि घातक भी है; क्यों अफ्रीका के कुछ हिस्सों और भारत में चंद्रमा के प्रकाश में सोने से व्यक्ति प्रायः पागल हो जाता देखा गया। क्यों कुछ बीमारियों का संकट चंद्रमा के परिवर्तन के अनुरूप होता है; क्यों निद्रा-भ्रमण वाले लोग पूर्ण चन्द्र के समय अधिक प्रभावित होते हैं। और क्यों माली, किसान और जंगल के लोग इस विचार को पकड़े रहते हैं कि वनस्पतियां चंद्रमा की शक्ति से प्रभावित होती हैं। छुईमुई की कई प्रजातियां अपनी पंखुड़ियों को खोलती और बन्द करती हैं जैसे पूर्ण चंद्रमा बादलों से बाहर आता है या उनसे ढंक जाता है (Isis I, 273)।

एस्बेस्टस से न केवल न जलने योग्य धागा ही बनाया जाता है बल्कि उससे कई अत्यंत असाधारण गुणों वाला तेल भी निकाला जाता है और इसके गुणों का रहस्य कुछ लामा और हिन्दू सिद्धों के पास है। जब इसको शरीर में मला जाता है तो यह कोई बाहरी धब्बा या निशान नहीं छोड़ता

किन्तु वह मनुष्य जिसके शरीर पर यह तेल मला गया है, सबसे गर्म आग में साहसपूर्ण जा सकता है, बिना किसी क्षति पहुंचे हुए, यदि धुंए से उसका दम न घुटे। इस तेल का एक दूसरा गुण है, जब एक दूसरे पदार्थ जिसका नाम बताने के लिए हम (ब्लावत्सकी) स्वतंत्र नहीं है उसके साथ मिलाकर के स्थानीय ज्योतिषियों द्वारा बतायी गयी कुछ रात्रियों में चंद्रमा की किरणों के नीचे रख दिया जाए तो उसमें विचित्र तरह के प्राणी पैदा होते हैं, उनको हम कीटाणु कह सकते हैं, फिर ये बढ़ते और विकसित होते हैं (Isis I, 504-505)।

जैसे एक लाश से पदार्थ के कण निकलते रहते हैं उसी तरह चंद्रमा से भी खोटे और जहरीले प्रभाव बाहर निकलते रहते हैं। इन कणों में पूरी सक्रियता और विनाशकारी जीवन होता है। इस प्रकार चंद्रमा के उद्भव (emanations) लाभकारक और हानिकारक दोनों होते हैं। ब्लावत्सकी चंद्रमा के इस द्वै उद्भव को पृथ्वी पर कब्रिस्तान से तुलना करती हैं। कब्रिस्तान से जो उद्भव निकलते हैं वे स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होते हैं और उससे मृत्यु या विनाश हो सकता है। किन्तु यह भी सच है कि एक सड़ती हुई लाश में बहुत अधिक जीवन्त ऊर्जा काम करती रहती है और इसलिए कब्रिस्तान में उगे हुए घास और पौधे अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक रसीले और स्वस्थ होते हैं (SD I, 156)। शायद इसी तरह इस कथन को समझ सकते हैं कि पृथ्वी या संतान, चंद्रमा की ऊर्जा को अपने अन्दर खींचती है। ऐसा लगता है कि चंद्रमा भी पृथ्वी से ऊर्जा लेता है।

धार्मिक और आध्यात्मिक प्रथाओं में चंद्रमा

धार्मिक अनुष्ठानों में चंद्रमा का दो तरह से प्रयोग किया गया। बाह्य उद्देश्यों के लिए एक देवी के रूप में और रूपक तथा संकेत में एक देव के रूप

में, गुह्य दर्शन में इसको एक लिंग विहीन शक्ति माना गया जिसका अच्छी तरह से अध्ययन करना है क्योंकि इससे भय होता है। ... सोम या चंद्रमा गुप्त (occult) रहस्यों में से रहस्य है और अच्छाई की अपेक्षा बुराई का अधिक प्रतीक है। चन्द्र कलाओं के बारे में *दि सिक्रेट डॉक्टरीन* सिखाती है कि उसके सात कलाओं (मूल गुह्य विभाग) को तीन खगोलीय घटनाओं और चार शुद्ध भाव-मानसिक (psychic) अवस्थाओं में बांटा गया है (SD I, 396)।

पौराणिक कहानियों में चंद्रमा (सोम) के पुत्र बुद्ध (Mercury) हैं, जो समझदार और बुद्धिमान हैं, क्योंकि वह "राज-प्रतिनिधि" सोम के वंशज हैं, न कि इंदु, भौतिक चंद्रमा के। इस प्रकार बुद्ध पृथ्वी के बड़े भाई हैं, रूपक से – उसके सौतेले भाई जैसे, *आत्मा* के वंशज हैं – जबकि पृथ्वी शरीर की वंशज है (SD I, 45)

सात की संख्या का चंद्रमा से निकट संबंध है और इसका गुप्त प्रभाव सर्वदा सप्त अवधियों में व्यक्त होता है। चंद्रमा भूलोकीय प्रकृति के गुप्त पक्ष को दिशा निर्देश देता है जबकि सूर्य व्यक्त जीवन का नियन्ता और कारक है (SD II, 595)।

चंद्रमा द्वैत प्रतीक है, पुलिंग और स्त्रीलिंग तथा अत्यधिक जटिल और कई अर्थों का भी प्रतीक है। उदाहरण के लिए हिन्दू लोग चंद्रमा को पुरुष - राजा सोम, चाल्डियन सिन (Sin) कहते हैं, जबकि दूसरे राष्ट्रों में चंद्रमा एक स्त्री देव अर्थात देवी है जैसा कि सुंदर देवी दियना, ल्यूना, एलेटथिया ल्युसिना और आर्टेमिस लोचिया। आर्टेलिस लोचिया वह देवी थी जो गर्भधारण और शिशु जन्म की अधिष्ठात्री देवी थी (SD I, 395)।

ब्लावत्सकी कहती हैं कि चन्द्र देवियों को हमेशा शिशु जन्म के साथ जोड़ा गया है और चंद्रमा का गर्भधारण तथा निर्षचन (Fecundation) से गुह्य संबंध है जो मनोविज्ञान को नहीं मालूम है और इसलिए इन सब विचारों को यह एक अंधविश्वास मानता है (SD I, 264)। चंद्रमा को एक पुरुष देव के रुप में दिखाया जाता है जैसा कि हिन्दुओं के सोम जिनका पुत्र बुद्ध या प्रज्ञा है जो गुप्त ज्ञान से सम्बद्ध है। बाद में चंद्रमा को स्त्री देवियों जैसे दियना, आइसिस, जूनो आदि से जोड़ दिया गया है। वह कहती हैं कि यदि चंद्रमा के गुप्त गुणों और संतान उत्पत्ति पर उसके अदृश्य प्रभावों को बता दिया जाता तब शायद हम लोग आबादी के विस्फोट से डरते नहीं। यह इसलिए कि चंद्रमा और उसके संयोजन गर्भधारण को नियमित करते हैं। इस प्रकार कुछ अवस्थाओं में यदि एक पुरुष और स्त्री संभोग करते हैं तो इससे कोई संतान नहीं उत्पन्न होगी और यह अनुर्वर (sterile) संयोग रहेगा। किन्तु जो इस ज्ञान को उस अवधि में संयोग के लिए प्रयोंग करते थे उनको पापी और मायावी माना जाता था। लेकिन वह कहती हैं कि जो पुराने दिनों में पापमय माना गया था अर्थात संतान उत्पत्ति के डर के बिना यौन संबंध के लिए चन्द्र कलाओं के ज्ञान का प्रयोंग, आजकल के यौन अपराधों की अपेक्षा अधिक अच्छा है (SD I, 228-229 fn.)।

मिस्र-पुरातत्त्व-विद् और कवि गेराल्ड मैसी कहते हैं कि मिस्र के लोग चंद्रमा को एक बिल्ली की तरह दर्शाते थे क्योंकि उन लोगों ने यह पाया था कि बिल्ली रात में देख सकती है और इसी तरह चंद्रमा भी रात में देखने वाला है। चंद्रमा अंधेरी रात में प्रकाश लाता है या अंधेरे में प्रकाश फेंकता है जिसके द्वारा यह देखता है। मुहावरे के रूप में जब चंद्रमा को एक पुरुष देव के रूप में जैसे कि सोम बताया जाता है तो वह प्रज्ञा या सर्वज्ञता का प्रतिनिधित्व करते हैं। मिस्र की देवी पश्त को बिल्ली के सिर वाला दिखाया गया है और वह चंद्रमा को दर्शाती है। मिस्र में बिल्ली कई कारणों से पवित्र मानी जाती थी

जैसे कि चंद्रमा के प्रतीक के रूप में, ओसेरिस की आंख या रात में सूर्य के रूप में। रात में सूर्य की ओर से चंद्रमा देखते हैं और इसलिए देवी पश्त के रूप में चंद्रमा या बिल्ली बुराई के सांप या अंधकार को देखती है और उसको दबाती है। पश्त को जोड़ने वाला और अलग करने वाला तत्त्व माना गया है। उसका आदर्श है 'दोषी को दण्ड दो और मालिन्य को हटाओ' (*Theosphical Glossary*, 250)।

मिस्र में ओसेरिस को एक सांड़ के सिर वाले पुरुष से प्रदर्शित किया गया है जबकि उनकी पत्नी आइसिस को एक गाय के सिर वाली स्त्री से प्रदर्शित किया गया है। उनको सूर्य और चंद्रमा से संबंधित दिखाया गया है। ... गाय और स्त्री दोनों का प्रसव काल एक ही है जो 280 दिन का या प्रत्येक 4 सप्ताह वाले 10 चंद्रमास का होता है। ये प्रतीक लिंग और योनि पूजा के रूप में पतित हो गए थे (SD I, 390)।

चंद्रमा को देवी दियना कहा गया है जो एक सर्वदा प्रकाश देने वाली कुमारी आर्टिमिस जिसका प्राचीनतम नाम दिक्त्याना है और जिसका शाब्दिक अर्थ है उत्सर्जित किरण। क्रेतन दिक्त्याना की तरह, यह एक जादुई पौधा दिक्ताम्नस का माला पहनती है जो सर्वदा हरा रहने वाला पौधा है ओर जिसके सम्पर्क से निद्रा भ्रमण (Somnambulism) होता है और उसका इलाज भी होता है (Isis I, 264)।

ब्लावत्सकी लिखती हैं कि जैसे पुराने दिनों में दुष्ट बुरी आत्माएं चंद्रमा के विरुद्ध लड़ीं, वैसे उनको अब भी बिना प्रबल हुए, स्वर्ग की रानी, मैरी, चन्द्रमा के विरुद्ध युद्ध करता हुआ माना जाता है। इसलिए सभी पारम्परिक मूर्तिपूजक प्रथाओं में चंद्रमा को अजगर, जो उनका शाश्वत शत्रु है, से संबंधित बताया गया है; कन्या या मडोना को अजगर के रूप में शैतान के ऊपर खड़े हुए दिखाया गया है और जिसको उनके पैर के नीचे कुचल कर

शक्तिहीन कर दिया जाता है। इस अजगर के सिर और पूंछ जो पूर्वी खगोलविद्या में चंद्रमा का ऊपर जाते हुए और नीचे आते हुए आसंधियों (nodes) के द्योतक हैं, को प्राचीन यूनानी प्रथा में दो सांपों के प्रतीक के रुप मे दर्शाया गया (SD I, 403)।

ज्योतिष शास्त्र में पृथ्वी और चंद्रमा की कक्षाओं के कटाव के बिन्दुओं को राहु और केतु कहा गया है। वे भौतिक ग्रह नहीं हैं, उनको छाया ग्रह कहा गया है क्योंकि उनका पदार्थीय अस्तित्व नहीं है, केवल एक स्थान है।

चंद्रमा की प्रकृति द्वैत है – एक जीवन और प्रज्ञा देने वाला और दूसरा मारक और विनाशक।

ब्लावत्सकी व्याख्या करती हैं कि पितृ शब्द का अर्थ पूर्वज है। जब कुछ आध्यात्मवादी लोग (Spiritualists) हिन्दुओं को पितृ या चन्द्र पूर्वजों की पूजा करते हुए बताते हैं तो वे बहुत बड़ी गलती करते हैं। अलग-अलग पितृओं की पूजा या आवाहन नहीं किया जाता बल्कि उनके सामूहिक रूप से भण्डारित प्रज्ञा का आवाहन किया जाता है जिसका रहस्यमय रूपक चंद्रमा का उजला पक्ष है। ब्राह्मण लोग अपने मृत पूर्वजों की आत्माओं का आवाहन नहीं करते। अत्यन्त विकासप्राप्त मानव आत्मा अपने इस मिट्टी के घर को छोड़ते हुए हमेशा घोषित करेगा - '*नचापुनरावर्ति*' – 'मैं वापस नहीं आऊंगा' – और इस प्रकार किसी जीवित मनुष्य की पहुंच के परे हो जाता है। किन्तु चन्द्र पितृओं की पूरी प्रकृति और उनका चंद्रमा से संबंध को समझने के लिए ऐसे गुह्य रहस्यों के उद्घाटन की आवश्यकता होगी जिनको अभी लोगों को सुनाने का इरादा नहीं बनाया गया है। इसलिए संकेतों के अलावा अधिक नहीं बताया जा सकता।

चंद्रमा का संस्कृत में एक नाम सोम है और यह ब्राह्मणों के एक रहस्यमय पेय का भी नाम है। इन दोनों का संबंध है। एक सोमरस को पीने वाला अपने को चंद्रमा के उजले पक्ष के साथ सीधे संबंध बनाने की शक्ति प्राप्त करता है। इस प्रकार अपने आशीर्वाद प्राप्त पुरखों के केन्द्रीभूत बौद्धिक ऊर्जा से प्रेरणा प्राप्त करता है।

चंद्रमा को केन्द्रीभूत बौद्धिक ऊर्जा का भण्डार बताना एक रहस्य है जिसका अर्थ अभी प्रकट नहीं किया जा सकता, केवल इतना ही बताया जा सकता है कि उसके उजले पक्ष से कुछ प्रभाव पृथ्वी पर लगातार आता रहता है। यह अज्ञानियों को एक धारा के रूप में प्रतीत होता है और द्वैत प्रकृति का है – एक जीवन और प्रज्ञा देने वाला और दूसरा घातक। *वह जो पहले को दूसरे से अलग कर सकता है जैसा कि कालहंस ने दूध को पानी से अलग किया, जो एक महान बड़ी प्रज्ञा का प्रतीक है, उसको पुरस्कार मिलेगा।*

यदि अधिकतर ब्राह्मण धार्मिक अनुष्ठान पूर्णचन्द्र से संबंधित हैं तो जादूगरों के काले अनुष्ठान नवचन्द्र या अमावस्या के अंतिम चतुर्थ भाग में किए जाते हैं। उसी तरह जब पतित मनुष्य या जादूगर अपने दुष्ट वृत्ति की पूर्णता प्राप्त करता है तो उसके सभी बुरे कर्म सभी बुरी प्रेरणाएं उसके ऊपर 'चंद्रमा के अंधेरे पक्ष' की ओर से अधर्म की राक्षसी सेना की तरह टूट पड़ते हैं। इस 'चंद्रमा के अंधेरे पक्ष' का ज्ञान, विज्ञान से परे है किन्तु सिद्ध मनुष्यों द्वारा अच्छी तरह जान लिया गया है। जादूगर या दुगपा अपने नारकीय अनुष्ठानों को हमेशा अमावस्या के दिन करता है जब पितृ का हितकारी प्रभाव अपने न्यूनतम उतार पर होता है। और तब वह अपने पूर्वजों की शैतानी ऊर्जा को संगठित करके अपने बुरे प्रयोजनों के लिए प्रयोग करता है जबकि दूसरी तरफ ब्राह्मण अपने पितृ द्वारा प्राप्त ऊर्जा को तदनुसार हितकारी प्रयोजनों के लिए प्रयोग करता है। यह प्राकृतिक और मानसिक

विज्ञान है जिसके रहस्य पर अभी अज्ञानी भीड़ की कलुषित आंखों के सामने रूपक और प्रतीकों का पर्दा डाला गया है, इस डर से कि इनका गलत प्रयोग करके इसको दूषित न कर दिया जाए – आधुनिक विज्ञान इसकी खोज में विफल रहा है (*Raja-Yoga, or Occultism* by H.P.B. – लेख *Thoughts on the Elementals*, पृ. 98-100)।

चंद्रमा का स्त्रियों से संबंध, उनके गर्भधारण और शिशु जन्म का ज्ञान हमारे पुरातन लोगों को था।

कबाला में जेह्वा चंद्रमा से सम्बद्ध हैं (SD I, 198 fn.)। इजराइल के लोगों ने जेह्वा का मुख्य कार्य शिशु-जन्म कहा (SD I, 264)।

हिन्दू ब्राह्मण और बौद्ध लोग सूर्य और चंद्रमा (पुलिंग और स्त्रीलिंग तत्त्व) के प्रभाव के अत्यन्त जटिल सिद्धांत रखते हैं। स्त्रियों पर चंद्रमा का प्रभाव अच्छी तरह जाना जाता है, ऐसे चुम्बकत्व पर सभी प्राचीन लेखक लिखते हैं।

बौद्ध लोग नीलम पत्थर का बहुत आदर करते हैं और यह प्रत्येक दूसरे देश में भी ल्यूना को पवित्र था – यह विश्वास कुछ वैज्ञानिक तत्त्वों पर आधारित है न कि केवल निराधार अंधविश्वास है। वे इसमें पवित्र जादुई शक्ति बताते हैं, इसके पॉलिश किए हुए सतह से निद्रा-भ्रमण की असाधारण घटनाएं प्रकट होती हैं। प्रिज्म के रंगों का वनस्पतियों के विकास पर विभिन्न तरह के प्रभाव पड़ते हैं। और विशेष रूप से नीली किरण का प्रभाव देखा गया है। जनरल प्लियासोन्टन द्वारा किए गए प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ कि नीली किरण जो सबसे अधिक विद्युतीय है उसके प्रभाव में जानवरों और पौधों का विकास एक जादुई अनुपात में बढ़ गया (Isis I, 264)।

कबाला लोग अपने 'मध्य स्वभाव' को चंद्रमा से सीधे सम्पर्क में रखते हैं और हरी किरण स्पेक्ट्रम के अन्य रंगों के मध्य बिन्दु पर रहती है। आधुनिक खोजों में नीले-बैगनी प्रकाश, जो प्रिज्म स्पेक्ट्रम की सातवीं किरण है, के आश्चर्यजनक गुण पाए गए हैं जो सबसे शक्तिशाली रासायनिक है और जो संगीत के पैमाने पर उच्चतम स्वर के अनुरूप है। रोसीक्रुस का सिद्धान्त कि पूरा विश्व एक संगीत का यंत्र है – यह पाइथागोरस के 'गोलों के संगीत' का सिद्धान्त ही है। ध्वनि और रंग ये सभी आध्यात्मिक संख्याएं हैं। जैसे प्रिज्म की सात किरणें आकाश में एक ही स्थान से निकलती हैं उसी तरह प्रकृति की सात शक्तियां जिनमें से प्रत्येक एक संख्या है, एकत्व, केन्द्रीय, 'अध्यात्मिक सूर्य' के सात विकिरण हैं (Isis I, 514)।

प्लूतार्च कहते हैं 'जीवात्मा शरीर से अलग होने के पश्चात जब वह अकेला होता है एक स्वप्न की तरह शीघ्रता से उड़ता है। जीवात्मा, आत्मा द्वारा बनाया जाता है और यह स्वयं चारो तरफ से प्रभाव को लेते हुए शरीर को रूप देता है और बनाता है। इस तरह यद्यपि यह आत्मा और शरीर से अलग होता है फिर भी लम्बे समय तक इसकी एक आकृति रहती है जिससे वह अपने प्रतिबिंब को वापस ला सके। चंद्रमा इन जीवात्माओं का एक तत्त्व होता है क्योंकि जीवात्माएं उसमें अर्थात चंद्रमा में मिल जाते हैं जैसे मृत मनुष्य का शरीर पृथ्वी में मिल जाता है। वे लोग जो बिना अपने को कष्टप्रद मामलों में उलझाते हुए वास्तव में शांत और दार्शनिक जीवन जीते हुए सद्चरित्र और ईमानदार रहे हैं वे जल्दी मिल जाते हैं क्योंकि जीवात्मा और आत्मा से अलग होकर वे अपनी सांसारिक भावनाओं का प्रयोग नहीं करते हैं, वे अविलंब आलोप हो जाते हैं। (Isis II, 285)।

छः दिनों का सप्ताह और सबा या सात दिन की अवधि अत्यन्त पुरातन काल से है। भारत में चन्द्र त्यौहारों का मनाना दिखाता है कि यह राष्ट्र

साप्ताहिक बैठकें भी करता था। प्रत्येक नए चौथाई समय में चंद्रमा वातावरण में परिवर्तन लाता है इसलिए पूरे संसार में कुछ परिवर्तन होते हैं जिसमें से मौसम विज्ञानी वाले परिवर्तन अत्यन्त नगण्य हैं। प्रकृति की गुप्त शक्तियों (कार्यशील ईश्वर के उद्भव) का प्रतिनिधि बनने के लिए और अदृश्य संसारों से सम्पर्क बनाने के लिए गुप्त विज्ञान के सिद्ध मनुष्य इस सांक्षेत्रिक या प्रिज्मेटिक दिनों के अत्यन्त शक्तिशाली सातवें दिन मिलते हैं जैसे कि वे हजारों साल से मिलते रहे हैं। संख्या सात का महत्व इसलिए नहीं है कि वह ईश्वर या देव का विश्राम दिवस है, बल्कि इसलिए कि प्राचीन काल के ऋषि इस सातवें दिन प्रकृति की गुप्त शक्तियों को प्राप्त करने के लिए धार्मिक क्रिया करते थे और यह तथ्य पुरातन दार्शनिकों द्वारा संख्या सात को बहुत आदरणीय और पवित्र मानने का कारण है। पाइथागोरस के सिद्धान्त का टेट्रैक्टिस (Tetraktys) जिसका प्लेटो के अनुयायी आदर करते थे वह एक त्रिभुज के नीचे रखा हुआ चतुर्भुज था; इसमें त्रिभुज अदृश्य विशुद्धात्मा जो एक है उसके त्रियामी अस्तित्व को दर्शाता है और इसको इतना पवित्र माना गया कि पूजन-स्थान के दीवारों के बाहर इसका नाम लेना मना था (Isis II, 418-419)।

भारत के इतिहास के पुरानी कथाओं में वर्णन है कि दो राजवंश जो अब समय की रात्रि में गायब हो चुके हैं, इनमें से पहला राजवंश जो सूर्यवंश कहलाता था, उसने अयोध्या में शासन किया दूसरा चंद्रमा का वंश जिसने प्रयाग में शासन किया। बाद में इन राजाओं को देवता मान लिया गया तथा मृत्यु के बाद सूर्य और चंद्र देवों में रूपांतरित कर दिया गया। उनकी पूजा उस महान आदिम विश्वास का सबसे पहला नैतिक पतन था, जिसमें सूर्य और उसकी ज्वलंत जीवनदायी किरणों को, जीवन और मृत्यु के स्वामी की सार्वभौमिक अदृश्य उपस्थिति के उचित प्रतीक के रूप में याद किया जाता था या माना जाता था। (Isis II, 437-38)।

पुराने समय में बेबीलोन उस रास्ते में पड़ता था जिससे हिन्दू लोगों के प्रवास की महान धारा चलती थी और बेबीलोन के लोग उनके द्वारा लाभान्वित हुए। ये खल्दी लोग चन्द्र देवता के उपासक थे। इस तथ्य से हम यह आंकलन कर सकते हैं कि अक्कादि लोग चन्द्रवंश के राजाओं की प्रजाति के थे जिनको भारतीय प्रथा में प्रयाग में राज्य करते हुए बताया गया है। वो लोग ड्यूस ल्यूनस या चन्द्र देव के तीन कलाओं को त्रिदेव के रूप में मानते थे और चौथे के साथ पूरा करते हुए, तथा उत्तरोत्तर क्षीण होते हुए अंतिम लोप को चन्द्रदेव की मृत्यु का प्रतीक माना गया (Isis II, 48)।

कुर्द लोगों का एक कबीला अपनी अग्नि पूजा की आदतों के लिए जाना जाता है। सूर्योदय और सूर्यास्त के समय घुड़सवार उतरते हैं और सूर्य की तरफ धीरे से एक प्रार्थना करते हैं। जबकि हर एक अमावस्या के दिन वे पूरी रात एक रहस्मय अनुष्ठान करते हैं (Isis II, 630)।

ज्योतिषीय प्रतीक में चंद्रमा व्यक्तित्व (personality) या जीवात्मा (soul) है, इसके विपरीत, सूर्य अंतरीय वैयक्तिता (inner Individuality) का प्रतीक है।

भौतिक घटना प्रायः नैतिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक दशाओं को प्रतिबिंबित करती है। सूर्य ग्रहण किसका प्रतीक हो सकता है? सूर्य का भौतिक ग्रहण होता है जब चंद्रमा पृथ्वी और सूर्य के बीच सीधे आता है और सूर्य के प्रकाश को काट देता है। हम चंद्रमा को एक शिष्य या किसी अन्य की तरह लें जो सत्य के प्रकाश को परावर्तित करता है, और उसको अपने सह-जीवों तक पहुंचाता है। सत्य के प्रकाश का प्रतीक सूर्य को मानें। अपने विकास के स्तर के अनुसार वह व्यक्ति अधिक या कम प्रकाश परावर्तित करेगा। जब तक वह अवैक्तिक रुप से प्रकाश को परावर्तित करने के कार्य में निष्ठापूर्ण है, वह अज्ञान का अंधकार हटाते हुए मानवता की सेवा करता

है। किन्तु जब वह स्वयं अपने व्यक्तित्व को आगे लाने का प्रयत्न करता है, स्वयं को ऊंचे पीठासन पर रखकर लोगों का ध्यान शिक्षाओं के बजाय अपनी ओर मोड़ता है, तो वह स्वयं को अपने अनुयायिओं तथा सत्य के प्रकाश के बीच रख देता है, जिसके कारण एक नैतिक और आध्यात्मिक ग्रहण हो जाता है। जो अंशतः भ्रमित होते हैं उनके लिए आंशिक ग्रहण होता है, किन्तु जो लोग उसके बहकावे में पूर्णतया आ जाते हैं उनके लिए पूर्ण ग्रहण होता है। कुछ देर बाद सूर्य अपनी चमक को पुनर्स्थापित करते हुए चंद्रमा की पकड़ से बाहर आ जाता है, और उसके कोरोना की आभा के सामने चंद्रमा फिर से एक अंधेरा तथा मलिन छाया मात्र रह जाता है। चंद्रमा को जबर्दस्ती हटना पड़ता है जिससे एक बार फिर से सूर्य की जीवनदायिनी किरणें बिना अवरोध के चमकें। उसी प्रकार स्वार्थपरायण व्यक्ति जिसने सत्य के सूर्य को अवरुद्ध करने का प्रयास किया था अंततः बेनकाब हो जाता है और उसको हट जाना ही पड़ेगा।

एक दूसरे रुपक में देखें – मनुष्य के व्यक्तित्व को चंद्रमा का प्रतीक मानें और अमर जीवात्मा को सूर्य का प्रतीक। अधिकांश मनुष्य अपनी निम्न प्रकृति द्वारा उच्च प्रकृति का आंशिक ग्रहण झेलते हैं। जब व्यक्तित्व पूर्णतया बेकार हो जाता है, जैसा एक पूरी तरह भौतिकवादी तथा सम्पूर्ण स्वार्थी व्यक्ति के मामले में होता है, तब उसके लिए नैतिक स्तर पर पूर्ण ग्रहण होता है और उसका व्यक्तित्व उसके जीवात्मा द्वारा त्याग दिया जाता है। जब व्यक्तित्व दिव्य प्रकृति से मार्गदर्शन लेना बंद कर देता है तब वह नष्ट हो जाता है। हमें अपने व्यक्तित्व को इतना शुद्ध करना चाहिए कि जिससे वह अन्दर के सूर्य (उच्चतर स्व) के लिए स्पष्ट प्रतिबिंबित सतह बना रहे, न कि अन्दर के प्रकाश को अवरुद्ध करे।

प्रायः एक सम्पूर्ण प्रजाति के सूर्यग्रहण की घटना देखी जाती है जब व्यक्तित्व, अंतरीय प्रकाश को अवरुद्ध करता है, जैसा चौथी या अटलांटियन प्रजाति के साथ हुआ जो स्वयं अपनी मूर्तियों की पूजा करते हुए अत्यंत भौतिकवादी तथा विषयी हो गए थे। यह नैतिक पतन जल-प्रलय लाया और "बड़ा महाद्वीप" डूब गया।

ब्लावत्सकी लिखती हैं कि एक गुप्त "प्रथा" के अनुसार जब आध्यात्मिक सूर्य का ग्रहण होता है तब ऐसा डूबना होता है (SD II, 250 fn.)।

संदर्भ सूची

1. Helena Petrovna Blavatsky SHE BEING DEAD YET SPEAKETH and Twelve other Articles (Articles: LE PHARE DE L'INCONNU and The Number Seven) –published by Theosophy Company (India) Private Ltd., Bombay.
2. Isis Unveiled by HPB – Published by TPH Adyar, Chennai – First Edition Reprint 2006
3. The Secret Doctrine by HPB – Published by TPH Adyar, Chennai – Seventh (Adyar) Edition 1979 (3 Vols.), 1st Reprint 1987.
4. The Mahatma Letters to A. P. Sinnett (chronological edition) published by TPH Adyar - First Edition 1998, First Reprint 2003.
5. Occult powers in Nature and in Man by Geoffrey Hodson – Published by TPH Adyar, Chennai
6. Occultism, semi-occultism and pseudo-Occultism by Annie Besant – Published by TPH Adyar, Chennai
7. Talks on the Path of Occultism (Vol. I and III) by Annie Besant and C. W. Leadbeater – Published by TPH Adyar, Chennai
8. The Way of Wisdom by N. Sri Ram – Published by TPH Adyar, Chennai
9. Light on the Path by M.C. – Published by TPH Adyar, Chennai

10. A Message to Members of T. S. from an Elder Brother – Published by TPH Adyar, Chennai
11. The Everything Answer Book: How Quantum Science explains love, death, and meaning of Life – by Amit Goswami
12. A Study in Consciousness by Annie Besant – Published by TPH Adyar, Chennai
13. Theosophical Encyclopedia – Published by TPH, Philippines
14. A Blavatsky Quotation Book – compiled by Winifred A. Parley – Published by TPH Adyar, Chennai
15. Raja-Yoga, or OCCULTISM (Article;Thoughts on the Elementals) – H.P.Blavatsky, published by Theosophy Company (India) Bombay
16. The Key to Theosophy by H.P.B., published by Theosophy Company (India)
17. Philosophy of the Bhagavad Gita by T. Subba Row – Published by TPH Adyar, Chennai
18. A Book of Quotations from Robert Crosbie - published by Theosophy Company (India)
19. Meditation on the path and its qualifications by Annie Besant– Published by TPH Adyar, Chennai
20. Practical Vedanta by Swami Vivekananda (published by Advait Ashrama, Kolkata)

21. Devas and Men – A compilation by the Southern Centre of Theosophy Robe, South Australia – Published by TPH Adyar, Chennai.
22. HPB Teaches -An Anthology (Article: What is Truth?)– Published by TPH Adyar, Chennai
23. The Wisdom of the Upanishads by Annie Besant– Published by TPH Adyar, Chennai
24. The Mediator by C. Jinarajadasa– Published by TPH Adyar, Chennai
25. SPACE, TIME and SELF – E. Norman Pearson– Published by TPH Adyar, Chennai
26. The Voice of the Silence by HPB – Published by TPH Adyar, Chennai
27. Thus Have I Heard – B. P. Wadia (published by Theosophy Company (India) Private Ltd., Bombay.
28. The New Humanity of Intuition (article: Theosophy and Culture) – C. Jinarajadasa – Published by TPH Adyar, Chennai
29. The Essential Rumi – translated (into English) by Coleman Bark, publisher: Castle Books.
30. Five Years of Theosophy - H.P.Blavatsky
31. The Upanishads (Brihadaranyaka and Chandogya)
32. The Science of Yoga (The Yoga Sutras of Patanjali) by I.K.Taimini– Published by TPH Adyar, Chennai

33. Meditations - J. Krishnamurti (published by Krishnamurti Foundation of India)
34. Meditation – its Practices and Results by Clara M. Codd – Published by TPH Adyar, Chennai
35. Hints on the study of The Bhagavad Gita by Annie Besant– Published by TPH Adyar, Chennai
36. The Bhagavad Gita
37. The Heart Doctrine by Annie Besant – Published by TPH Adyar, Chennai
38. Notes on The Bhagavad Gita – W. Q. Judge – published by Theosophy Company (India) Private Ltd., Bombay
39. Theosophical Glossary – published by Theosophy Company (India) Private Ltd., Bombay
40. Living Theosophy by John Algeo – Adyar Pamphlets New Series No. 1
41. The Bible
42. The Heart Doctrine by W. Q. Judge – published by Theosophy Company (India) Private Ltd., Bombay.
43. Seven Great Religions by Annie Besant – Published by TPH Adyar, Chennai
44. The Brotherhood of Religions by Sophia Wadia (published by Asian Book Trust in association with Theosophy Company -India)

45. Studies in "The Secret Doctrine" by B.P. Wadia–published by Theosophy Company (India) Private Ltd., Bombay
46. The Light of Asia by Edwin Arnold – Published by TPH Adyar, Chennai
47. Letters from The Masters of the Wisdom (First and Second Series) by C.Jinarajadasa –Published by TPH Adyar, Chennai
48. Practical Occultism by H.P.B. – Published by TPH Adyar, Chennai
49. At the Feet of the Master – Published by TPH Adyar, Chennai
50. The Cloud of Unknowing
51. The Theosophist March 2015, April 2015 ,May 2015,June 2015, July 2015,August 2015
52. The Secret Doctrine Volume III
53. The Supreme Splendour by Geoffrey Hodson –Published by TPH Adyar, Chennai
54. Daily Meditations by Katherine A. Beechey – Published by TPH Adyar, Chennai
55. The Riddle of Life by Annie Besant – Published by TPH Adyar, Chennai
56. The Path of Discipleship by Annie Besant – Published by TPH Adyar, Chennai

57. Theosophy and Science – pamphlets published by T.S. in America and Australia
58. Ancient Wisdom and Modern insight by Shirley Nicholson– Published by TPH Adyar, Chennai
59. Science and the Sacred by Ravi Ravindra–Published by TPH Adyar, Chennai
60. Esoteric Christianity by Annie.Besant–Published by TPH Adyar, Chennai
61. Albert Einstein His Human Side- by Swami Tathagatananda (published by The Vedanta Society, New York
62. Esoteric Instructions by H.P.B. – Published by TPH Adyar, Chennai
63. "Because–" for the children who ask why– –published by Theosophy Company (India) Bombay
64. The Theosophical Movement - May 2014, May 2015, July, 2015, February 2019, April 2021, May 2022, November 2022, May 2023, July 2023, October 2023, issues

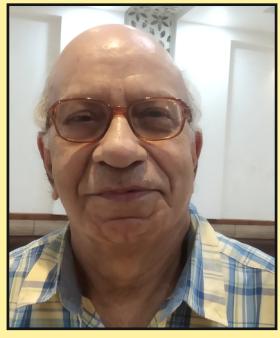

लेखक का परिचय

श्री उमा शंकर पाण्डेय रुड़की विश्वविद्यालय (वर्तमान में भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, रुड़की) से इंजीनियरिंग की स्नातक डिग्री लेकर भारतीय रेलवे इंजीनियरिंग सेवा में कार्य करते हुए अपर महानिदेशक के पद से सेवामुक्त हुए। वह थिऑसोफिकल सोसाइटी के आजीवन सदस्य तथा अंतर्राष्ट्रीय वक्ता हैं। वह सोसाइटी की भारतीय शाखा के राष्ट्रीय प्रवक्ता, काउंसिल के सदस्य, तथा कार्यकारी समिति के सदस्य के रुप में कार्य करते रहे हैं। वह उत्तर प्रदेश तथा उत्तराखंड फेडरेशन के वर्तमान अध्यक्ष भी हैं।

वह देश के कई लाजों में और विदेशों में थिऑसोफिकल विषयों पर व्याख्यान देते हैं और अध्ययन शिविरों का संचालन करते हैं तथा राष्ट्रीय/अंतर्राष्ट्रीय ऑनलाइन गोष्ठियों/कार्यक्रमों में भी योगदान करते हैं। थिऑसोफिकल विषयों पर उनके लेख अंग्रेजी और हिन्दी की पत्रिकाओं जैसे '***The Theosophist***', '***The Indian Theosophist***' तथा '***धर्मपथ***' में छपते रहे हैं। उनके लेखों में थिऑसोफिकल शिक्षाओं की गहरी समझ झलकती है। उनके ऐसे 21 हिंदी में लेखों का एक संकलन ***थिऑसोफी के आयाम*** शीर्षक तथा अन्य 25 अंग्रेजी में लेखों का एक संकलन ***Theosophical Blooms*** शीर्षक पुस्तकों में पहले प्रकाशित हुए हैं। यह ***ब्रह्मविद्या के मोती*** शीर्षक की पुस्तक उनके हिन्दी के लेखों में से चुने हुए 21 अन्य महत्वपूर्ण विषयों पर लेखों का संकलन है।